

Scanned by CamScanner

श्री धर्मसंघ शिच्चामग्डल-ग्रन्थमाला का षष्ठ पुष्प

वेद का स्वरूप और प्रामाग्य

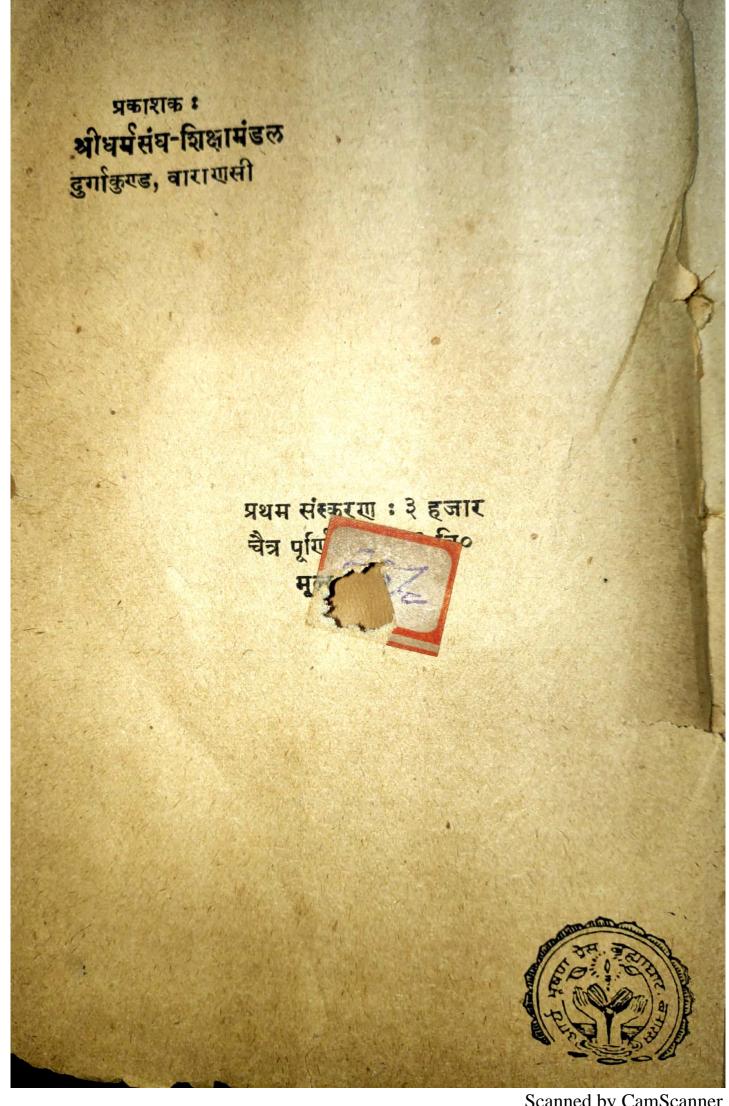
(प्रथम भाग)



श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज



श्री धर्मसंघ-शिचामगडल, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी



Scanned by CamScanner

पातिन का

मनुष्य अपने व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए भूतल पर अवतीर्ण होता है। व्यक्तित्व की पूर्णता उसके सभी पर्चों के पोष पर निर्भर है। उसके विभिन्न पद्मों में प्रमुख ये हैं - श्राध्यात्मिक, नैतिक एवं भौतिक। प्रथम एवं तृतीय का सम्बन्ध व्यक्ति से है श्रीर द्वितीय का समष्टि से । श्रयात् बैयक्तिक एवं सामाजिक उभवपचीय पूर्णता ही मनुष्य का प्राप्य है। समस्या यह है इस 'पूर्णत्व' की प्राप्ति के लिए मनुष्य अपना यत किस दिशा में बढ़ाये ? इस प्रश्न क। उत्तर देनेवाले आज प्रमुख रूप में दो दल-भौतिकवादी एवं श्राध्यात्मवादी जागरूक हैं। एक दृष्ट को सर्वस्व मानता है, दूसरा 'श्रदृष्ट' को। एक अपने श्रन्वेषण, परीच्या एवं समीच् ए से प्राप्त तथ्यों को ही सब कुछ मानता है, दूसरा आप्त-वचन पर विश्वास करता है। एक 'श्राप्त-वचन' या परम्परागत विचार को 'सत्य' पर त्रावरण मानता है त्रौर कहता है कि उसे फाड़ कर नवीन त्रालोक में सत्य को निहारना चाहिए, तो दूसरें का उद्घोष है कि इम संशय, भ्रम एवं विप्रलिप्सा-ग्रस्त बुद्धि से 'सत्य' के अपने स्वरूप को पहचान ही नहीं सकते । उसके निर्णय से लिए निर्मल एवं निर्दुष्ट बुद्धिवाले त्राप्तों के वचन त्रथवा निसर्गजात शब्दराशि का ही सहारा ले सकते हैं। इस विवाद में किस मत की मान्यता स्वीकार हो श्रीर किसके सिद्धान्त व्यक्तित्व की पूर्णता के लिएकार्यान्वित किये जायं, यह एक बीहड़ समस्या है। विचार से 'दृष्ट' एवं 'श्रदृष्ट' के ऊपर श्रास्था रखनेवाली उक्त दो विचारधारात्रों में दृष्टवादी धारा के दोष बहुत स्पष्ट हैं। दृष्टवादी धारा 'ग्रर्थ' एवं 'काम' का ही परम पुरुषार्थ माननेवाली धारा है। 'श्रर्थ' एवं 'काम' के श्रर्जन में श्रपेव्हित साधन के उत्कृष्ट रूप को ग्रहण करने और अपकृष्ट रूप को त्यागने में उनके यहां एकमात्र

समाज श्रीर राजदगड का भय है। समाज एवं राजदगड के से अतिरिक्त कोई 'अह छ' सत्ता, जो दिन-रात, भीतर-वाहर एकान एव समाध सर्वत्र व्यापक एवं साची है, कर्मानुरूप फलकी व्यवस्थापिका है, है ही नहीं। फल यह होता है कि कभी भी तृप्ति न प्रदान करनेवाले 'अर्थ' एवं 'काम' जैसे पुरुषार्थों की पूर्ति में निसर्गतः प्रवृत्त रागांव मनुष्य समाज एवं राजदंड से बचकर विजन में मन में साधकतम अपकृष्ट उपाय को पकड़ सकता है श्रीर पकड़ता है श्रीर उस श्रपकृष्ट साधन के प्रयोग का परिणाम समाजको लच्चित होता है, पर उस बहिमुंख एवं स्थूल द्रष्टा समाज या राजव्यवस्था को उसका ज्ञान कैसे हो ? चर-विमाग की भी शक्ति परिमित है । सबसे बड़ी बात यह है कि स्वयं समाज एवं राज-कर्मचारी भी तो अर्थ एवं काम के उपासक होंगे। वे ही क्यों किस भय से लाभ-प्रद मार्ग का प्रतिबन्ध करेंगे ! उन्हें किस समाज एवं राजदंड का भय होगा ? दृष्टवाद का समर्थक ऊँचा से ऊँचा सामाजिक एवं राजकर्मचारी क्यों, किस लाम के लिए अर्थ-प्रद अपकृष्ट मार्ग का रास्ता रूँधेगा ? कहा जा सकता है व्यवस्था के लिए। प्रश्न है व्यवस्था का किस पुरुषार्थ या तत्साधन में अन्तर्भाव है ? व्यव-स्था का 'श्रर्थ' या 'काम' में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, अतः उसे अर्थ एवं काम के साधन में ही अन्तर्भूत करना पड़ेगा। समाज या राजव्यवस्था समान रूपसे त्रार्थिक एवं कामसम्बन्धी सर्वसाधारण सौविध्यप्रदायक प्रबन्ध के लिए व्यवस्था करता है। इस प्रकार व्यवस्था का अन्तर्भाव साधन में हो सकता है। पर कथनी एवं करनी में महान् अन्तर दिखायी देता है। अर्थ एवं काम के उपासक विश्व के सामने राय लीजिये, व्यवस्था श्रीर उसके फलस्वरूप मानवता के लद्द्य के बदले श्रव्यवस्था एवं पाशविकता का नग्न-ताएडव दिखाई पड़ेगा। अर्थ एवं काम के परम भक्त पश्चिमी राष्ट्र किस प्रकार विश्वको निगल जाने के लिए श्रपनी वैज्ञानिक-रदनावलीको साधता जा रहा है, यह किसीते तिरोहित नहीं है। निष्कर्ष यह है कि दृष्ट्यादी धारा से कभी भी

अवश्य-प्राप्य सुख एवं शान्ति की सर्वसाधारण प्राप्ति सम्भव नहीं है। जबतक मनुष्य का हाथपाँव ही नहीं, बल्कि मन भी अपकृष्ट साधनों का प्रयोग करते समय 'श्रदृष्ट-शक्ति से नहीं डरेगा, तबतक शान्ति, सुख एवं सुव्यवस्था स्वप्न ही है।

इस प्रकार अष्टवादी धाराके ही विचार मानवीय व्यक्तित्व-विकास के साधन हो सकते हैं—यह निश्चित है। अह एवादी धारा के अन्तर्गत भी अनेकानेक प्रभेद हैं, जो अपने-अपने आत-जनप्रणीत प्रन्थोंके अनुसार जीवनयात्रा करने में श्रेय एवं प्रेय की प्राप्ति, व्यक्तित्व की पूर्णता स्वीकार करते हैं। परन्तु एक 'वेद' को छोड़कर शेष सभी आत-वचन ऐतिहासिक पुरुषों से बुद्ध-पूर्वक प्रणीत हैं। बुद्धपूर्वक प्रणीत प्रन्थ बौद्धक-दोषानुषक्त हो सकते हैं, अतः उनकी ऐकान्तिक सर्वमान्यता सिद्ध नहीं हो सकती। मान लिया जाय कि उनकी बुद्धि निर्मल भी हो, तो नैर्मल्य-साधक तत्त्रों की अवगति के लिए उन आचायों को किसी अपिरफेय-निर्देश की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अन्ततः किसी अपीरुषेय-निर्देश की ही स्थित माननी होगी। भारतवर्ष का 'वेद' ऐसा ही अपीरुषेय निर्देश हैं, जिसके विचारालोक में जीवन-यात्रा करनेवाले का व्यक्तित्व सर्वाङ्गीण पूर्णता का लाभ कर सकता है।

एक लम्बे समय से इस 'वेद' पर विभिन्न व्याख्यात्रों द्वारा पक्वि-पक्पूर्वक विचार होता चला त्र्या रहा है। यास्क ही नहीं, यास्क से भी पूर्व के वेद व्याख्याकारों का उल्लेख 'निरुक्त' के दैवतकाण्ड में उपलब्ध होता है। यास्क एवं सायण के बीच एक लम्बा व्यवधान लिखत होता है। हाँ, स्कंदस्वामी जैसे कुछ विचारक यत्र-तत्र भलक जाते हैं। इसके पक्ष से विचार एवं व्याख्या का ऐसा त्रभाव उसकी निविवाद मान्यता की सार्वित रिथति पर प्रकाश डालता है। हाँ, समय-समय पर श्रीतमार्ग के विरोधी एवं सामयिक सम्प्रदायों द्वारा तिरोधान त्र्यवस्य हुत्रा है, जिसका पता गुप्तवंशीय शिला-लेखों से चलता है। उनमें

यहाँ के उद्धार की बात त्राती है। वेद के सम्बन्ध में पन्न-विपन्नपूर्वक विचार का धुश्राँधार श्रारम पश्चिमी भौतिकवादी सम्यताके चतुर्दिक प्रसार होने पर अधिक हुआ है। तब से वेद की जो विभिन्न व्याख्याह सामने श्रायी हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—(१) श्रीतस्मात-मान्यता को ध्यान में रखकर सायग्रमार्गी श्रास्तिक व्याख्या (२) श्रार्यसमाजी व्याख्या (३) भाषावैज्ञानिक दृष्टि से पाश्चात्य-व्याख्या (४) जयपुरीय भारतीय वैज्ञानिक पद्धति की व्याख्या (५) कुमार स्वामी की प्रतीक वादी व्याख्या (६) अरविंद की व्याख्या। आदि। इन समी व्याख्यात्रों में सम्पूर्ण श्रौत-स्मार्त-मान्यता-समन्वयी व्याख्या सायण को ही है। इस प्रकार जगत-कल्याण के लिए 'वेद' का महत्त्व खाप उसको सद्व्याख्या का निर्णय त्रावश्यक है। प्रस्तुत ग्रंथ में वेद-प्रामाण साधन के विषय में इन सभी विचारों का निष्पच अध्ययन और उनकी समीचा की गयी है। आस्तिक जन यदि इस प्रयास से अपना थोड़ा भी हित-पथ निर्णीत कर सके, तो श्रद्धेय चरण स्वामीजी का श्राशीर्वा सार्थक होगा।

—श्री स्वामी महेश्वरानन्द

वाराण्सी चैत्रपूर्णिमा २०१६ (पूर्वाश्रमके कवितार्किकचक्रवर्ती श्री महादेव शास्त्री पाण्डेय)



सम्पादकीय निवेदन

पूज्य स्वामीजी की प्रस्तुतपुस्तक उनकी श्रात्यद्भुत सर्वतंत्र स्वतन्त्र प्रितिमा की एक मलक है। फिर भी हम जैसों के लिए इसका संपादन श्रीर प्रूफ संशोधन करना भी टेढ़ीखीर हो रहा है। उसमें भी जिस त्वरा से, एक सप्ताह के भीतर इसे निकालना पड़ रहा है, वह भी विषय की गंभीरता को देखते हुए श्रभूतपूर्व है। केवल महाराजश्री की श्राज्ञा का पालनमात्र समम्कर हम लोगों ने यह साहस किया है। श्रतएव इसमें त्रृटियों का न होना या कम होना भी श्राश्चर्य ही कहा जायगा। फिर भी हमें दढ़ विश्वास है कि गुर्गिकपच्चपाती विद्वज्जन उन्हें हमारा ही प्रमाद मान सुधार लेने की कृपा करेंगे।

धर्मसंघ शिक्तामण्डल दुर्गाकुण्ड, वाराणसी चैत्रपूर्णिमा, २०१६ विक्रमी

हरिहरनाथ त्रिपाठी गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

अ नुक्र म

	~ 0	-9	-	
१. वे	दा का	अपा	रुष	पता

- २. वेदों का स्वतःप्रामाण्य
- ३. समस्त वेद का प्रामाण्य
- ४. विध्यर्थ भावना-विचार
- ५. ऋर्थवादों का प्रामाएय

286



वेद का स्वरूप और प्रामाण्य

वेदों की अपौरुषेयता

: 9:

इस व्यवहारभूमि संसार में रहनेवाले सभी प्राणियों को कुछ-न-कुछ व्यवहार करना ही पड़ता है। सभी व्यवहार खपने विषय-ज्ञान की अपेचा रखते हैं, अतः प्राणिमात्र को व्यवहार के लिए व्यावहारिक विषयों का ज्ञान अपेचित होता है। ज्ञान के लिए ही प्राणियों को प्रमाणों की आवश्यकता होती है। यथार्थ (सत्य) ज्ञान के असाधारण कारण को 'प्रमाण' कहा जाता है। नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः ये 'प्रत्यच-प्रमाण' कहे जाते हैं।

यद्यपि कुछ लोग केवल एक प्रत्यत्त ही प्रमाण मानते हैं,
तथापि विज्ञजनों में प्रत्यत्त, अनुमान, आगम आदि अनेक प्रमाण
माने जाते हैं। प्रत्यत्त और अनुमान तो ऐसे हैं कि जिन्हें बिना
माने पशुओं का भी व्यवहार नहीं चल सकता। पुचकारते हुए,
हाथ में हरी-हरी दूर्वाओं को लिये हुए पुरुष की ओर हितैषी सममकर पशु प्रवृत्त होता है और दण्ड को लिये डाँटते हुए पुरुष को
देखकर पशु पलायन करने लगता है। ऐसे स्थल पर दण्ड में अनिष्टसाधनता का ज्ञान अनुमान से ही हो सकता है। अनुमान का
आकार इस प्रकार होगा— "अयं दण्डः मदनिष्टकरः, दण्डत्वात्,
पूर्वीनुभृतदण्डवत्।"

इस तरह प्रत्यत्त एवं अनुमान से पशु भी व्यवहार करता है। यह मनुष्य की विशेषता है कि वह शास्त्र से भी व्यवहार करता है। मनुष्य में भी दो पत्त दिखाई देते हैं-शास्त्रनिष्ठ एवं तर्कनिष्ठ। शास्त्रनिष्ठ-शास्त्रों में श्रद्धा रखनेवाले तर्क को केवल व्यामोह बतलाते हैं और तर्क्षनिष्ठ-गुद्ध तार्किक शास्त्र को ही ज्यामोह बतलाते हैं। शास्त्रनिष्ठ तर्क को सर्वथा न मानते हों—ऐसी बात नहीं; किन्तु उनका कहना यही है कि शास्त्र स्वतः प्रमाण हैं। अनुकूल तर्क मिल जाने पर उसका बल और बढ़ जाता है। तर्क को अप्रतिष्ठा और ज्यामोहकता तर्क से ही सिद्ध है। प्रत्यच्च है कि किसी तार्किक ने बड़े प्रयत्न से किसी पदार्थ को सिद्ध किया। दूसरा तार्किक, जो पहले से कहीं प्रखर है, पहले तार्किक के तर्कों को तर्काभास सिद्ध कर देता है। तीसरा दूसरे के तर्क को भी तर्काभास सिद्ध कर देता है। तीसरा दूसरे के तर्क को भी तर्काभास सिद्ध कर देता है। अभियुक्तों का कहना है— "यत्ने नानु मितोऽप्यंश कर तर्वा है। अभियुक्त रेरन्येरन्यथै वोपपाद्यते॥" इस प्रकार कतिपय स्थलों में तर्कों की अप्रतिष्ठा और ज्यासोहकता देखकर उन पर विश्वास करना कठिन हो जाता है।

भले ही तर्कों की व्यामोहकता का तर्क भी अप्रतिष्ठित एवं व्यभिचारी हो, परन्तु तर्क पर पूरा विश्वास करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। तर्क नष्टों का यह मत है कि अनुकूल तर्क मिलने पर ही शाख बलवान है और शाख की अनुकूलता होने पर तर्क की बलवत्ता बढ़ जाती है। दोनों ही मतों में बलवत्ता का कारण शेषशिभाव (अज्ञाज्ञिभाव) ही है। जो शेषी है अर्थान् प्रधानतया स्वतन्त्र है, वह बलवान है और जो शेष (गोण) है, वह निर्वल है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त दोनों पत्तों में कीन-सा पत्त श्रेष्ठ है १ प्रेत्तावान (विचारक) सहज में ही समस्त सकते हैं कि तर्क को अवश्य ही अपने प्रामाण्य के लिए दूसरे प्रमाण की अपेता होती है। शाख की स्थिति भिन्न है। शाख को अपनी बलवत्ता के लिए भले ही तर्क की अपेता हो, परन्तु अपने प्रामाण्य के लिए उसे तर्क की अपेता हो, परन्तु अपने प्रामाण्य के लिए उसे तर्क की अपेता हो, परन्तु अपने प्रामाण्य के लिए उसे तर्क की अपेता हो, परन्तु अपने प्रामाण्य के लिए उसे तर्क की अपेता हो, परन्तु अपने प्रामाण्य के लिए उसे तर्क की अपेता हो, परन्तु अपने प्रामाण्य के लिए उसे तर्क की अपेता नहीं है। यदि ऐसा न हो, तो शाख 'शाख' ही नहीं रह सकेंगे। पुरुषों के

भेद से तर्कों का भेद होता है, परन्तु पुरुषों के भेद से 'शास्त्र' का भेद नहीं हो सकता। अन्यथा शास्त्र और तर्क दोनों एक ही हो जायँगे – या तो सभी विषय विवादमस्त होंगे या सभी निर्विवाद ही होंगे। अपने-अपने तर्क के अनुसार सभी तत्त्व-निर्णय में प्रवृत्त होंगे, फिर तो शिचामार्ग का उच्छेद ही हो जायगा। अतः तर्क-रायण के मत में पुरुषार्थसिद्धि असंभव है। इसके विपरीत शास्त्र-परायण पुरुष अपने अधिकार के अनुसार शास्त्रोक्त सन्मार्ग पर आरूढ़ होकर शास्त्रसिद्ध सभी पुरुषार्थों को प्राप्त कर सकेगा।

तार्किक यहाँ बहुत शीघ ही तर्क करेगा कि क्या और कौन शाख है, जिसके अनुसार चलने से फलसिद्धि निश्चित है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि शास्ता का सानुमह बचन ही शाख है । शिष्य के, जिस पर शासन करना है, अनुमह के अनुकूल शासक (शास्ता) का बचन ही शाख है । प्रजा के इहलोक तथा परलोक के अभ्युदय एवं परम कल्याण प्राप्त कराने में कारण और सहायक सर्गाश या तत्ति द्वियों के पूर्णरहस्यज्ञ हितेषियों के वचन ही शाख हैं। यह परिभाषा यद्यपि सर्वमान्य-त्ती ही है; तथापि स्पष्ट निर्णय के लिए और भी प्रश्न उठते हैं कि कौन शासक है, जिसके सानुमह बचन को शास्त्र माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि जो विश्व का रचियता है, वही विश्व का शासक है और वही विश्व के रहस्य को जाननेवाला विश्व पर अनुमह करता है। अतः उस सर्वज्ञ, विश्व-रचयिता के विश्वानुमहक वचन ही शास्त्र हैं। इसलिए शास्त्रपायण की पुरुषार्थ-सिद्धि स्पष्ट ही है।

फिर प्रश्न होता है कि विश्व-रचयिता ही कौन है ? इसका उत्तर है—जो कहता है "मैंने विश्व को रचा।" 'मैंने विश्व को रचा' जो यह कहता है, यदि वही विश्व-रचयिता है, तो फिर प्रश्न होता है कि ऐसा कौन है और वह कहाँ रहता है ? कहा जा सकता

है कि शास्त्रों में ईश्वर ही ऐसा कहता है। परन्तु पहले ईश्वर का ही क्या ठिकाना ? वह ता कहीं उपलब्ध ही नहीं। ठीक है, परन्त क्या कोई ऐसा भी सर्वज्ञ तथा सभी देश-कालों को जाननेवाला है, जो कह सके कि ईश्वर कहीं भी नहीं है ? शशश्रुङ्ग और खपुष्प के कोई प्राहक-प्रमाण नहीं हैं, परन्तु ईश्वर में तो शास प्रमाण हैं। सर्वत्र केवल प्रत्यच प्रमाण ही प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि वचनमात्र अप्रामाणिक हों, तब तो फिर 'केवल प्रत्यच ही प्रमाण हें इस वचन की भी क्या महत्ता रही ? जब सभी वचन अप्रामाणिक हैं, तो वचन होने के नाते यह भी अप्रामाणिक ही है। यह वक्ता की स्वीकृति के भी विरुद्ध है, परन्तु उसके मत में तो वचनमात्र अप्रामाणिक है। दूसरे लोग भले ही उसकी उक्ति को प्रमाण मानें, फिर भी वह अपनी स्वीकृति के विरुद्ध अपने वचन को प्रमाणभूत सममकर ही दूसरों को बोध कराने के लिए प्रयुक्त करता है। इसके अतिरिक्त तर्क को भी प्रामाण्य मानना ही पड़ता है। बिना उसके दूसरों के संशय, विपर्यय तथा अज्ञान का बोध ही कैसे हो सकता है ? दूसरों के संशयादि मिटाने के लिए वचन का प्रयोग आवश्यक होता है। अतएव विप्रतिपत्ति या जिज्ञासा के बिना शास्त्रार्थ प्रारम्भ ही नहीं होता। यदि बिना सममे ही जिस किसीके प्रति 'केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण हैं यह कह दिया जाय, तो उन्माद ही सममा जायगा। अतः कहना पड़ता है कि इस वचन का प्रयोग जो संदेह करनेवाले, भ्रान्त तथा अज्ञानी हैं, उन्हींको बोध कराने के लिए है।

अतः जिज्ञासा या वित्रतिपत्ति तथा उनके मूल अज्ञान, संशय आदि के ज्ञान के लिए या तो मुख की आकृति-विशेष से अनुमान करना पड़ेगा अथवा 'मुक्ते संशय है' इस तरह के जिज्ञामु या

विप्रतिपन्नों के वचनों का सहारा लेना होगा। यदि अनुमान तथा वचनों को प्रमाण न माना जाय, तब तो उनके संशय आदि ही ज्ञात नहीं हो सकते, क्योंकि जिज्ञासा, विप्रतिपत्ति तथा संशय आदि ऐसे पदार्थ हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रमाण से दूसरों को कथमपि बोध हो ही नहीं सकता। अतः 'अनुमान आदि प्रमाण नहीं, प्रत्यत्त ही प्रमाण हैं यह कथन ही तब तक नहीं बन सकता, जब तक अनुमान या वचनों का प्रामाण्य न स्वीकार किया जाय। भोजन आदि अत्यावश्यक कार्यों में भी इष्टसाधनता का ज्ञान आवश्यक है। इसके लिए पशुओं तक को अनुमान मानना पड़ता है। अनुमान का स्वरूप यों है— "इदं भोजनं मदिष्टसाधनम्, भोजनत्वात् , पूर्वानुभूतभोजनवत् ।" अर्थान् इस भोजन से मेरा इष्ट होगा, क्योंकि यह भोजन है। पूर्वानुभूत भोजन ने इष्टसाधन किया ही था। जगत् के ही ऐसे बहुत-से व्यवहार हैं, जहाँ अनुमान और लेख के बिना किसी भी तरह काम नहीं चल सकता। पिता, पितामह की सम्पत्ति के भागी पुत्र आदि होते हैं। पर अधिकार-सिद्धि के लिए जानना और सिद्ध करना पड़ता है कि हम अमुक वंश के अमुक-अमुक के पुत्र या पौत्र हैं। यहाँ माता आदि के वचनों के अतिरिक्त और क्या प्रमाण हो सकता है ? जैसे घट के होने में प्रमाण आवश्यक है, वैसे ही उसके न होने में भी उसकी श्रावश्यकता है। इसी प्रकार परमेश्वर के न होने में भी प्रमाण की आवश्यकता है। शशशृङ्ग आदि के न होने में प्रमाण की अनु-पलिब्ध कारण कही जा सकती है, परन्तु ईश्वर में शास्त्र प्रमाण के रूप में विद्यमान है। फिर 'ईश्वर कहीं नहीं है' यह कहना कैसे संगत हो सकता है ?

यदि यह कहा जाय कि उसी शास्त्र पर तो विचार है कि वह कौन है और कहाँ मिलता है ? इसका उत्तर यही है कि वह वेद है

श्रीर भारतवर्ष में सम्यक् प्रख्यात है। 'ठीक है, वेद भारत में प्रख्यात तो अवश्य है, पर उसे मानता कौन हे ?' यह तो ऐसी विचित्र बात है कि जिसे खोजते हैं, पर प्राप्त होने पर मानते नहीं। यहाँ यह शंका अवश्य उठती है कि जैसे वेद शास्त्र हैं, वैसे ही श्रीर भी तो बहुत-से भिन्न-भिन्न देशों, जातियों तथा सम्प्रदायों के शास्त्र हैं। किर केवल वेद ही क्यों, सभी शास्त्रों को मानन चाहिए। लेकिन जब परस्पर विरुद्ध बातों का प्रतिपादन करनेवाल सभी देशों के शास्त्रों का प्रामाएय मान लिया जाय, तब फिर तर्क को अवकाश ही कहाँ रह सकता है ? यदि कोई भी शास्त्र न माना जाय, तब भी लड़कपन हुआ, क्योंकि शास्त्र माना जाय, तब तो वहीं परसेश्वर का प्रतिपादक है और उसी वेद-प्रतिपादित परमेश्वर का वचन ही वेद-शास्त्र है। परमेश्वर अनादि है, अतः उसका प्रजानुमाहक वेद-वचन शास्त्र भी अनादि है। इसमें अन्योन्याश्रय आदि दोष भी नहीं हैं।

अब रही यह बात कि भिन्न-भिन्न देशों तथा सम्प्रदार्थों के अवैदिक शाकों का भी प्रामाण्य क्यों नहीं ? इसका समाधान यह है कि यदि वे शास्त्र अर्थात् सर्वशास्ता परमेश्वर के वर्चन हैं तब निश्चय ही उनका प्रामाण्य होगा। भला शास्त्र के प्रामाण्य का अपोहन कोन कर सकता है ? सर्वरुखा, सर्वशासक के वचन ही शास्त्र हैं। जो भी ऐसे वचन हैं, वे सभी प्रमाण हैं। यह वे ऐसे नहीं है, तब तो उनका प्रामाण्य दुर्घट ही हैं। यह सभी देशों तथा सम्प्रदायों का अभिमान ऐसा ही है कि हमी धर्म-प्रथ परमेश्वर का ही बाक्य है और परमेश्वर के ही किसी अधिकारी द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। फिर भी थोड़ा-सा ही विवेर्ण करने पर विदित होता है कि जहाँ अधिकार की चर्चा न हैं।

वह परमेश्वर-वचन कैसे कहा जा सकता है। अधिकारी के भेद से शास्त्रोपदेश में भेद होना चाहिए। एक ही कर्म या एक ही ज्ञान में सभी अधिकारी नहीं हो सकते। मनुष्यों और पशुत्रों में सर्वत्र ही योग्यता और अधिकार के भेद से कर्म के भेद देखे जाते हैं। अश्व, महिष, गी, गर्म इन सभी के कमीं में पार्थक्य देखा जाता है। भोजन, पान आदि तो पशु-साधारण ही कर्म हैं, परन्तु मनुष्यता के कर्म और मनुष्यों में भी विशिष्ट-विशिष्ट समाजों की विशेषता के मूलभूत कर्म एवं ज्ञान कुछ श्रीर ही होते हैं। शास्त्रच्युत लोगों का जिसमें श्रधिकार हो, उसे शास्त्र कैसे कहा जा सकता है ? जहाँ दूसरों को बलात्कार या छदा से दूसरे शाह्यों या धर्मों से हटाकर अपने शाह्यों या मतों में मिला लेना धर्म बतलाया गया हो, वह शास्त्र कैसे कहा जा सकता है ? इन तथाकथित शास्त्रों एवं तदनुयायियों में एक-दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करके किसी तरह लोगों को फँसाना ही अपना लक्य रहता है। अपने शास्त्रों और मतों में सभी यही कहते हैं कि हमारा ही मार्ग परलोक या परमात्म-प्राप्ति का निविध्न मार्ग है, अन्य मार्गों में वड़ी ही विध्न-बाधाएँ हैं। उनके अनुसार कोई किसी देश, किसी मत, किसी जाति का क्यों न हो, इन मतों आर शास्त्रों में सभीका प्रवेश हो सकता है। जो भी कोई इन मतों में प्रवेश करने को तैयार हो, उसे उसी च्रण इनके यहाँ स्त्रीकृति मिल जाती है। अधिकार-अनिधकार की चर्चा तो इनके यहाँ है ही नहीं, किन्तु वैदिकों में तो अधिकार की पदे-पदे चर्चा देखी जाती है। ब्राह्मण के वाज-पेय आदि कर्म चत्रिय के लिए अप्राह्म हैं और चत्रिय के

राजसूय आदि कर्मों में ब्राह्मणों का अधिकार नहीं। यज्ञ-अन-

धिकारी के कानों में भी वेद-शब्द नहीं पड़ना चाहिए एसा

वैदिकों का आदेश है। फिर किसीको बलात्कार या छदा से अपने सम्प्रदाय में मिलाना कैसे संभव है ? यह वैदिकता परमेश्वा-प्रदत्त है, मनुष्यकृत नहीं। ब्राह्मण, च्त्रिय आदि द्विजाति। वेदाधिकारियों से भिन्न कोई किसी भी तरह भी 'द्विजाति' या वेदाधिकारी नहीं बनाया जा सकता। शैव भरसक वैष्णवों को शैव बना लेते हैं, वैष्णव भी भरसक शैवों को वैष्णव बना लेते हैं। त्रातः यहाँ भी शैवत्व त्रीर वैष्णवत्व मनुष्य के त्राधीन है, परन्तु वैदिकता या द्विजातित्व किसी भी प्रकार मनुष्य के अधीन नहीं हो सकते। वैदिक धर्म में ब्राह्मण चत्रिय या चुत्रिय ब्राह्मण नहीं बन सकता। किर वेदबाह्य ब्राह्मणादि बन जायँ श्रीर वैदिक हो जायँ, इसकी तो चर्चा ही क्या ? श्रतः जैसे पश्चता, मनुष्यता परमेश्वर-प्रदत्त हैं, वैसे ही द्विजातित्व और वेदाधिकार भी भगवइत्त ही हैं। हाँ, वेद और वेदानुयायी शास्त्रों ने द्विजातियों, एकजातियों (शूद्रों) तथा मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ जिन उपायों तथा धर्मों का उपदेश किया है, उन्हें अपनी-अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार जानकर चलने पर मनुष्यमात्र का कल्याण हो सकता है। यही वेदों की उदारता है। अधिकार-अनिधकार का विवेचन न करके सबका सर्वत्र अधिकार मानना उदारता नहीं, अपितु उच्छङ्खलता का पोषण है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सबका अधिकार होता है। इसलिए वेद यदि परमेश्वर-निर्मित है, तब तो उसमें सभीका समानाधिकार होना चाहिए। यदि वेद में सबका अधिकार नहीं है, तब तो वेद शास्ता का वचन कैसे हो सकता है ? यदि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में सर्वाधिकार मान्य है, तब तो वे ही शास्ता के वचन सममे जाने चाहिए। परन्तु यह

कथन असंगत है। यदि परमेश्वर-निर्मित वस्तु में सभीका समान अधिकार हो, तो फिर संसार में दाय-भाग का विचार ही उठ जाना चाहिए। तब तो हर स्त्री हरएक की पत्नी और हर पुरुष हरएक स्त्री का पित हो सकता है। 'परस्वापहरण' नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जायगी। जब सभी में सबका सत्त्व है, फिर या तो सभी परस्वापहारी हों या सभी उस दोष से रहित ही समसे जायँ। परमेश्वर-निर्मित भी मुक्ताफल में वया काक अधिकारी हो सकता है ? इसलिए अधिकार-चर्चा मिटाना उच्छुञ्जलता का ही पोषक है। विश्व-शास्ता के वेद-वचन, श्रोता-वक्ता के जो धर्म बतलाते हैं; उन धर्मों का उल्लंघन करने से दोनों को ही दण्ड मिलना अनिवार्य है। अतः वेदों में अधिकार की चर्चा उनकी शास्त्रता अर्थात् शास्ता के बचन होने का मूल है।

लौकिक-पारलौकिक कर्म, धर्म; कार्य, कारण एवं कार्य-कारणातीत परम-तत्त्व इन सबका निर्णायक होने से भी वेद ही शास्त्र है।
इन विषयों का इतना स्पष्ट और सुन्दर विवेचन अन्यत्र कहीं
भी नहीं है। इनका गाम्भीर्य भी अन्य अन्थों से अनुपमेय है।
साथ ही वर्तमान संसार में अचितित धर्मी और तत्सम्बन्धी सभी
अन्थों से आचीन होने के कारण भी वेद ही शास्ता के वचन हैं।
सभी अन्थों के देश, काल तथा कर्ता का निर्णाय उनके अनुयायियों
द्वारा ही सिद्ध है। परन्तु वेदों के निर्माण का देश-काल तथा कर्ता
कथमि निर्णात नहीं है। वेदों की अपौरुषेयता तथा अमाणता
मिटाने के लिए अटकलपच्चू अमाणों से उनके देश-काल तथा
कर्ता के निर्णाय करने का अयत्न किया गया है। संभव है,
इसका उद्देश्य भारत की आचीन संस्कृति के अभिमान को
ठेस पहुँचाना हो। सच तो यह है कि वादी-प्रतिवादीसम्भत अत्यत्त्व या अनुमान कोई भी ऐसा अमाण नहीं मिल

सकता, जिससे वेद-निर्माण का देश-काल तथा कर्ता विदित है। सके। अतः स्पष्ट है कि अनादि विश्व के अनादि शासक भग वान का विश्वानुमाहक बचन ही वेद-शास्त्र है। ऐसी स्थिति में परमेश्वर की न्यायकारिता और दयालुता ही सिद्ध होती है। यदि ऐसा न माना जाय, तो किर यही कहना पड़ेगा कि चार-पाँच हजार वर्ष पहले के जीवों के लिए परमेश्वर ने कोई कल्याण-मार्ग बतलाया ही नहीं, जिससे उसकी विषमता तथा अचतुरता प्रकट होती है।

'ऐसा भी कोई समय था, जब वैदिक-सम्प्रदाय प्रचलित न था' इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि वेदों में जिन नगरों, निद्यों तथा व्यक्तियों के नाम आते हैं. कम-से-कम उन सभीकी उत्पत्ति के पहले वेदों का न होना स्पष्ट ही है। लोक में किसी भी श्रंथ का निर्माण उसमें श्राने-बाली घटना के पीछे ही समका जाता है। व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद ही उसका उल्लेख होता है। अन्वेषकों के पास ऐसे अनेक उपाय हैं, जिनसे नगरों, नदियों तथा व्यक्तियों के समय का अनुमान किया जा सकता है। शिलालेख, ताम्रपत्र, भूगर्भ-विज्ञान आदि सभी साधनों से उक्त विषयों के ज्ञान में सहायता मिलती है। समुद्र की प्रतिवार्षिक चारता-वृद्धि के मान से गणित द्वार उसकी आयु का पता लगाया जाता है। भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक साधनों द्वारा निद्यों एवं पृथिवी तक की आयु का निर्णय किया जा चुकः है। फिर सावयव पदार्थ अनित्य होते हैं -यह तो सभीको मान्य है। इस तरह भी वेदों में जिन सावयव पदार्थी का वर्णन है, उनकी उत्पत्ति के पश्चात् ही वेद का निर्माण मानना चाहिए। लोक में यह प्रसिद्ध ही है कि व्यक्ति के उत्पन्न होने पर ही उसका नामकरण होता है। अतः चाहे समय-विशेष का निर्धारण

न भी हो, तथापि वेद की अनादिता तो किसी तरह सिद्ध ही नहीं होती।

किन्तु इन सभी शंकाओं का एकमात्र कारण है, वेद और सृष्टि के संबंध एवं वेदार्थ-निर्णय के सिद्धांतों के प्रति अज्ञान। वेदों में घटना एवं इतिहास के अन्वेषण के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि उनमें घटनाओं का अनुसरण नहीं किया गया है, अपितु किसी अंश में घटनाचक ही वेद का अनुसरण करते हैं। प्रपद्ध की सृष्टि ही वेदशब्दों के आधार पर होती है— "वेदशब्देग्यः एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।" "अत एव च नित्यत्वम्" इत्यादि स्मृति तथा सृत्रों से वेदों की नित्यता और उन्हींसे प्रपद्ध की उत्पत्ति का वर्णन स्पष्ट दिखायी देता है।

बस्तुतः किसी भी कार्य के निर्माण में निर्माता को सके ज्ञान की अपेदा होती है। घट, पट आदि पदार्थों का निर्माण करनेवालों को अवश्य ही उन पदार्थों तथा उनकी सामित्रयों का ज्ञान अपेद्वित होता है। यहाँ तक कि प्रथम अपने मन में निर्मित घट आदि को ही बाह्य सामित्रयों के द्वारा बाहर व्यक्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि समस्त प्रपञ्च निर्माता को प्रपञ्च-निर्माण के पहले उसका ज्ञान अवश्य होगा, क्योंकि बिना उसके निर्माण संभव ही नहीं। इसके साथ ही इतना और समस्त लेना चाहिए कि ज्ञान के लिए सूदम शब्द आवश्यक है। शिष्टों की यह प्रतिज्ञा है कि कोई ऐसा ज्ञान ही नहीं, जो शब्द के अनुवेध से रहित हो—'न सोऽस्ति प्रत्ययों लोके यः शब्दानुगमाहते।" अतः जब प्रपञ्च-निर्माण के पूर्व निर्माता को प्रपञ्च-ज्ञान होना आवश्यक है, तो ज्ञान के साथ सर्वप्रपञ्चवोधक शब्दों का भी होना अनिवार्य है। इस तरह सर्वस्त्रष्टा भगवान के सर्वनिर्माण का मृत्रमूत सर्वविज्ञान अवश्य ही सर्वबोधक शब्दों के साथ

ही रहा होगा। इस तरह अनायास ही सर्वज्ञ भगवान् के सर्वज्ञान के साथ अनुविद्ध शब्दरूप वेदों की अनादिता एवं उनकी सृष्टि.

हेतुता सिद्ध होती है।

भगवान् व्यास ने भी श्रपने "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यचानुमानाभ्याम्" इस सूत्र में स्पष्ट किया है। जब यह सिद्ध हो गया कि वेदशब्दों से ही परमात्मा ने विश्व का निर्माण किया, तब तो समस्त विश्वनिर्माण के भी प्रथम वेदों का अस्तित्व सिद्ध होता है। फिर इस कथन का अवकाश कहाँ रहता है कि अमुक नगरों निद्यों तथा व्यक्तियों के पश्चात् वेदों का निर्माण हुआ। प्रत्युत यही सिद्ध होता है कि अनादि वेदों में विर्णित आख्यायिकाएँ तथा व्यक्ति चाहे किसी भी देश-काल में हों या न हों, वेद अनादि ही हैं। वे घटनाओं की अपेद्या से नहीं बनाये गये। आख्यायिकाओं का तात्पर्य केवल किसी सिद्धान्त को सरलता से समभाने में ही है। जैसे लोक में किसी गणित या अन्य विषय को समभाने के लिए कित्पत आख्यायिका का आश्रयण किया जाता है, वहाँ इस आख्यायिका की सचाई या देश-काल की अपेद्मा नहीं होती, ठीक वैसे ही किसी सिद्धान्त को समभाने के लिए वेद भी कल्पित आख्यायिका का आश्रयण करते हैं। उनका तात्पर्य केवल सिद्धांतों को अवगत कराने में ही है। आख्यायिका की सत्यता या उसके देश-काल के निर्णय में कथमपि तात्पर्य नहीं है। शाब्दिकों का यह एक सिद्धांत है कि शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है, वही शब्दार्थ माना जाता है—"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।" लोक में भी यह स्पष्ट है। शत्रुगृह में भोजन के लिए बालक के पूछने पर माता कहती है—"विष् भुङ इव" अर्थात् विष खा लो। यदि इस वाक्य .का तात्पर्य विष खाने में हो, तत्र तो विष खाना इस वाक्य का अर्थ हो सकता है। परन्तु माता पुत्र के लिए विष खाने की आज्ञा

कैसे दे सकती है, यह भी एक सोचने की बात है। अतः शत्रुगृह में भोजन-निवृत्ति में ही इस वाक्य का तात्पर्य है "विषमच्रण्सहशं शत्रुगृहभोजनम्" अर्थात् विषभच्रण् और शत्रुगृह-भोजन समान हैं। उक्त वाक्य का वस्तुतः यही तात्पर्य है।

इसीलिए मीमांसकों ने स्पष्ट कह दिया कि समस्त वेदराशि का, जिसे 'आम्नाय' नाम से पुकारा जाता है, तात्पर्य केवल किया ही में है। जो वचन क्रियार्थक नहीं हैं, वे सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होंगे। अतएव मंत्रों का तात्पर्य क्रियाङ्ग द्रव्य तथा देवता के स्मरण कराने में है। अर्थवादों तथा आख्यायिकाओं का किसी विधि या निषेध की स्तुति या निन्दा में ही तात्पर्य है। यही "श्राम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् । तस्मादित्यमुच्यते" ''विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'' इन सूत्रों में दिखलाया गया है। आख्यायिका-वाक्य एवं अर्थवाद-वाक्य अवान्तर वाक्य हैं। ये विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता प्राप्त करके ही सार्थक होते हैं। विधि-त्राक्य ही महात्राक्य होते हैं। अवान्तर वाक्यार्थ यदि महावाक्यार्थ से विरुद्ध होते हों, तो अमान्य एवं अप्रामाशिक होते हैं। जैसे, "न सुरां विवेत्" (सुरा-पान नहीं करना चाहिए) इस वाक्य का अंश है-"मुरां पिबेत्।" इसका अर्थ है-'सुरा-पान करे।' परन्तु इस अर्थ का पूरे वाक्यार्थसे विरोध है, अतः यह अर्थ अमान्य है। हाँ, यदि अवान्तर वाक्यार्थ महावाक्यार्थ का विरोधी न हो, तब उस वाक्य का स्वार्थ में भी अवान्तर तात्पर्य हो सकता है। अतएव उत्तरभीमांसकों ने मन्त्र, अर्थवाद, आख्यायिकाओं के विषय में सब जगह के लिए यह निर्णय कर दिया है कि यदि इन सबका अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध न हो, तभी ये मान्य हो सकते हैं। अन्यथा उन्हें गौणार्थ ही समभना चाहिए। इन विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि

वेद-रहस्यज्ञों की दृष्टि में वैदिक आख्यायिकाओं तथा नगर, नद् एवं व्यक्तियों के उल्लेख से वेद के देश-काल-निर्णय की आशा केवल पुराशामात्र है। जब प्रमाण से उनके देश-काल तथा कर्ता का निर्णय नहीं होता और अनादि, अविच्छित्र सम्प्रदाय-परम्परा से उनका अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा है, तब उनकी अनादिता तथा अपीरुषेयता स्वाभाविक है।

वेदों से उनके देश, काल तथा कर्ता का निर्णय किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि वेद अमान्य तथा अप्रमाणभूत हैं, तब तो उनके द्वारा ज्ञात होनेवाले देश-काल तथा कर्ता भी अप्रामाणिक ही होंगे। परन्तु यदि वे प्रमाण मान्य हैं. तत्र तो उनसे ही उनकी नित्यता एवं परमेश्वर-निःश्वासरूपता भी सिद्ध है। फिर भी दोनों का समन्वय करके ही किसी अर्थ का निर्णय करना उचित होगा। अनादि परमात्मा के प्राण तथा विज्ञानभूत वेदों को सादि कहना किसी भी तरह संगत नहीं। अतः अनका केवल प्रादुर्भाव ही कहना पड़ेगा। कहीं-कहीं कुछ महामति यह भी कहने लगे हैं कि 'नित्यता का प्रतिपादन करने-वाला वचन अप्रमाण और उत्पत्ति तथा कर्ता बतलानेवाले वाक्य प्रमाण हैं।' परन्तु यह कथन निर्मूल है। हेतु-विशेष के बिना इस 'अर्धजरतीय न्याय' की सभ्य समाज में मान्यता नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि यह तर्क-सम्मत है, इसलिए मान्य है, तो उत्तर यहीं है कि यदि तर्क से वेदों का कर्ता या देश-काल निर्धारित हो जाय, तब तो पहले उसीको उपस्थापित करना चाहिए। फिर उस वेद को, जिसका प्रामाण्य विवादयस्त है, उपस्थापित करने की आवश्यकता ही क्या है ?

कुछ लोग भाषा-भेद से बेद के कुछ छंश को अर्वाचीन कहने का साहस करते हैं। यह भी बे-सिर-पैर की बात है। विषय-भेद,

क्रिय-भेद से जब एक ही पौरुषेय प्रन्थ में वैचित्र्य हो सकता है, तब अपौरुषेय वेद के स्वाभाविक वैचित्र्य पर पर्यनुयोग (आपित्त) कौन खड़ा कर सकता है ? इसी तरह 'पूर्व और दिल्ला के देशों तथा निद्यों के नाम जिन अंशों में आये हैं, वे अर्वाचीन हैं।" यह कहना भी बेतुका और निराधार है। कारण यह है कि जब यह मान लिया जाय कि 'बाहर से आकर आर्य सिंधु-तट पर टिके और वहीं वेदों का निर्माण हुआ, उसके बहुत दिनों पीछे पूर्व की ओर बढ़ें', तब तो उक्त कथन का कोई आधार हो सकता है। परन्तु जब इस उपस्थापना का ही कोई आधार नहीं है, तब सारी बात निर्थक है।

एक यह भी मत है कि 'किसी समय कुछ लोगों ने वेदों की रचना कर उन्हें अपीरुषेय सिद्ध करने की दृष्टि से उनमें देश, काल तथा कर्ता का उल्लेख नहीं किया। उसके प्रचार के लिए खूब त्याग एवं तपस्या की गयी। वे ही ऋषि, ब्राह्मण तथा पुरोहित कहे जाते हैं, परन्तु इन महामितयों से कोई पूछे कि यह स्थापना साधार है या यों ही ? यदि यों ही है, तब तो उसके विपरीत दूसरी कल्पना भी यों ही की जा सकती है। यदि वह स्थापना साधार है, सप्रमाण है, तो उस आधार और प्रमाण का उल्लेख हाना चाहिए। फिर इस प्रसंग में यह भी प्रश्न उठता है कि ऐसे वेद-रचिवताओं की ऐसी प्रवृत्ति किस उद्देश्य से हुई ? यदि पूजा-जाभ या ख्याति के प्रयोजन से, तो जब उन्होंने वेदों के निर्माता रूप से अपना नाम तक न रखा, उनकी अनादिता ही सिद्ध की, तब और किसी लाभ की कल्पना हो ही कैसे सकती है ? घोर तपस्या, सर्वस्व-त्याग, एकान्तवास, निरन्तर प्रजा-हित-चिन्तन-वया ये सब बिना किसी लौकिक या पारलौकिक प्रयोजन के केवल कुतृहल-वशात् कभी बन सकते हैं ? बुद्धिमानों को वेदोक्त धर्म-कर्मी में तथा वेदों में जो सम्मान है, उससे भी वेद और वेदोक्त कर्मी की अनादि परम्परा ही समभी जा सकती है। जब एक भी प्रज्ञा-वान् दु:ख-निदान या निष्फत्त कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता, तब भला इतना बड़ा जगत् कैसे प्रवृत्ता हो सकता है?

यदि कहा जाय कि लाभ, पूजा, ख्याति आदि ही वेद और धर्म मानने का एकमात्र लच्य है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आबिर लाभ ग्रादि ही कैसे होंगे ? धर्म-कर्म का अनुष्ठान, वेदाध्ययन रे सब स्वस्तातः लाभकर नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यदि धर्मानुष्ठान में प्रत्यच्न लाभ हो, तब तो नास्तिकों को भी करना चाहिए पुनः विवाद ही किससे ? एक बात और भी है कि जिससे लाभ आदि होता है और जो धार्मिकों का दान, सम्मान आदि से पूजन करेंगे, वे ही ऐसा क्यों करते हैं ? यदि यह कहा जाय कि 'ख्याति और अपने में प्राणियों का अनुराग पैदा करने के लिए' श्रीर इसमें यह कारण बताया जाय कि 'दान, सम्मान करनेवालों में जनों का राग होता है तथा जनानुराग से नैतिक, आर्थिक सभी प्रकार की सम्पत्ति मिल जाती हैं, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का सम्मान, दान अपने व्यवहारानुकूत सचिवों को ही दिया जा सकता है। अरण्यवासी तपस्वियों के लिए ऐसे दान आदि से कुछ भी प्रयोजन सम्पन्न नहीं हो सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि 'ये जितने वैदिक तएस्वी थे, वे सभी केवल दूसरों को छलने के लिए ही तप आदि करते थे।' परन्तु उनका यह कथन व्यर्थ है, कारण कि किसी लौकिक प्रयोजन से ही तो किसीकी प्रतारणा की जाती है। जो अत्यंत निःस्पृह हैं, प्रच्छन्नरूप से भी प्राप्त द्रव्यों की ओर देखते तक नहीं और सदा तप करके कष्ट सहते हैं, वे ऐसा क्यों करेंगे ? यदि कहा जाय कि तप, दान, यज्ञ आदि में सुख होता है, तो फिर

नास्तिकों को भी वह सब करना चाहिए। कभी यह भी कहा जाता है कि 'वृद्धों ने ही प्रतारणा कर बालकों को बाल्यकाल से ही वेद और वैदिक कभों के प्रति श्रद्धा तथा संस्कार पैदा कर दिये; इसीसे बालकों की भी उनमें प्रवृत्ति हो गयी।' यदि ऐसा ही है, तो फिर वृद्धों की वेदादिकों में उसी तरह श्रद्धा और प्रवृत्ति क्यों देखी जाती है ? प्रतारणा करनेवाले दूसरों को ही ठगते हैं, अपनेको तो नहीं। इस पर यदि कहा जाय कि 'इन बृद्धों की भी प्रवृत्ति उनसे के पूर्व के वृद्धों की प्रतारणा से हुई हैं' तो उन वृद्धों पर भी यही संदेह किया जा सकता है। यदि इस परम्परा को अनादि कहें, तब तो फिर कोई भी प्रतारक सिद्ध नहीं होता, जिससे प्रतारणा की शङ्का स्थिर हो।

यदि कहा जाय कि कोई एक धूर्त अपने-आप ही तीव्र त्याग, तपस्या आदि करके दूसरों को उसमें प्रवृत्त कराता है" तो यहाँ भी समभना चाहिए कि यह ऐसा कौन लोकोत्तर प्रतारक है, जो सर्वस्व देकर, बन्धु-बान्धव आदि को त्यागकर, संसार-सुख से विमुख हाकर, ब्रह्मचर्य, तपस्या एवं श्रद्धा से केवल दूसरों की वख्नना के लिए अपना समस्त जीवन विताता है ? फिर, इस एक का ही बुद्धिमान लोग अनुगमन भी कैसे करते ? दूसरी एक बात यह भी है कि 'इस प्रतारक का ज्ञान भी लोगों को किन चिह्नों से हुआ ?' यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'प्रतारण में ही ऐसा सुख होता है' जिसके सामने तप, त्याग आदि का दुःख दुछ भी नहीं है, क्योंकि खर्चौंले एवं श्रमसाध्य कार्यों में पाखिएडयों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

वैदिक आचार का प्रहण, धारण, अनुष्ठान पाखिण्डयों के लिए असम्भव है। मतान्तर का प्रहण प्राणी आलस्य से कर सकता है। वेदों में दुःखमय कठिन कर्मों की प्रधानता है, अतः

यहाँ आलिसयों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि बिना अधिकार के दूसरे मतों से हटाकर इस मत में प्रवेश कराया जाता है' क्यों कि यहाँ अधिकार का नियम बहुत ही कठोर है। भोजत-पान के राग से भी इस मत में सङ्घार नहीं हो सकता; क्यों कि उनमें कठोर संयम, कठोर विभाग राग के स्पष्ट हो वाधक हैं। 'कुरिक्ता तथा कुतक के अभ्यास से दूसरे मत में प्रवृत्ति होती हैं यह भी नहीं कहा जा सकताः क्योंकि वाल्यावस्था से ही वालकों की वेद ध्ययन आदि में प्रवृत्ति होती है। यह उन्हें पिर-पेतामह आदि की परम्पा से ही प्राप्त है। इसके जियरीत बातें अत्य नय मतों में ही लाग होती हैं। कर्मकाण्ड की कमी तथा आचार विचार का विशेष नियम न होने से उनमें आलियों की प्रश्राता हो सकती है। वैदिक धर्म से पतिनों का भी उनमें प्रवेश ो जाता है। इस-लिए भो उधर प्रवृत्ति संभव है। पाद-प्रदालन, स्नाव, भोजन, पान, बह्यधारण जैसी छोटी-मे-छोटी दातों के लिए भी जहाँ कठिन नियम वने हैं, वहाँ रागियों की प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है ? उन्हें तो उसी मन में आनं श्राता है, जिसमें कोई परम्यागत बन्धन नहीं होते; जिसमें भोजन, पान, खियों आदि के संबंध में मनमानी स्वतंत्रता रहती है।

मनु, बाल्मिकि, कुडण, ठ्यास, पत्तञ्जलि, गीतम, वर्णाद प्रभृति महादार्शनिकों ने भी नेद-शास्त्रों का स्वतंत्र प्रामाण्य माना है। रह तर्क की वान, वह तो केवल संभावनामात्र है। संभावनामात्र प्रनाण नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाणात्र संभावनामात्र प्रनाण नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाणात्र की सम्मति स तर्क का प्रामाण्य माना जाय, तो पर जिस् प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेचित है, वही प्रमाण हुत्री, प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेचित है, वही प्रमाण हुत्री, प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेचित है, वही प्रमाण हुत्री, प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेचित है, वही प्रमाण हुत्री, प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेचित है, वही प्रमाण हुत्री, प्रमाणान्तर की सम्मति तर्क को अपेचित है, वही प्रमाण हुत्री, प्रमाण्य ही न रहा। यदि यह वहीं प्रमाण हमाना का स्वतंत्र स्वतंत्

जाय कि जब तक तर्क का किसी प्रमाण से बाध न हो जाय, तब तक वह भी प्रमाण ही है, तो वह भी संगत नहीं। तर्क के बाध की भी संभावना बनी ही रहेगी। बात यह है कि बाध-भय का मिटना प्रमाणान्तर के ही अधीन है। अतः कहना ही पड़ेगा कि तर्क अङ्ग या अप्रधान तथा शास्त्र अङ्गी या प्रधान है। शास्त्र स्वतःप्रमाण है, शास्त्रमूलक तर्क भी उसके अनुग्रह से ही प्रमाण हो सकता है, वह स्वतःप्रमाण कभी नहीं है। यदि शास्त्र तर्कमूलक हो, तब तो प्रमाणान्तर-सापेच होने से उसे भी तर्क ही समभा चाहिए। तर्कशास्त्र तर्क ही समभा जाता है, वह वेद-शास्त्र आदि की तरह स्वतःप्रमाण नहीं माना जाता।

वर्तमान सभ्यता के लोगों का कहना है कि 'शाहों में से समक्ष वृक्षकर अच्छी-अच्छी वातें माननी चाहिए। आँख मूँदकर शास्त्र की सभी वातें मान्य हों—ऐसी वात नहीं। 'परन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि शास्त्र तर्कसम्मत, युक्तियुक्त, सुन्दर एवं उपादेय वात कहते हैं, इसलिए आद्रार्णीय हैं। अतः इस पद्म में तर्क से भिन्न शास्त्र नाम के प्रमाण का कोई स्थान नहीं रह जाता। वेद-शास्त्र भी देवल प्रयह्म में लिखित तर्क ही हुआ।

इसके विपरीत वैदिवों का कहना यह है कि ऐहिक, श्रामुकिमक श्रभ्युदय एवं तद्नुकूल धर्म-ब्रह्मादि तत्त्वों के विपय में
उनकी सुन्दरता और उपादेयता इसीलिए है कि वे वेदशास्त्र-प्रतिपाद्य हैं। प्रतिपाद्य की सुन्दरा एवं उपादेयता से
प्रतिपादक वेद-शास्त्रों की प्रामाणिकता और उपादेयता नहीं,
बल्कि प्रतिपादक वेद-शास्त्रों के प्रामाण्य से ही प्रतिपाद्य की
सुन्दरता तथा उपादेयता सिद्ध होती है। क्योंकि जिस प्रमाण

से वेद-शास्त्रप्रतिपाद्य धर्म, ब्रह्म आदि तत्त्वों का अस्तित्व तथा उनकी सुन्दरता एवं उपाद्यता का बोध हुआ, उन्हीं प्रमाणों से निर्वाह हा सकता है, किर शास्त्र को प्रमाण मानने की आव-श्यकता ही नहीं रहती। जैसे चत्तु आदि इन्द्रियों से यदि शब्द का बोध हो जाय, तब तो श्रोत्र की आवश्यकता ही क्या रही? अतः चत्तु आदि से अज्ञात शब्द के ज्ञानार्थ ही श्रोत्र की मान्यता होती है। इसी प्रकार प्रत्यत्त आदि प्रमाणों से अज्ञात धर्म, ब्रह्म आदि के ज्ञान के लिए ही प्रत्यच एवं अनुमान से भिन्न शास्त्र-प्रमाण की आवश्यकता होती है। यदि उनका इत्त किसी अन्य प्रमाण से हो जाय, तब शास्त्र को प्रमाण मानना व्यर्थ है। प्रत्यच् एवं अनुमान अ।दि से विज्ञात अर्थ को प्रतिपादित करनेवाले "अग्निरिमस्य भेषजम्" इस शास्त्रांश को अनुत्रादक सममकर स्वार्थ में प्रमाण नहीं माना जाता। गोत्र, धर्म तथा अनेक अतीत तत्त्र ऐसे हो सकते हैं, जहाँ वचन या लेख के अतिरिक्त कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता, इसीलिए श्रोत्र आदि की तरह शास्त्र स्वतंत्र प्रमाण माना जाता है।

अतएव बोड़ों के यहाँ यद्य प तर्कसम्बन्धी अनेक प्रंथ हैं, तथापि वे तर्क ही समसे जाते हैं। यही कारण है कि बौड़ प्रत्यत्त और अनुमान दो ही प्रमाण माननेवाले कहे जाते हैं। पाछात्य विकासवादियों को भी शास्त्र के सम्बन्ध में आशिक ही मान्यता है, क्योंकि उनके अनुसार वेदों का प्रादुर्भाव पूर्ण विकास की अवस्था में नहीं हुआ। जब पूर्ण विकास होगा, तभी कोई सर्वज्ञ हो सकेगा और तभी जो शास्त्र बनेगा, वहीं सर्वथा सबके लिए मान्य हो सकेगा।

सर्वथा भिन्न है। उनका कहना है कि 'सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ है। दूरवीचण-यन्त्र द्वारा देखा गया है कि विद्युत्कण एवं तेजोमय द्रव्य त्राकाश में स्थान-स्थान पर एक केन्द्र की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इनकी गति बड़ी तीव्र होती है। खगोलशास्त्रियों का कहना है कि इनके एकत्र हो जाने से सूर्य, चन्द्र आदि पहीं का निर्माण हुआ है। पहले गले हुए पत्थर की तरह कोई खीलता हुआ द्रव्य था। समय पाकर उसके जमने से चट्टानें बनीं और वायुमरहल शीतल होने पर बाहा-बादलों में परिसत हो गया। इस तरह धरातल पर प्रथम वर्षा आरम्भ हुई। चट्टानें कट-कट-कर धीरे-धीरे मिट्टी बनने लगीं और उसमें घास-फूस उगने लगे। पहले पहल जल में जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। जलजन्तुओं से पत्ती श्रीर उनसे स्तनपान करनेवाले पशु बने। बन्द्रों में मनुष्यका आकार-प्रकार आने लगा। उससे बनमानुष हुए, जिनकी सन्तान मनुष्य हैं। बहुत दिनों तक वह जड़ली रहा, धीरे-धीरे सभ्यता के चिन्ह आने लगे और अब उसकी पूर्ण रूप से उन्नति हुई है। इसी दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न देशों का इतिहास लिखा है। उनके द्वारा लिखा गया भारतवर्ष का इति-हास भी ऐसा ही है। उनके मतानुसार 'पहले यहाँ भी असम्य, जंगली बसते थे। किर आर्यों का आगमन हुआ, जो पहले पञ्जाब में आकर बसे। वहीं जब वे सभ्यता की सीढ़ी पर चढ़ रहे थे, तब वेदों की रचना हुई।'

प्रश्न तो यह है कि विकास-सिद्धान्त किस लिए और किनके लिए प्रचारित किया जाता है ! अतीत काल के लोग तो व्यतीत ही हो चुके और भविष्य के लोग वर्तमान के लोगों की अपेद्धा अधिक विज्ञान-सम्पन्न होंगे। फिर उन लोगों के लिए इस सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता ही क्या है ! इसके सिवा भविष्य में होने-

बालों की दृष्टि में भूतकाल के शास्त्र अपूर्ण ही होंगे। वस्तुता सर्वाधार, सर्वप्रकाशक, सर्वप्रेरक, स्वप्रकाश, सिचदानन्द, परम् तत्त्र के विना किसी प्रकार का विकास एवं उसका कम सम्भव नहीं हो सकता। अतः 'सर्वज्ञ, सर्वेश्वर के नित्यविज्ञानभूत वेद अपूर्ण हैं।' यह कथन असंगत ही है। विकास कम के अनुसार यदि बन्दर ही मानव जाति के पूर्वज्ञ हैं, तो क्या बन्दों का ही क्रिमिक स्वरूप मनुष्य है या भिन्न-भिन्न जन्तु जन्मान्तरों में मनुष्य बनते हैं ? इनमें से द्विताय पत्त तो दैदिकों को भी मान्य है। परन्तु 'एक ही देह से बन्दर मनुष्य बनें या बन्दरों की ही वंश-परंपरा से कुछ काल में मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ हो।' यह बात याग शिक्त के विना असम्भव है। यदि बन्दरों की ही परम्परा में मानव ज्ञाति का प्रादुर्भाव हुआ, तो फिर बन्दरों की परम्परा क्यों अवशिष्ट है ?

हान-िक्रयाशिक के निकास से निकास-सिद्धांत की कलाना निर्मूल है। कारण यह है कि न जाने कितने काल ही से मधुमिन काओं को मधु वनाना आता है भिन्न-भिन्न पुष्पों के कटु, अम्ल, तिम्ल आदि अनेक रसों में से केवल मधुर रस का ही संग्रह करना कितनी बड़ी बात है! सूद्रम से सूद्रम वालुकाओं के बीच से शर्कराक्षणों के निकालने की चींटो की निचित्र शिक्त भी बिहोनतः उल्लेखनीय है। जब से पशु-पिच्यों तथा मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ, तभी से उनके बाह्य एवं आंतर कों तथा अवयवों में ऐसी बिचित्रता है कि उनकी बराबरी आजतक मानव ने जितने यंत्रों का निर्माण किया है, वे नहीं कर सकते। वायु एवं जल का प्रभाव प्रत्येक अवयव पर किस तरह पड़ता है ? मुख हारा गृहीत अन्न या जल जाठर अग्नि में परिपक्व होकर नानाविध रसों तथा धातुओं के रूप में परिणत होकर किस प्रकार भिन्न-भिन्न

अत्रयवों में विभक्त होता है १ मन एवं प्राण जैसी सूदम वस्तुओं का इतना सुन्दर परिणाम कैसे होता है १ तृण, द्वर्बा आदि का गौ के उदर में जाकर स्तनों से दूध आदि के क्रम से क्या-क्या परिमाण अनुभव में आते हैं १ योति में निविक्त बीर्य का ही मनुष्य, पशु आदि रूपों में परिमाण कितने चम-त्कार की बात हं १ अनेक प्रकार के रसों का संबद्धन करनेवाली नाड़ियों तथा नेत्र, शोत्र, प्राण आदि के परिमाण भी कितनी विल्वणता से युक्त हैं १ क्या विना सर्वतिर्माता, अचिन्त्य-शक्ति परमेश्वर का अस्तित्व माने इसे केवल आक्रिस्मक विकाश-मात्र मान लेने से काम चल सकेगा १

किर उसमें से चेतनता का भी विकाश कैसे हुआ ? यदि यह भूतों का गुण है, तो जैसे समस्त वस्तुओं का स्वभाव प्रयोग से निश्चित किया जाता है, वैसे ही यह जवतक प्रयोग से सफल न हो, तबतक कैसे मान्य हो सकता है ? भूतों के ही संप्रयोग से चैतन्य-प्रादुर्भात्र कर लिया जाय, तभी चैतन्य भूत-धर्म है -यह वात माना जा सकती है। 'भूतों के रहने पर ही चैतन्य रहता है' इतने मात्र से चैतन्य-भूतधर्म नहीं कहा जा सकता। काष्ठ आदि पार्थिव या जर्ल य पद् थों के संसर्ग से अग्नि में दाहकता और प्रकाशकता की अभिव्यक्ति होती है, तथापि दाहकता और प्रकाशकता काष्ठ आदि का धर्म नहीं समभा जाता । इसी तरह यदापि देह में ही चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है, तथापि देह का धर्म नहीं है। अन्वय (साहचर्य) मात्र देखकर दो वस्तुत्रों के बीच धर्मधर्मिभाव का निर्माण नहीं किया जा सकता, जबतक कि 'व्यतिरेक' भी न मिले। आकाश का अन्वय या साहचर्य घट आदि के साथ है, तथापि आकाश एवं घट का धर्मधर्मिभाव नहीं कहा जा सकता।

कारण स्पष्ट है, भला कहीं आकाश के भी अभाव की कल्पना हो सकती है ? यही कारण है कि आकाश से घट की व्यतिरेक-व्याप्ति नहीं बनती। इसी प्रकार यद्यपि देह के रहने पर ही चैतन्य का उपलम्भ होता है और उसके न रहने पर नहीं होता, परन्तु देह के न रहने पर जो चैतन्य का अनुपलम्भ है, वह चैतन्य के न रहने से है अथवा चैतन्य के रहने पर ही अभिव्यञ्जक के अभाव से चैतन्य की अनिभव्यक्तिमात्र है ? किसी भी वस्तु के उपलब्ध न होने में स्वयं उसी का अभाव या उसके अभिव्यञ्जक का अभाव ये ही दो कारण होते हैं। गोत्व आदि जातियाँ यद्यपि नित्य एवं व्यापक हैं, तथापि गोव्यक्ति के न रहने पर विद्यमान गोत्व की भी (व्यक्तिस्प अभिव्यञ्जक के न रहने से) अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव उसका उपलम्भ भी नहीं होता।

इसी तरह श्रनन्त सत्तत्त्व के रहते हुए भी श्रमिन्यञ्जक घट श्रादि के न रहने मात्र से उसकी उपलब्धि नहीं होती। ठीक इसी प्रकार नित्यात्म चैतन्य के विद्यमान रहते हुए भी श्रमिन्यञ्जकरूप समुचित देहादि-संघात के न रहने से उसकी श्रमिन्यिक मात्र नहीं होती। श्रतएव स्वप्न में प्रबोधकालिक देह के न रहने पर भी किसी काल्पनिक मात्रव या न्यांध्रादिस बंधी अन्य शरीरों द्वारा नाना प्रकार के न्यवहार होते हैं। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि चैतन्य भूतधर्म नहीं है। किन्तु जैसे गृह श्रादि संवात से भिन्न उसका भोक्ता स्वामी होता है, वैसे ही देहादि से भिन्न नित्य, चेतनात्मा देह, इन्द्रिय, मन श्रादि साधनों से शुभाशुभ कर्मों का श्रनुष्टान करता है श्रीर किसी सर्वज्ञ, निर्वकार, चैतन्य परमेश्वर के ही नियन्त्रण में रहकर उसकी नियति के श्रनुसार कर्मों के ही फतरूपमें विविध वैचित्र्य

से समन्वित देह आदि को प्राप्त करता है। प्रीष्म आदि ऋतुओं की विचित्रता चाहे सूर्य आदि के या पृथिवी के परिभ्रमण से हो, मर्वत्र ही नियमित प्रवृत्ति के लिए सर्वज्ञ, सर्वशाक्तमान की अपेज्ञा रहेगी ही।

फिर, पाश्चात्य विद्वान् यदि ऐसा लिखें, तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उन्होंने हमारे यहाँ के वेद्-शास्त्रों का मर्म या रहस्य समभा नहीं है और न वे समभ ही सकते हैं। परन्तु आश्चर्य तो तब होता है, जब हम देवते हैं कि हमारे यहाँ के आधुनिक वेदाचार्य भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की एक बात में अवश्य प्रशंसा करनी पड़ती है। जिस बात के आगे उनकी बुद्धि नहीं जाती, वे स्पष्ट कह देते हैं कि इसके आगो क्या है, हम नहीं बता सकते। उनका मार्ग अन्वेषण का मार्ग है। आज वे एक बात कहते हैं, कल उसी-का खण्डन करने में उन्हें किञ्चित् भी संकोच नहीं होता। पृथिवी लगभग दो अरव वर्ष पुरानी मानी जाती है। इसपर एक विद्वान् लिखते हैं कि 'बहुत संभव है, वह इसके पहले भी रही हो, परन्तु हमारी होश उड़ाने के लिए, हमें सदा हत-बुद्धि करने के लिए तो यही संख्या आवश्यकता से अधिक है। कुछ दिन पहले सबसे सूद्रम पदार्थ परमाणु माना जाता था, किन्तु अब उससे भी बढ़कर विद्यात्कण निकल आया है। इसके भी आगे कुछ पदार्थं बतलाया जाता है। तात्पर्यं यह कि विज्ञान अभी श्रंधकार में टटोल रहा है। अपने यंत्रों द्वारा वह कभी पृथिवी के किसी स्थूल रहस्य की भलक पा जाता है और उसीके आधार पर अपने सिद्धान्तों की भित्ति खड़ी कर देता है। यदि वह श्रंतिम तह पर, जहाँ सूद्मजंतुश्रों की कौन कहे, कुशाम से कुशाप्र बुद्धि की भी गति नहीं है, पहुँचने में असमर्थ

है, तो इसमें उसका दोष भी नहीं है; क्योंकि यह उसकी शक्ति से परे हैं। किन्तु तमाशा तो यह है कि हम अपने यहाँ के धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान को उसी अनिश्चित विज्ञान की दुम में बाँधने का प्रयत्न करते हैं।

इमारे यहाँ के एक वेदाचार्य लिखते हैं कि 'इमारे पूर्वज पहले अत्यंत असभ्य थे, नग्न रहते थे। पशुत्रों तथा मनुष्यों का कच्चा मांस खाते थे। लड़ना-भिड़ना ही उनका काम था। पशु ही उनके गुरु थे। उन्हींसे इन्ोंने गुह्याच्छादन सीखा। ये पशुचर्म श्रोढ़ते थे श्रीर गदहों की सवारी करते थे। श्रागे चलकर संघटन तथा प्रजातन्त्र-शासन की स्थाना हुई। सभ्यता का विकास हुआ और ब्राह्मण आदि भेद नियत हुए। यज्ञ-विद्या (कोमेस्ट्रो) का आविष्कार हुआ। ये लोग अनीश्वरवादी तथा नास्तिक थे। इनका अभिमान था कि हम विज्ञान के श्राधार पर नवीन सूर्य, चन्द्रमा श्रादि बना सकते हैं। विज्ञान से ही विज्ञान का विस्तार हुआ। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इस मंत्र में यही बात कही गयो है। आगे उनमें स्पर्धा हुई श्रीर सद्वाद, श्रसद्वाद श्रादि दस मत चल पड़े। फिर उन में से तुषित जाति से उत्पन्न एक महापुरुष ने उन वादों का खण्डनकर 'ईश्वरवाद' की स्थापना की । यह तुषित जाति श्द्र थी, जिसका उस समय वही महत्त्व था, जो कि आज दिचिए भारत में शुद्रों का है। इस जाति में उत्पन्न वही महा-पुरुष ब्रह्म को जानने के कारण 'ब्रह्मा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वही स्वयंभू भी कहा गया और उसी ने वेदों का निर्माण किया।

इस विकाशवादी इतिहास में अपने यहाँ के युगों की कल्पना तो हवा हो गयी। इसके अनुसार पहले तो तमोयुग था, कलियुग था। उस हिसाब से अब सतयुग होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि यदि यही सिद्धान्त मान्य है, तब किर वेदों की अनादिता, अपीरुषेयता तथा नित्यता कहाँ रही ? यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि आखिर वेद हैं क्या ? कुछ लोग ईश्वरीय ज्ञान को ही वेद बतलाते हैं। किन्तु यह ईश्वरीय हान यदि प्रसिद्ध ऋग्वेद आदि से भिन्न है, तो कौन सा है ? यदि बह अप्रत्यच है, तो वह हम लोगों के किस काम का है और इसकी मान्यता वा भी वया अर्थ रहा ? कुछ लोग ज्ञान को ही वेद कहते हैं। किन्तु साधारण ज्ञान से तो समस्त संसार के ही व्यवहार होते हैं। इसमें भी वेद श्रौर उसकी मान्यता का कोई प्रश्न नहीं होता। यदि यथार्थ ज्ञान को वेद कहा जाय, तो यथार्थ ज्ञान है कौन श्रीर वह उत्पन्न कैसे होता है? इसी प्रसंग में तो वेदप्रामाण्य पर विचार चल हा है। कुछ अर्वाचीनों की राय में 'विद् सत्तायाम्', 'विद्, ज्ञाने' अर 'विद् लाभे' इन तीन धातुत्रों से वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। इसितए सत्ता, ज्ञान एवं रस को ही वेद कहना चाहिए। उनका कहना है कि ये ही तीनों पदार्थ सम्पूर्ण विश्व के मूल हैं। अतएव वेदत्रयी से ही विश्व की उत्पत्ति होती है । इनके सिद्धान्तों के अनुसार प्राचीन, अर्बाचीन, दार्शनिकों ने आचार्य-परंपरा से जिस बेद-राशि को वेद मान रखा है, वेदतत्त्व उससे पृथक् ही हैं।

वे ही वेदाचार्य लिखते हैं—'हम आश्चर्यचिकत होकर देख रहे हैं कि हिमालय से कन्याकुमारीपर्यन्त, अटक से कटक तक के सभी विद्वान् उपलब्ध ऋग्वेद आदि ग्रंथों को वेद समम रहे हैं। यही शब्द-संग्रह उनकी विशाल दृष्टि में वेदपदार्थ हैं। उनकी दृष्टि में पुस्तकों में उपलब्ध शब्दात्मक मन्त्रों से अतिरिक्त ऐसा कोई भी वेद पदार्थ नहीं है, जो विश्व का उपादान बन सकता हो। आपके मत में 'ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व के बिना किसी तत्त्व की सृष्टि ही नहीं होती। यही "श्रनन्त वै वेदाः" का रहस्य तत्त्व की सृष्टि ही नहीं होती। यही "श्रनन्त वै वेदाः" का रहस्य तत्त्व की सृष्टि ही नहीं होती। यही "श्रनन्त वै वेदाः" का रहस्य तत्त्व की सृष्टि ही नहीं होती। यही "श्रन्त के अनुसार सत्ता, है। "विद्यते, वेत्ति, विदन्ति" इन ब्युत्पत्तियों के अनुसार सत्ता, वेतना और आनन्द ही वेदशब्द से सृचित होते हैं। सत्तोपलब्धि वेतना और आनन्द ही वेदशब्द से सृचित होते हैं। सत्तोपलब्धि यजुः और आनन्दोपलब्धि साम हैं। श्रुक्, चेतनोपलब्धि यजुः और आनन्दोपलब्धि साम हैं।

आपकी राय में प्रसिद्ध वेद में उपपत्ति (विज्ञान)-प्रधान वचन ही श्रुति या वेद है। यही परम प्रमाण है। विधायक-निषेधक वेद-भाग तो वेद या श्र ति नहीं, प्रत्युत धर्म-पुस्तक या स्मृति है। इसलिए विधि-प्रतिषेधात्मक 'श्रहरहः संन्ध्यामुण-सीत' इत्यादि वचन स्मृति के ठहरते हैं। उपवित्त-प्रधान वाक्यों का संग्रह विद्या-पुस्तक है, यही वेद-शास्त्र कहलाता है। 'वेद-शास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्'' इस मनु के वेद-शास्त्र से विज्ञान-शास्त्र ही श्रमिप्रेत हैं। 'श्रुति तु वेदो विज्ञेयः प्रमाणं पर्म श्रुतिः'' इत्यादि स्थानों में श्रुति शन्द से उपपत्ति वाक्य विज्ञान-शास्त्र ही गृहीत है।

'धर्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। कार्य-अकार्य की व्यवस्था में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हैं' इत्यादि वचनों से विदित होता है कि शब्द-राशि ही शास्त्र है। 'वेदशब्देम्य एवादी'' "शब्द इति चेन्नातः प्रमवात्" "शास्त्रयोनित्वात्" "इत्यादि श्रु ति-सूत्रों से भी आचार्य-परम्परा से अधीयमान शब्द-राशि को ही वेद कहा जाता है। 'आपस्तम्ब' भी मन्त्र और ब्राह्मण को ही वेद कहते हैं—'मन्त्र-बाह्मण्योर्वेदनामध्यम्। उदयनाचार्य आदि शिष्ट पुरुषों ने भी वेद का यही लक्षण किया है। "अनुपलग्यमानमूलान्तरत्वे सित महाजन"

१. वेदाचार्य पं मोतिलालजी, ईशावास्य, प्रथम खराड, पृ०१३६-१३७।

२. वेदाचार्य पं० मोतीलालजी, ईशावास्य, प्रथम खरड, १३७-३६ 1

परिग्रहीतवाक्यत्वं वेदत्वम्।" अर्थात् जिसका मूल कोई दूसरा प्रमाण् त मिलता हो और जो शिष्ट-परिगृहीत हो, वही वाक्य-समूह वेद है।

श्राच बिद्वानों ने भी कहा है कि शब्द एवं शब्दमूलक श्राचित श्रादि प्रमाणों द्वारा जिसका अर्थ श्रवगत हो, जिसके पढ़ने से पारलोकिक सुख उत्पन्न हो एवं जो जीवों से बना हुआ न तो, वह प्रमाणक्ष्प शब्दसिश ही वेद है | प्रत्यच श्रादि सिद्ध अर्थ को प्रतिपादन करनेवाले अर्थवाद आदि का भी परम तात्पर्य विध्यर्थ को स्तुति में ही है। श्रतः विधिवाक्य बिना उनका यह अर्थ श्रवगत नहीं हो सकता— "शब्दाविरिवतं शब्दोपजीवि प्रमाणातिरिक् यत्प्रमाणं तजन्य-प्रमितिविषयानितिरिकार्थको यो यस्तदन्यत्वे सित श्रामुण्मिकसुख-जनकोच्चारणकत्वे सित जन्यज्ञानाजन्यो य प्रमाणशब्दस्तत्त्वं वेदत्वम्।"

यदि आदित्य वेद हों या सत्, चित् एवं रस वेद हों, तो उनका प्रमाणकोटि में प्रवेश कैसे हो सकता है; क्यों कि प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा जा सकता है। अन्यथा अपरिगणित प्रमाण हो जाते हैं। वैसे तो उपासना के लिए शब्द एवं अर्थ का अभेदिसिद्धान्त मान्य है। आदित्यादि में त्रयी-दृष्टि भी उपासना के लिए संगत है। जैसे योषित में अग्ति-बुद्धि, पृथिवी में ऋक्-बुद्धि, अग्नि में साम-बुद्धि की जाती है, वैसे ही वाक्, प्राण में भी ऋक्-साम की बुद्धि उपासनार्थ मान्य है।

यदि प्रमाणभूत ऋक् आदि शब्द-राशि से भिन्न चाहे जो उछ भी हो, वह वेद है, तो फिर प्रत्यच्च आदि से सिद्ध न होनेवाले धर्म, ब्रह्म तथा नाना प्रकार के पदार्थ किंवा आदित्य आदि का वेद होना भी किस प्रमाण से सिद्ध हो सकता है? जिन शाद्य-राशियों के आधार पर इन सब वातों को सिद्ध किया जाता है, उनका ही प्रामाण्य क्यों और कैसे होगा ? क्या वे तर्क-शास्त्र की तरह युक्ति सिद्ध अर्थप्रतिपादन करते हैं ? यदि यह मान्य है, तो याग-विशेष एवं फलविशेष का कार्य-कारणभाव किस युक्ति से सिद्ध होगा ? पुरुप-निर्मित अन्थों में अन, प्रमाद आदि दूपणों से हूषित होने की शंका रहती ही है। फिर जब उसमें वेद-निर्माताओं के विषय में अनेक प्रकार के शिवाद हों, तब तो कहना ही क्या ? बेदों का कोई भी कर्ना नहीं है, वे अपीरुषेय हैं। कोई हिरण्यगर्भ, कोई प्रजापित, कोई भिन्न-भिन्न ऋषियों, कोई गड़ेरियों, तो कोई भाण्ड, धूर्त एवं निशाचों को ही वेदों का निर्माता वतलाते हैं। जनका कोई विश्वस्त और आप कर्ता निर्णात नहीं हो पाता, उन वेदों का प्रामाण्य कोई भी बुद्धिमान कैसे कानेगा ? पिर उनके आधार पर किन्हीं भी तक्तों और सिद्धान्तों का व्यवस्थापन तर्कसम्भत कैश हो सकेगा ?

विदापीरुपेयत्त्राधितरण्' में महिप जैमिन ने 'वेदारचेके खिलकर्ष 'पुरुषाख्या, श्रानित्यदर्शनाच, उक व शब्दपूर्वकत्वम, श्राख्या प्रवचनात्' इत्यादि स्त्रों में श्राचार्यपरमारा से अधीय मान शब्दराशि की ही वेद मानकर उनकी अपीरुपेयता सिद्ध की हैं। "तचीदकेष मत्राख्या: शेष बाद्याणशब्ः" इत्यादि स्थलों में प्रमाए भूत शब्द-तिशोप-राशि को ही वेद कहा गया है। महाभारत आदि के समान वाक्य होने के कारण भी वेदों की पौरुषेयता का संदेह किया जाता है। 'काठक' श्रादि समाख्या से भी वेदों का कठ श्रादि श्राचितों से बनाया जाना मानना पड़ता है। प्रवचन तो अनेक पुरुगों से होता है, अनः प्रवचन-मंबंध से 'काठक' श्रादि संज्ञा नहीं हो सकतो। इन कारणों से वेदों की अपीरुषेयता पर संदेहकर समाधान किया गया है कि यदि वेदों का कोई कर्ता होता,

तो श्रध्येताश्रों की परम्परा से बुद्ध आदि के समान अवश्य ही इसका स्मरण होता। इसी विश्वास से सभी लोग वेदोक्त धर्म का अनुष्ठान करते, क्योंकि अन्य किसी प्रमाण से स्वर्ग और अग्निहोत्र आदि का कार्य-कारणभाव निश्चित ही नहीं हो सकता। यदि वेदों का कोई कर्ता होता तो अर्थाचीन लोग उसे किसी भी तरह न भूलते। इस तरह स्मृति योग्य होते हुए भी स्मरण न होने से शश-विषाण आदि की भाँति वेदों का कर्ता अत्यन्त असन् है।

जो लाग वेदों की पौरुषेयता मानते हैं, वे भी परम्यरा से कर्ता का स्मरण नहीं करते। किन्तु वाक्यत्व हेतु से 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान द्वारा कर्ता को अनुमानकर स्वाधिमत कर्ता सिद्ध कर लेते हैं। 'अमुक कर्ता है' इस प्रकार परम्परा से कर्ता का स्मरण नहीं होता। यदि मनु आदि के समान वेदों का कर्ता स्मृतिपथ में आता, तो 'कौन कर्ता है' यह विवाद ही नहीं उठता। मनुस्मृति, महाभारत या शाक्य-प्रन्थों में विशिष्ट कर्ता के विषय में विवाद नहीं होता।

वेदाध्ययन आधार्यपूर्वक ही है। जैसे गुरुओं ने अध्ययन किया है वैसे ही अध्येता अध्ययन करना चाहते हैं। कोई भी वेदों का स्वतन्त्र और पहला अध्येता नहीं है। कोई भी वेदों का कर्ता निश्चित नहीं है। प्रत्युत वेदों की नित्यता ही सिद्ध होती है। इस तरह वेदों की ही शास्त्रता एवं मान्यता सिद्ध है।

वेद ही सार्वदैशिक कहे जा सकते हैं, क्यों कि वे किसी देश-विशेष की भाषा में नहीं हैं। जैसे परमेश्वर सर्वसाधारण है, वैसे ही हनका वेद भी सर्वसाधारण की भाषा में ही है। अन्यान्य धर्म-अथ भिन्न-भिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में हैं। कहा जा सकता है कि वेद भी तो आयों की मातृभाषा संस्कृत में ही हैं। फिर वे भी सार्वदेशिक कैसे हो सकते हैं? किन्तु यह कहना संगत नहीं हैं; क्योंकि संस्कृत भाषा देव-भाषा है, वह मानुषी भाषा नहीं है। इसीलिए वाल्मीकीय रामायण के मुन्दरकाण्ड में संस्कृता वाक का मानुषी वाक से पृथक उल्लेख है। श्रीहनुमान्जी सोचते हैं कि मुमे अवश्य ही मानुषी वाक बोलनी चाहिए, दूसरी तरह से महाभागा श्रीजानकीजी को समकाया ही नहीं जा सकता। यदि में ब्राह्मण की तरह संस्कृत वाणी बोलू गा, तो सीतामाता रावण समक्तकर मुकसे भी भयभीत होंगी—

"श्रवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्। मया सान्तवियतुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥ यदि वाच प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥"

दिजातियों की भी भाषा संस्कृत नहीं है, वह देवभाषा ही है। ब्राह्मण इसलिए संस्कृत वाणी बोलते थे कि उन्हें शास्त्रों का अध्ययन करते करते वैसा अभ्यास पढ़ जाता था। इसोलिए नैष्ध में लिखा है कि भिन्न-भिन्न देश के राजाओं के संस्कृत भाषा बोलने के कारण देवताओं की पहचान नहीं हुई 'सौवर्गवर्गों न नरेरचिह्न।" इसके अतिरिक्त वेद देवभाषा संस्कृतवाणी में भी नहीं हैं। इसीलिए शब्दों के लौकिक तथा वैदिक दो प्रकार के संस्कार होते हैं। लोकिक संस्कार लोक तथा वेद दानों में ही बराबर हैं। वे व्याकरण आदि सूत्रों के अनुसार ही होते हैं। इसीलिए शाब्दिकों का कहना है—"छन्दित दृष्टानुविधिः" अर्थात छन्द में दृष्ट लद्य के अनुसार ही संस्कार मान्य हैं। व्याकरण मैं वैदिक-प्रकिया भिन्न है, अतः वहाँ लद्य का ही प्राधान्य है। संस्कार का नहीं।

वैदिक मन्त्र शब्द, स्वर और छन्दों से नियन्त्रित होते हैं, लौकिक नहीं। वैदिक वाक्यों का स्वरूप और अर्थ निरुक्त और

प्रातिशाख्य से नियमित हैं; संस्कृत वैसी नहीं है। अतः वेद-भाषा संस्कृत भाषा से विलक्षण है। यह दूसरी बात है कि उसके साथ कुछ अधिक तुल्यता मिल जाय। इसलिए वेद किसीके पन्नपाती नहीं हैं।

जैसे भगवान् सर्वत्र समान हैं; वैसे. ही उनका वैदिक धर्म भी साज्ञात् या परम्परया प्राणिमात्र का परम उपकारी है। किन्तु पूर्वकथनानुसार अधिकार-विशेष का निर्णय उसका असाधारण गुण है। जसे कोई श्रीवधि किसीके लिए हितकर तो किसी-के लिए अहितकर होती है; किन्हीं स्रोषधों का किन्हीं यन्त्रों तथा पात्रों में सुपरिणाम और उन्हींका दूसरे यन्त्रों तथा दूसरे पात्रों में दुष्पिएणम होता हैं, वैसे ही विचित्र-शक्तिसम्पन्न उन वैदिक शब्दों तथा कुछ कर्मों का कहीं सुपरिणाम तो कहीं दुष्परिणाम भी हो जाता है। इसी स्थिति के आधार पर वेदों के उच्चारण, अवग और अग्निहोत्र आदि कर्मों में शुद्ध द्विजातियों को ही अधिकार है। अशोचप्रस्तों, पतितों तथा ब्रात्य त्रैवणिकों का उक्त कर्मों में अधिकार नहीं है। अधिकार-विवेचन में पत्तपात-शून्य हो केवल हितकामना से ही ये नियम हैं। राजसूय में केवल चित्रय का अधिकार है, ब्राह्मण-वैश्य का नहीं। ऐसे ही वैश्य-स्तोम में केवल वैश्यों का ही अधिकार है। इसी तरह किसी-में रथकार का, तो किसीमें स्थपति का ही अधिकार है। बाह्मण के लिए मद्य-बिन्दुके पान से ही मरणान्त प्रायश्चित्त है, श्रीरों को वैसा नहीं। ब्राह्मण को सर्वत्याग, क्षत्रियों को साम्राज्य, श्रीर गृहस्थों को द्रव्य-दान में पूर्ण स्वधर्म, है तो सर्वमान्य संन्यासी को द्रव्य-दान में पाप। स्व-धर्म से विमुख ब्राह्मण को भी नरक और स्वधर्मनि अन्त्यज को भी दिव्य-लोक की प्राप्ति, यह सब

वस्तुस्थिति का अनुसरणमात्र है। माता शिशु के हाथ से ईस छीन लेती है, किन्तु मिश्री दे देती है, तो क्या वहाँ द्वेष है ?

कहा जा सकता है कि 'श्रवण श्रादि में अनिधकारियों के लिए वेद उनका श्रवण श्रादि के साध्यम से उपकार न करता हुआ विषम व्यवहार करता है। 'पर यह सुचिन्तित कथन नहीं है. क्योंकि धनुष आदि धारण करने में असमर्थों के लिए धनुष-धारण का निषेध और कटु श्रीषधों से भीरु लोगों के लिए उन श्रीषधों का निषेध विषमता का मूल नहीं होता । इसी तरह अनिधकारियों के लिए भी निषेध अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त जैसे योग्यता-सम्पादन के अनन्तर बालकों का भी अधिकार हो जाता है, वैसे ही स्वधमानुष्ठान द्वारा जन्मान्तर में द्विजत्व-सम्पादन से यहाँ भी अधिकार हो ही जाता है। किन्तु जैसे जड़, अंध, न्युंसक, बधिर, उन्मत्त, मूक आदि लोगों में श्रवण आदि की लौकिक सामर्थ्य नहीं होती, वैषे ही अलोकिक-सामर्थ्य भी सबमें नहीं रहती। यह अलौकिक सामर्थ्य एकमात्र शात्र से ही गम्य है। पुराणों द्वारा वेदार्थ-परिज्ञान, शम, दम आदि मानव के सामान्य धर्मों तथा सर्वशास्त्रफल, भगवद्भक्ति और ज्ञान में मनुष्य-मात्र का अधिकार है और उसी के द्वारा परम कल्याण भी होता है। भगवन्नाम आदि वैदिक धर्मों से मनुष्य की तो कौन कहे, गृध्, बन्दर, भाळ तक की परम सद्गति हुई और होती है-"पाइ न केहि गति पतित-पावन, राम भज सुनु शह मना।" अतः यह स्पष्ट है कि देश-जाति-पन्तपातशून्य होकर वह मंग्ल-मय विमु श्रीर उसका वेद सभोका कल्याण करनेवाला है।

इस तरह अनेक प्रकार से वेद-शास्त्र ही सर्वशास्ता परमेश्वर के विश्वानुप्राहक वचन होने से मुख्य शास्त्र हैं। सर्वमान्य एवं सार्वभीम गीता जैसे प्रन्थों में भी वेद ही शास्त्ररूप से मान्य हैं।

सिद्धान्तानुसारी शास्त्र कौन हैं, इसका निर्णय सहज में ही हो जाता है। शास्त्र के संबंध में गीता ने वेदों के अतिरिक्त और किसीकी भी चर्चा नहीं की है। यथा—'ऋक्-साम-यजुरेव च", "वदानां सामवेदोऽस्मि", "त्र गुण्यविषया वेदाः", "नाहं वेदैन तपसा", "वेदेश सर्वेरहमेव वेदाः।" इन वचनों में वेदां की ही चर्चा है। गीता में आनेवाले ब्रह्मिष्, देविष्, राजिष आदि महापुरुष भी बैदिक ही थे। गीता के उपदेष्टा और श्रोता के चरित्रों पर ध्यान दें, तो वैदिक आचार-व्यवहार ही लिचत होता है। गीता जिस महाभारत का सर्वस्व है, उसे देखने से भी वेद और वैदिक-सभ्यता की हो प्रशंसा मिलती है। भारत और गीता के निर्माता भगवान व्यास भी वेदों और वैदिक-सभ्यता के ही पालक और पोषक प्रतीत होते हैं। इन सहज विवेचनों से स्पष्ट होता है कि वेद श्रीर वेद से अविरुद्ध स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सद्यन्थ ही शास्त्र हैं और इन शास्त्रों से प्रतिपादित एवं अविरुद्ध मार्ग ही सन्मार्ग है। इस दृष्टि से शास्त्रोक्त एवं शास्त्र से अविरुद्ध भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, बर्गाश्रम-धर्म, राजधर्म, समाज-धर्म ये सभी सन्मार्ग हैं। संदेप में कह सकते हैं कि लौकिक एवं पारलोकिक अभ्युद्य एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति का शास्त्रकथित या शास्त्राविरोधी उपाय ही सन्मार्ग है। अपनी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और उनकी हलचलों को शास्त्रीय शृंखला में नियन्त्रितकर शास्त्राविरुद्ध मार्ग से अपने उपादेय की श्रोर श्रयसर होनेवालें सभी वर्ण श्रीर श्राश्रम के लोग ही साधु हैं। साधुत्रों के परित्राण, दुष्टों के विनाश एवं धर्म के संस्थापन के लिए ही भगवान का अवतार होता है। आचार श्रीशंकर भगवत्पाद ने यहाँ 'साधु' शब्द का अर्थ सन्मार्गस्थ बतलाया है। अतः सन्मार्ग पर जो कोई भी स्थित है, वही साधु है। निर्दोष, सत्य, सुन्द्र एवं कल्याणमय वैदिक मार्ग ही सन्मार्ग है। अतएव भगवान् ने कर्तव्य एवं अकर्तव्य को जानने के लिए शास्त्र का ही आश्रयण करना बतलाया है।

शास्त्र वया हैं, इस विषय में नवीन ठ्याख्यातात्रों का सिद्धान यही हे कि भिन्न-भिन्न देश, काल और अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न समाज या समाज के सञ्चालक पुरुषों द्वारा बनाये गरे नियम ही शास्त्र हैं। इस शास्त्रविधि का पालन ही व्यष्टि, समष्टित्य सम्पूर्ण जगत् के संरच्या का मूल है।' गीता को सार्वभीम प्रथ बनाने के लिए व्यम कुछ आधुनिक लोग गीताक 'शाख्न' का भी यही अर्थ करते हैं। उनकी दृष्टि में भारत के हिन्दु श्रों में ही नहीं, प्रत्युत कुछ परिगणित लागों में प्रचलित वेद ही गाताक्त शास्त्र हैं। किन्तु ऐसा कहना गीता की महत्ता घटाना और उसे संकीए बनाना है। वे लोग यह नहीं सममते कि जो सिद्धान्त बहुतों में प्रचालत हो, वही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं सममा जा सकता। संसार में जितना देहात्मवाद प्रचलित है, उतना देह-भिन्न जीव, परमेश्वर तथा धर्म-सम्बन्धी वादों का प्रचार न कभी हुआ और न हो सकता है। फिर क्या सार्वभौममात्र होने से ही देहात्मवाद को मह-त्त्वपूर्ण वाद मान लिया जाय ? धर्म, ईश्वर को मानना और उसके लिए प्रयत्न करना बहुत ही कम लोगों में देखा जाता है। फिर क्या संकीर्णता के भय से इन सत्य तत्त्वों का भी अपलाप किया जा सकता है ? काल-क्रम से सात्त्विक, राजस, तामस सभी भावों का संकोच-विकास होता ही रहता है। इसी प्रकार वैदिक-भावनात्रों एवं मान्यतात्रों का त्राज संकोच हो जाने पर भी कभी विश्व के सभी, भगवान् एवं उनके सन्मार्ग की जिज्ञासा रखनेवालों का विकास रहा और फिर भी रहेगा।

शास्त्र की उपर्युक्त आधुनिक परिभाषा यद्यपि आपाततः व्यापक और रमणीय प्रतीत होती है, तथापि थोड़ी-सी गम्भीरता

के साथ विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई मनुष्य या उनका समूह, जो सर्वदर्शी नहीं है, लौकिक कर्तव्यों के उसे निर्णय में भी जब हिमालय जैसी गलती कर सकता है, तो फिर लोक-परलोक तथा उनके साधन लौकिक-अलौकिक अनेक उपायों का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? निष्कर्ष यह कि अपने-अपने वर्ण एतं आश्रम के अधिकारानुसार श्रीत-स्मात एवं तद्विरुद्ध मार्ग पर चलनेवाले ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य, शृद्ध, अन्त्यज, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, संन्यासी -अधिक क्या, संसार के सभी श्री-पुरुष साधु हैं। शास्त्रानुमोदित सन्मार्ग पर आरूढ़ रहनेवाले इन साधुओं की रज्ञा करने के लिए ही भगवान का अवतार है। दुष्कृतियों का विनाश और धर्मसंस्थापन भी इन्हींके परित्राण में उपयुक्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी वेद ही गीता-सम्मत शास्त्र ठहरता है।

'तर्क अप्रधान तथा शास्त्र प्रधान है, यह कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं हो सकता। सर्वसाधारण को तो कोई शास्त्रप्रणेता परमेश्वर उपलब्ध नहीं होता"—यह कहना कोई आश्चर्यजनक नहीं। क्योंकि जैसे लोक-संस्कार न होने से प्राणी लोकिक वस्तु को नहीं देख सकता, वैसे ही शास्त्र-संस्कार न होने पर वह शास्त्रीय वस्तु को भी देख नहीं सकता। जैसे दिन्यांजन द्वारा सुसंस्कृत चन्नुवाले पुरुष को भूगर्भ में क्षिपे हुए रत्न आदि का विज्ञान होता है, वैसे ही शास्त्रसंस्कारवाले ही शास्त्रीय वस्तु को निर्विवाद देख सकते हैं।

ईश्वर, जीव, जगत्, धर्म एवं तत्त्व—इन पाँच विषयों का जहाँ सम्यक निरूषण हो, वही शास्त्र है। अथवा शिष्यते हितमुष-दिश्यतेऽनेनित शास्त्रम्' जिससे हित का उपदेश हो, वही शास्त्र है। वैसे तो अर्थ, काम आदि का उपदेश भी हितोपदेश है, अतएव अर्थशास, कामशास आदि भी प्रख्यात ही हैं। किलु हित वस्तुतः धम और ब्रह्म ही है। अतः धर्म, ब्रह्म तथा तदुः पश्रुक्त पदार्थों का सम्यक् निर्णय जहाँ हो, वही शास्त्र है। विके कियों में ही शास्त्र का आदर एवं पालन होता है। अविवेकियों में तो अपने अपने मनोरथों के अनुसार भिन्न-भिन्न तकों का ही सम्मान है। पूर्शोक्त पाँचों विषयों में से अपनी इच्छा के अनुसार किसीका उह किया जाता है, तो किसीका त्याग। इसी कारण तार्किकों में मतभेद भी है। 'सुन्दोपसुन्दन्याय' से परस्वर व्याघात होने के कारण दोनों का ही खण्डन हो जाता है।

कुछ लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि 'हम तो शास्त्र-फाछ कुछ नहीं मानते।' किन्तु क्या वे लोग सर्वज्ञ हाकर ऐसा कहते हैं अथवा असर्वज्ञ होकर १ प्रथम पन्न तो ऐसे लोगों के लिए, जिनकी खुद्धि का कुछ ठिकाना नहीं, सर्वथा असम्भव है। द्वितीय-पक्ष में भी छिछलापन बहुत स्पष्ट है। 'सर्वशास्ता का वचन नहीं मानेंगे' ऐसा कहनेवाला सिवा बालक के और कौन देखा गया है श जिस देश में या जिसके वचन में शास्त्रत्व-निर्णय है, उसमें बुद्धिमानों की अवश्य ही श्रद्धा है। केवल किसा एक के न मानने से क्या हो सकता है श यद्यपि कहा जा सकता है कि 'अकेले ही नहीं, किन्तु बहुत से ऐसे हैं, जो शास्त्र को नहीं मानते। अतः जैसे शास्त्र माननेवालों का पन्न है, वैसे ही

^{े.} सुन्द एवं उपसुन्द नाम के दो अत्यन्त प्रवल देत्य थे। एक रूपवती स्त्री पर दोनों आसक होकर आपस में ही कट मरे, यही सुन्दोप हुन्द न्याय है।

शास्त्र न माननेवालों का भी एक पत्त है। किन्तु क्या बहुमत से ही किसी अर्थ की सिद्धि हो जाती है श्रि अभियुक्तों का तो कहना है कि एक भी वेद-रहस्यज्ञ जिसे धर्म बतलाता है, वही धर्म है; दशसहस्त्र अज्ञों का कथन भी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता—

"एक ऽपि वेदविद्धर्मे यं व्यवस्येदि कर्हिचित्। स धर्म इति विशेयो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥"

जैसे सहस्रों अन्धों का मूल्य बाह्य वस्तु के कथन और स्वरूपनिदेश की दृष्टि से एक च जुष्मान् के भी बराबर नहीं है, वही स्थिति धर्माधर्म के विषय में सहस्रों अज्ञों की है। प्रमाणितरपेत्त कथन जैसे एक का है, वैसे ही सहस्रों का भी। इसलिए जो स्वयं असर्वज्ञ हैं श्रीर शास्त्रों को नहीं मानते, उनका कोई पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि पद्मान्तर होने में असर्वज्ञता ही प्रतिबन्धक है। लोक में बहुमत के ढकोसले में सिवा प्रतारणा के और इछ नहीं है। सदा ही, सर्वत्र कुछ इने-गिने व्यक्तियों तथा पत्र-पत्रिकात्रों के प्रभाव से बहुमत बनाया जाता है। इसलिए बहुमत की कोई निष्ठा नहीं। लाठी लेकर हाँक नेवाले के पीछे मेंड़ श्रार भैंस के समान, जन-समूह किसी भी प्रभावशाली व्यक्ति के पीछे चल पड़ता है। जो सिद्धान्त आज बहुमत से मान्य है, बही कल अमान्य भी हो जाता है। आज का बहुमत कबतक स्थिर रहेगा, यह कहा नहीं जा सकता। भिन्न-भिन्न देशों में जिन कतिपय व्यक्तियों का साथ देकर जन-समूह ने उनका बत बढ़ाया और विजय करायी, अन्य प्रभावशाली नेताओं को पाकर उसी जनसमूह ने उन्हीं लोगों को फाँसी पर भी लटकवा दिया। क्या रोगस्वरूप तथा श्रीषध-उपचार श्रादि के सम्बन्ध में भी बहुमत का कोई मूल्य हो सकता है ? यहाँ तो प्रत्यत्त ही है कि एक विज्ञ चिकित्सक के सामने सहकों अज्ञ व्यक्तियों का कुछ भी मूल्य नहीं । असर्वज्ञता जीवों का स्वभाव है—"सर्वः सर्वे न जानाति सर्वज्ञो नैव कश्चन।" सभी असर्वज्ञ किसी सर्वज्ञ की अपेक्षा रखते हैं। जबतक सर्वज्ञता पूर्ण न हो, तबतक यथार्थ ज्ञान एवं उसकी वृद्धि के लिए सर्वज्ञ की अपेक्षा युक्त हो है। अत्तएव सर्वज्ञ परमेश्वर ही सर्व-शासक है। उनका शासन ही अकृत्रिम वचनरूप वेद हैं; क्योंकि वे अनुसंधानपूर्वक (बुद्धि-पूर्वक) नहीं बनाये गये है और उनका वक्ता भी सर्वज्ञ है।

यद्यपि पौरुषेय प्रंथ के बुद्धिपूर्व क निर्माण से ही उसका महत्त्व एवं मान्यता होती है, तथापि बुद्धिपूर्व क निर्माण में बुद्धि के भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा ऋदि दोषों से दूषित होने की ऋगशंका रहती है। इसके विपरात ऋकृत्रिम, ऋतएत्र ऋबुद्धिपूर्व क वाक्यों में उक्त दोषों की शंका ही नहीं रहती। फिर जब उनका वक्ता प्रथम सर्व इ है, तब तो कहना ही क्या है ? यद्यपि भगवान सर्व इ है, ऋतः यदि परमेश्वर ने बुद्धिपूर्व क भी वेद कहा हो तो भी कोई हानि नहीं; तथापि ऋास्तिकों का यही ऋभिनिवेश है कि वेदों के निर्माण में परमेश्वर का स्वातंत्र्य नहीं है।

कहा जाता है कि परमेश्वरके निःश्वासरूप वेदों में वैसा महत्त्व नहीं है, जैसा कि गीता में; क्योंकिनिः श्वास तो सुषुप्ति, स्वप्त, प्रबोध, सावधानी, श्रसावधानी सभी दशाश्रों में चलते रहते हैं। किन्तु गीता का तो प्रबोध-काल में तथा सावधान एवं योग-युक्त होकर ही भगवान ने उपदेश किया है. पर यह ठीक नहीं। महाभारत युद्ध की समाप्ति होने पर श्रजुंत ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना पूर्व क प्रश्न किया था—'भगवान, श्रापने संप्राम-श्रारंभ के पूर्व कुछ उपदेश किया था, वह संप्राम की व्यप्रता से सुमे विस्मृत हो गया। श्रव कृपया सुभे उसी तत्त्व का उपदेश कीजिये।' भगवान ने कहा—'श्रजुंत ! मैने योगयुक्त होकर तुम्हारी हितकामना से उस तत्त्व का उपदेश किया था—" ख हि वर्मः क्ष्यांतो ब्रह्मणः पर्यवेदने।" अब, उस प्रकार से तो नहीं, पर संद्येप में कुछ कहता हूं यह कहकर भगवान ने 'अनुगीता' का उपदेश किया है। सर्व इ, तथापि योग-युक्त भगवान के मुख-सरोज से निकली गीता-सुधा एक ओर और प्रबोधोन्मुख भगवान का निःश्वासस्वरूप वेद दूसरी ओर। एक दृष्टि से गीता का ही महत्त्व वेदों की अपेत्रा अधिक ठहरता है। किन्तु विवेकियों ने भगवान की सर्व इता एवं योगयुक्तता का उपयोग वेद शाख एवं उपनिषदों के सार अन्वेषण करने में ही किया है।

श्रतएव उन्होंने उपनिषदों को गौ मानकर श्रर्जुन को वत्स एवं गोपालनंदन छुट्या को सचमुच दोग्धा गोपाल बनाकर वेद तथा उपनिषदों के सारभूत गीतामृत को लोकोत्तर दुग्ध का रूपक दे दिया गया है। इस दृष्टि से भी गीता का महत्त्वपूर्ण सम्मान है, कारण गौ की श्रपेक्षा दुग्ध का, ईख की श्रपेक्षा उसके सर्व स्व स्व स्व तोगा-युक्त द्वारा मधित एवं निष्कासित गीतामृत का जितना ही महत्त्व सममा जाय, उतना ही कम है। तथापि यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि वेद किसीके बुद्धिपूर्वक निर्मित नहीं हैं। इसीलिए उनका महत्त्व इतना श्रधिक है कि गीता की मान्यता भी वेद-मूलक होने में ही है। यद्यपि गीता सर्वज्ञ, सावधान परमेश्वर की ही कृति है, किन्तु यदि वह वेदिवरुद्ध हो, तो कदापि उसकी मान्यता नहीं हो सकती। भगवान बुद्ध परमेश्वर के ही श्रवतार सममे जाते हैं, किन्तु वेदिवरुद्ध होने के कारण ही श्रास्तिकों में उनका सम्मान नहीं है।

इस तरह पुरुषों से स्वतन्त्रता ही प्रंथों के प्रामाण्य में मूल हो जाया करती है, अतः प्रामाण्म-परीक्षण के लिए वेदों में

पुरुष स्वातन्त्र्य का वारण बड़े प्रयत्न से किया जाता है। कहा गया है-'यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।" सव इ -परमेश्वर भी वेदों के निर्माण में स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से (सोकर जगा हुआ छात्र जिस प्रकार विगत दिवस के पाठ का, अधीत विषयों का स्मरण करता है, उसी प्रकार) परमेश्वर पूर्व कल्प की वेद-आनुपूर्वी का स्मरणकर कल्पान्तर में उपदेश करते हैं। इसीलिए परमेश्वर वेदों के स्मर्ता या वक्ता कहे जाते हैं। जैसे पुरुष निःश्वासों का निर्माता नहीं समका जाता, वैसे ही अपने निःश्वासरूप व दों के भी निर्माता भगवान् नहीं हैं। वे केवल उनके आविभात्र के निभित्त हैं। संमर्थ एवम् सर्व ज्ञों के कोई भी कार्य अनेक उद्देश्यों के लिए होते हैं। पुराणों से परिज्ञात होता है कि बुद्धदेव परमेश्वर के अवतार ही थे। वेदों से अनिधकारियों की प्रवृत्ति इटाने के लिए यज्ञ-यागादि के व्याज से बढ़ी हुई हिंसा, मद्यान आदि पापों का निराकरण करने के लिए ही वेद और यज्ञ आदि का उन्होंने खण्डन किया था। आस्तिकों की तो स्थिति यह है कि वे वेद के सामने वेदवेदा भगवान् को भी नहीं मानते।

जिस प्रकार पहले से विद्यमान निःश्वास का पुरुष के विना प्रयत्न के प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार नियत आनुपूर्वीवाले वेदों की भी निरायास उत्पत्ति होती है। पुरुषनिःश्वास बुद्धि की अपेत्ता नहीं करता, क्योंकि स्वप्न या सुपुप्ति में जिस समय बुद्धि या उसकी क्रियाशीलता का अभाव हो जाता है, उस समय भी श्वास-प्रश्वासों का प्रवाह चलता दीखता है। ठीक इसी प्रकार वेदों के प्रादुर्भाव में भी बुद्धि का सम्बन्ध अनपेत्तित है। इसीबिए बुद्धि के गुण या दोष का भी वेद में सम्पर्क तक नहीं है। अतएव वेद निरपेत्त रूप से ही प्रमाण हैं। पुरुष-

निःश्वास के समान जो बिना बुद्धि एवं प्रयत्न के ही अभिव्यक्त हो, वही प्रन्थ स्वतः प्रमाण माना जा सकता है। इन्हीं भावों का सूचन "श्रस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतद् यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इस श्रुति में मिलता है। इसमें वेदों को परमेश्वर का निःश्वास

बतलाया है।

वेहों के विरुद्ध भगवान की भी आज्ञा न मानना वैसी ही आस्तिन्कता है, जैसी कि गुरु की आज्ञा के विरुद्ध गोविंद की आज्ञा त्यागना । यह भगतान् का अपमान नहीं, प्रत्युत सम्मान है, कारण जीवों को वेदों तथा गुरुश्रों के द्वारा ही तो भगवान् का बोध होता है। यदि उनमें हढ आस्था न होगी, तो फिर भगवान् में ही वह आस्था कितने दिनों तक टिक सकेगी १ वालुका की भीत के समान वेद शास्त्रविहीन ईश्वर-भद्धा को गिरते त्रिलम्ब न लगेगा। अतः जब वेद-शाखीं तथा गुरुश्रों से ही भगवान् का श्रस्तित्व एवं उनकी उपादेयता ज्ञात होती है, तब उनमें अधिक दृढ़ श्रद्धा आवश्यक ही है। रामायण, भागवत, भारत आदि प्रन्थों के ही आधार पर राम, मुख्या, विष्णु, शिव आदि भगवत्स्वरूशें का बोध होता है। ये न हों, तो उनकी उपादेयता को कौन कहे, अस्तित्व भी संकटमस्त हो जाता है। श्रतः जिनके द्वारा भगत्रान की स्याति और मान्यता है, उन्हें न मानना ही उनका अपमान है। शिव के रुष्ट होने पर गुरु रत्तक है, पर गुरु के रुष्ट होने पर कोई भी रचक नहीं है — 'शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरी रुष्टे न कथन।" श्रीपार्वतीजी कहती हैं —

"तज़ी न नारद कर उपदेशा। आप करें शतबार महेशा ! गुर के बचन प्रतीत न जेहीं। सपनेहुँ शुभगति सुमति कि तेहीं॥" वेद साज्ञात् भगवान के अवतार ही हैं, स्वरूप ही हैं। "स्वय-

मेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्य त्वं पुरुषोत्तम"—पुरुषोत्तम भगवान् बोध सिवा वेदों के और किसी तरह नहीं होता । "वेदो नारायण साचात्", 'वेदस्य चेश्वरीयत्वात्तत्र मुह्मन्ति सूरयः''—भागवत हे इन पद्यों से भी वेद को साचात् भगवद्वीप कहा गया है। भगवान् भी "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनव् इस गीता-ज्ञन में 'मया' इस अंश से अपने वेदस्वरूप की ही इङ्गना कर रहे हैं, 'वेदरूप से मैंने प्रथम ही दो निष्ठाओं का वर्णन किया है।' इतना ही नहीं, प्रत्युत भगवान के अस्तित्व एवं डपादेयता को प्रकाश करनेवाला वेद-स्वरूप भगवान से भी श्रेष्ठ है।

प्रकाश्य से अधिक प्रकाशक का महत्त्र प्रसिद्ध ही है। भगवान् के स्वप्रकाश चिद्ंश का ही वेदरूप में प्रादुर्भाव हुआ है। यही समस्त शब्द-ब्रह्म का उत्पत्तिस्थान है। वैयाकरण इसीसे अपन्न की सृष्टि मानते हैं—

श्रनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यद्त्रस्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥"

तभी वेद-मूल और वेदसारभूत प्रणव आदि भगवनामो का भगतान् के साथ अभेद कहा गया है। भगवन्नाम भगवान् से भी श्रेष्ठ है। श्री गोस्वामीजी ने कहा है—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमित सुधारी॥ राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु भ्रम कीन न थोरा॥ नाम लेत भविष्धु सुखाईं। करहु बिचार सुजन मन माँईं।। कहिं कहां लगि नाम बड़ाई। राम न सकिहं नोम गुण गाई॥" इस तरह वेद भगवान से उद्भूत और उन्हींके स्वरूप हैं। वे उन्हींके श्रास्तित्व एवं उपादेयता को सिद्ध करते हैं। अतः इनके विरुद्ध भगवान् की भी बात न मानना ही आस्तिकता

एवं बुद्धिमानी है। एक बार जब भीष्मजी पिंड-प्रदान करने लगे,
तो उनके पिता श्रीशन्तनुजी का हाथ स्पष्ट पिण्ड-प्रहण के
लिए व्यक्त हुआ। इसपर भीष्मजी ने वेदज्ञों से प्रश्न किया कि
क्या श्राद्ध में हाथ पर पिण्ड-प्रदान वैध हैं !' ब्राह्मणों ने कहा—
नहीं, कुशाओं पर ही पिण्ड-प्रदान की शास्त्रीय विधि है।' फिर भीष्मजी ने वैसा ही किया। श्रीशन्तनु उनकी अटल शास्त्रनिष्ठा से
प्रसन्न हो उन्हें आशीर्वाद देकर चले गये। इस तरह वेदों के
निर्माण में किसीका स्वातन्त्र्य न होना उनके प्रमाण्य का
साधक ही है और प्रयत्न एवं बुद्धिनरपेन्न वेदों का प्रादुर्भाव
उनकी स्वाभाविकता एवं अकृत्रिमता का व्यंजक है। अतः सर्वज्ञ
की समाहित बुद्ध से बने हुए प्रन्थ की भी अपेना प्रयत्न एवं
बुद्धि-निरपेन्न श्वासवत् स्वाभाविक वेदों का अधिक महत्त्व है।

यही कारण है कि आहितकों के यहाँ गोता सर्वज्ञ, समाहित, कृष्णप्रोक्त हे—इतने से ही संतोष एवं गीता का माहात्म्य नहीं है, प्रत्युत उसका महत्त्व इसामें है कि समाहित, सर्वज्ञ श्री-कृष्ण परमात्मारूप गोपाल के द्वारा वेद-शीर्ष उपनिषद्रूप गौत्रों

के दुग्धामृतरूप में उसका प्रादुर्भाव हुआ है।

वैद्यावों के परमधन भागवत की भी महत्ता वेदरूप कल्पद्रुम के समधर फल होने के ही नाते बढ़ी। श्रीमद्भागवत फल ही नहीं, मधर एवं परिपक्व फल है। वह फल भी कल्पतर का, जो स्वयं सर्वाभीष्टदायक है। वह कल्पवृत्त भी साधारण भोग-दायक देवतरु नहीं, अपितु वेद-कल्पतरु है। इस कल्पतरु से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी प्रकार के पुरुषार्थ अनायास प्राप्त हो सकते हैं। उस अद्भुत लोकोत्तार कल्पद्र म का सारतम, परिपक्व एवं स्वयं गलित फल श्रीमद्भागवत है। वह भी शुक-तुर्द स्पृष्ट-होने से अतिमधुर है। श्रीशुक भी प्राकृत नहीं,

परमहंस, महामुनीन्द्र-कुलतिलक एवं श्रीव्रजेन्द्रनन्दन स्व श्रीवृषभानुनन्दिनी के कृपामृत से परिपृष्ट शुक हैं। उनके मुखामृत-द्रव से संस्पृष्ट यह भागवत फल है। यहाँ भी वेदसार एवं वेदज्ञ-संबद्ध होने से ही श्रीमद्भागवत का माहात्म्य बढ़ा। यही भागवत के माहात्म्य में स्पष्ट किया गया है। जैसे ईख में मधुरिमा विस्तृत है; फिर भी उसीसे निकली हुई शर्करा, सिता, कन्द श्रादि के माधुर्य की विचित्रता मान्य होती है, वैसे ही वेदों का ही सारसमूह होने के कारण श्रीमद्भागवत का महत्त्व विलच्नण है।

"वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साचाद्रामायसात्मना॥"

अर्थात् विद्वेद्य परमात्मा जव श्रीरामरूप में प्रकट हुए' इत्यादि वचनों के अनुसार रामायण, भारत आदि समस्त आर्थ-प्रनथ वेद

से ही : सहत्त्वास्पद होते हैं।

अगिन की उष्णता और जल की द्रवता स्वाभाविक धर्म हैं। ब्रह्मा भी उनके निर्माता नहीं माने जाते । यही कारण है कि अगिन कभी शीत और जल कभी उष्ण नहीं होता । यहि निर्माता के अधीन उनका निर्माण हो, तो स्वतंत्र होने के कारण निर्माता बैसा भी बना सकता है । इसी तरह भगवान के निःश्वासभूत वेद स्वाभाविक हैं, कृत्रिम नहीं। भगवान वेदों के स्मर्ता ही हैं, यह बात पराशरजी ने भी कही है—

न कश्चिद्देदकर्ताऽस्ति।वेदस्मर्ता प्रजापितः । वथैव धर्मे स्मरित मनुः कल्पान्तरान्तरे ॥

वेद का एकदेश अयुर्वेद है। उसके विवेच्य विषयभूत योग्य एवं अयोग्य पदार्थों के गुण-दोषों का ज्ञान किसी जीव को सहस्रों कल्पों में भी पूर्ण नहीं हो सकता। जब एक नगण्य के वृष् के विचित्र गुणों का सहज में ज्ञान नहीं होता, तब फिर अनन्त हुण एवं उनके अनन्त संप्रयोग-विप्रयोग और उनसे उद्भत एवं अभिभूत होनेवाली विचित्र शक्तियाँ किसी अल्पन्न को कैसे विदित हो सकती हैं ? एक तृण कोई लें, तो उसमें न जाने कितने रोगों को उत्पन्न और विनष्ट करने की शक्ति हैं। फिर दो चार औषधियों के संयोग आदि से कितनी शक्तियाँ संकुचित एवं विकसित होती हैं—यह जानना जीव के लिए अन्वय-व्यतिरेक आदि युक्तियों से सैकड़ों कल्यों में भी संभव न होगा। एक विष के ही शक्तिपरीक्षण में सहस्त्रों प्राणियों की हत्या हो जायगी, फिर भी ठीक-ठीक परिणाम ज्ञात नहीं होगा। इसी तरह योग्य एवं अयोग्य अनेकविध पदार्थों के ज्ञान में पुरुष की योग्यता नहीं है। अतः इन सब विषयों का जिस शास्त्र से बोध होता है, वह अपौरुषेय ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि यह विश्व अपने आप ही उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के लिए परमेश्वर को हूँ इना व्यर्थ है, किन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि प्रपंच अपनी उत्पत्ति में स्वयं ही कारण है ? यदि हाँ, तो क्या यह विश्व अपनी उत्पत्ति के समय था या नहीं ? स्वतंत्रता विद्यमान की होती है या अविद्यमान की शयदि सृष्टि के पहले प्रपंच का अस्तित्व हो, तो फिर सृष्टि की वार्ता ही क्या ? जब उस समय प्रपंच अविद्यमान हो, तभी सृष्टि का प्रसंग उठता है फिर उसके किसी कारण की भी अवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। यदि कालाधीन नित्य निरवयव परमाणुओं के संयोग-वियोग से सृष्टि एवं प्रलय कर स्वीकार लिया जाय, तो जब काल में यह स्वातंत्र्य माना गया तो, नामान्तर से ईश्वर का ही अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया। क्योंकि परमेश्वर का सर्व-प्रथम लेका स्वतंत्रता ही है। सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान के दिना

अन्यत्र स्वतंत्रता बन ही नहीं सकती। जो सर्वज्ञ एवं सर्वबोधक है, वही शास्त्र को कह सकता है। उसीका नित्य बचन वेद है।

कुछ लोग तो पूर्वकथनानुसार परमाणुत्रों या विद्युत्कणों के स्वामाविक इलचल, संघर्ष एवं एकत्रीमवन से पृथिव्यादि कम व विश्व का विकास मानते हैं, परन्तु कुछ लोग संयोग, वियोग,संबर्ध एकभा भवान आदि के नियामक रूपमें परमेश्वर को माननेके लिए बाध्य होते हैं। क्योंकि बिना किसी सर्वनियामक के अकस्मात् विघटन या अकस्मात् संघटन कैसे संभव होगा ? ऐसे लोग इश्वर के श्रस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी वेद शास्त्र एवं वैदिक सृष्टि-क्रम को अमान्य सममते हैं। उनका कहना है कि किसी िशिष्टशिष्ठ परमेश्वर ने ही इन भूगोलों एवं खगोलों को बनाकर गेंद के समान पेंक दिया है। वे जिस संकल्प से, जिस वेग से फेंके गये, वैदे ही भ्रमण करते हैं; क्योंकि जब लोक में कोई भी स्थून एवं गृह पदार्थ निराधार नहीं होता, तो पृथ्ती आदि की निराधारता कैसे कही जा सकती है। अतः जैसे पार्थिव प्रपंच का आधार पृथ्वी है, वैसे ही श्रीत कम के अनुसार पृथ्वी का आधार जल है। साधारण ह्प से अल का आधार पृथ्वी ही देखी जाती है, तथापि सुदम दृष्टि से देखने पर स्पष्ट विदित होता है कि काष्ठ, नाव आदि पार्थिव पदार्थ भी जल के आश्रित हैं। इसी भावना से पृथ्वी का जल में होना संभव है। जैसे दुग्ध में ही दिधिभाव होने पर कठी-रता आ जाती है, वैसे ही जल में पृथ्वी-भाव आता है। उपनिषरी में भी यह दृष्टान्त आया है कि जैसे माँड़ में जमने से कठोरता हो जाती है, वैसे ही जल का ही गन्धयुक्त घनीभाव पृथ्वी है। जैसे दिध में उपर का अंश कठोर और नीचे का अंश द्रत होता है, वैसे ही पृथ्वी के उपर का अंश कठोर है और नोचे का अर नरम या द्रुत । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जल का ही परि

णाम पृथ्वी है। जल में गुरुता या लघुता एवं पतलापन या गाढ़ा-पन देखा जाता है। यमुना का जल कुछ गाढ़ा एवं गङ्गा का कुछ हलका होता है। यद्यपि जल में भी गुरुता होती है, अतः वह पृथ्वी के ही आश्रित समभा जाता है, तथापि बादलों में रहनेवाले जल में कितना सूचम अंश होता है। वायु के सहारे तुषार देखे जाते हैं एवं सूर्य की किरणों के सहारे जलों का आकर्षण होता है। इसी दृष्टि से श्रीत-क्रमानुसार जल का भी तेज के सहारे रहना सिद्ध हो जाता है। वायु में तेज की मन्दता देखने से तथा वायु के गुण स्पर्श की अग्नि में अनुस्यूति होने से तेज को भी वायु के सहारे माना जा सकता है। ऐसे ही आकाश में ही वायु की हलचल हो सकती है और आकाश का शब्द गुणवायु में रहता है। इसीलिए वायु का कारण एवं आधार आकाश माना गया। कार्यों में कारण के कुछ गुणों का प्रवेश रहता है। अतः आकाश का शब्द-गुरा वायु में, वायु का स्पर्श-गुरा तेज में, तेज का रूप-गुरा जल में और जल का रस-गुग पृथ्वी में उपलब्ध होता है। कारण के गुण कार्य में प्रविष्ट होते हैं, पर कार्य के गुण कारण में नहीं। अतएव कारण में सूदमता एवं कार्य में स्थूलता होती है। इसी-लिए शब्दादि पञ्च गुणों से युक्त पृथ्वी कार्य स्रोर गन्ध-गुण्रहित अतएव सूदम जल कारण है। जैसे तेज एवं आकाश में सूदमता, व्यापकता और कारणता निर्णीत है, वैसे ही जल में भी पृथ्वी की अपेना व्यापकता, सुन्मता एवं कारणता मानना युक्त है।

पृथ्वी में गाढ़ापन, स्थूलता तथा कठोरता है, तो जल में हलकापन एवं सूद्रमता है। किरणों से जिस जलीय अंश का आकर्षण होता है, उस में और अधिक सूद्रमता और हलकापन होता है। आकाश में यह सूद्रमता और बढ़ जाती है। कुछ लोग आकाश को कारण मानने में सङ्कोच करते हैं। किन्तु वे यह

ध्यान में नहीं लाते कि यदि आकाश कारण नहीं, तो उसके शब्द-गुण की वायु, तेज और जलादि में उपलब्धि कैसे हो सकती है ? अतः आकाश को वायु का कारण मानना युक्त ही है। अनुभव में भी आता है कि अवकाश में हलचल और उससे उच्णता, उससे स्वेद और उस से मैल उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही आकाश से वार आदि कम से सबकी उत्पत्ति होती है। कुछ लोगों का कहना है शब्द आकाश का गुगा ही नहीं, वह तो वायु का कार्य है। किन्तु जैसे अन्यान्य वायवीय विकार त्वगिन्द्रिय से गृहीत होते हैं; वैसे ही शब्द भी त्विगिन्द्रिय से उपलब्ध होना चाहिए। पर शब्द का ग्रहण वायवीय त्विगिन्द्रिय से भिन्न आकाशीय श्रोत्रेन्द्रिय से ही होता है। प्रायः सर्वत्र ही प्राह्य-प्राहकभाव सजातीय में ही हुआ करता है। पाथिव गन्ध का प्रहण पार्थिव घाण से ही होता है। तेज के गुण रूप का उपलम्भ तैज नेत्रेन्द्रिय से ही होता है। इस से स्पष्ट है कि आकाशीय श्रोत्र से उपलब होनेवाला शब्द आकाश का ही गुगा है। अतएव शब्द, स्पर्श रूप, रस एवं गन्ध ये पाँचों गुण त्राकाश त्रादि पत्रभूते के असाधारण सममे जाते हैं और इन्हीं पाँचो भूतों के पाँचों गुण को जानने के लिए श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनी हैं।

स्थूल का आधार सूचम ही होता है। सूचम जल स्थूल पृथ्वी का आधार है। स्थूल जल का सूचम तेज और उसका आधार उससे भी सूचम वायु है। वायु से भी सूचम आकाश वायु की आधार है। जो जितना सूचम है, उसे उतने ही कम आधार की अपेचा होती है। इसी कारण सर्वापेच्या परम सूचम, स्वप्रकार परम तत्त्व को किसी भी आधार की अपेचा नहीं पड़ती। की निराधार होता है। ऐसे ही उत्तरोत्तर आधारों में विशेषों की कमी रहती है। अन्तिम आधार में पूणे स्वच्छता, सूचमता, निराधारती

निर्विशेषता सिद्ध होती है। इस तरह सूच्म व्यापक तथा स्वच्छ को कारण एवं आधार मानने से सबमें व्यापक सबसे सूच्म एवं स्वच्छ, स्वप्रकाश, सत् परमार्थ तत्त्व सिद्ध हो जाता है।

कहा जाता है कि 'वैदिकों ने जितनी पृथ्वी और संसार का निर्णय किया है, आधुनिक वैज्ञानिकों ने उससे कहीं अधिक लोकों का पता लगाया है। रात्रि में जिन अपरिगणित ताराओं से नभोमण्डल दीप्त होता है, वे सभी लोक हैं।' किन्तु उपनिषदों और पुराणों का आशय न समभने से ही यह अम फैलता है। उप-निषदों के पृथ्वी, जल आदि ऐसे व्यापक हैं कि उनमें सबका अन्त-भीव हो जाता है।

गन्धगुणवाला द्रव्य पृथ्वी पवं रसगुणवाला जल है। जितने भर भी गोल हैं, सभी गन्धगुण पृथ्वी के मिश्रण से बने हैं। इस तरह पृथ्वी में सबका संग्रह हो जाता है। ऐसे ही पृथ्वी से सैकड़ों गुना अधिक रसगुणवाला जल है। पुराणों में अपरिगणित या अनन्त ब्रह्माएडों का वर्णन आता है; परन्तु उपनिषदें इसकी चर्चा नहीं करतीं। कारण यह है कि उनके मत में एक या अनेक ब्रह्माएडों में सर्वत्र ही गन्ध-गुणवाली पृथ्वी एवं रस-गुणवाले जल को समभ लेना चाहिए। पुराणों के अनन्तकोटि ब्रह्माएड के अभिमानी और स्वामी डपनिषद् के महाविराट् हैं। पुराणों के अनन्त हिरण्यगर्भों का समष्टि उपनिषदों का महाहिरएयगर्भ है। तारागण चाहे मेरुशक के आधार पर हों, चाहे वायुविशेष के सहारे ही भ्रमण करते हों, पर भा जाते हैं ये सभी एक ही ब्रह्माएड के भीतर। ऐसे ही अनन्त ब्रह्माएड जिस प्रकृति के गर्भ में विद्यमान हैं, वह प्रकृति ही स्वयं जिन भगवान् के समाश्रित है, वह सचिदानन्द परम तत्त्व अपार एवं अनन्त है। खगोल जल के सहारे या

वायु के सहारे रहें, सबका अन्तिम आधार परमेश्वर मानना

एक मत यह भी है कि 'सभी खगोल वायु के सहारे हैं। जैसे ही पड़ता है। वेगवान वायु में वृत्त, जल एवं बड़े-बड़े मत्स्य उड़ सकते हैं, वैसे ही महावेगवान् बलवान् वायु में ही खगोलों का भ्रमण है। पुराणों की कल्पना है कि भूधर, सागर, कानन, समस्त पृथ्वी की स्थिति दिगाज, कूर्म, वराह, शेष आदि पर है। सर्वत्र ही जो सबका अन्तिम आधार और स्वयं निराधार हो, वही स्वयं

प्रकाशमान रूप सत् परमात्मा है।

परमेश्वर का सङ्कल्प अव्याहत है। अनीश्वरवादी भी यद्यपि भूगोलों का भ्रमण मानते हैं, परन्तु वे लोग इन सब कार्यों के लिए परमेश्वर की आवश्यकता नहीं सममते। उनके मतों में सभी गोलों में कोई स्वभावसिद्ध आकर्षक शक्ति है, जिसमें वे सब परस्पर आकृष्ट होकर भ्रमण करते हैं।' परन्तु यह विचार अत्यन्त तर्क-शुन्य है, क्योंकि इसमें 'अन्योन्याश्रय' दोष है। परस्पर त्राकर्षण से श्थिति या भ्रमण नितान्त त्रसम्भव है, अन्योन्याश्रय कार्य लोक में नहीं बनते—'श्रन्योन्याश्रयाणि कार्याणि लोके नैव प्रकल्प्यन्ते।" चुम्बक के सहारे उसमें आक षित होकर लोहा रहता है, परन्तु चुम्बक लोह के सहारे नहीं टिकता। उसे अपना कोई दूसरा ही सहारा रखना पड़ता है। ईटों के डाट बनते हैं, उनमें परस्पर के सहारे स्थित होते हुए भी सबका अन्तिम आधार भित्ति को मानना ही पड़ता है।

यदि इन गोलों में स्वतः या एक दूसरे के सहारे स्थित रहते की भिन्न शक्तियाँ मानी जायँ, तो लाघवात् एक ही ऐसी दिन्ध शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर क्यों न मान लिया जाय ? जिससे समस्त व्यवहार उपपन्न हो जायँ। पृथक्-पृथक् पदार्थीं के भिन्न

स्वभाव की शक्तियों को स्वतन्त्र मानने की अपेचा सर्वशक्तियों के अधिष्ठ तस्वरूप परमेश्वर के मानने से सरलतापूर्वक व्यव-हार बल सकता है। अतः कुछ लोग ईश्वर मानकर कहते हैं कि 'इसके बनाये हुए भूगोलों एवं खगोलों की गेंद उसके सङ्कलप से स्थित है। उसमें भी भूगोल आदि भ्रमग्रशील हैं और सूर्य-गोल स्थिर हैं। भूगोल में प्रथम तृण आदि उत्पन्न हुए; फिर कृमि, दंश आदि; फिर पत्ती, सर्प आदि अएड ज; उसके अनन्तर मृग, व्याघ्र आदि; फिर पशु एवं मर्कटों की उत्पित्ता हुई; उसके पीछे बहुत प्रकार के बहुदेशनिवासी मनुष्य उत्पन्न हुए। उनमें भी कम से ज्ञान की वृद्धि हुई है। पूर्व-पूर्व के लोग मूर्ख थे, ज्ञान का पूर्ण विकास होने पर सर्वज्ञ होंगे, तभी शास्त्र की भी सिद्धि होगी। बालक पहले अज्ञानघन होता है, उत्तरोत्तर उसमें ज्ञान की वृद्धि होती है। इसीलिए "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाएयम्" यह सिद्धान्त है। अतएव उत्तरोत्तर पुरुषों के वचनों का प्रामाएय है। पूर्व-पूर्व वेद आदि वचनों का अप्रा-माएय है।

इन महानुभावों से प्रश्न होता है कि क्या यह आपका सिद्धान्त पूर्वजों को सम्मत है ? अथवा भावी पुरुषों के लिए मान्य होगा ? पूर्वजों के लिए सम्मत तो हो नहीं सकता, क्योंकि वे तो आपके मतानुसार आधुनिकों की अपेचा मूर्छ ही थे; किर उन्हें इस सिद्धान्त का बोध ही कहाँ ? यदि कहा जाय कि उत्तरोत्तर विवेकियों को यह सिद्धान्त सम्मत होगा, तो वह भी नहीं, क्योंकि उनकी अपेचा तो इस सिद्धान्त के संस्थापक मूर्छ ही ठहरेंगे। किर इसपर विचार क्या किया जाय ? जो स्वयं अपने को मूर्छ स्वीकारकर दूसरे को मूर्छ कहता है, उस से शास्त्रार्थ ही कैसा ? जो दूसरों की दृष्ट में मूर्छ हो, उससे

कुछ कहा भी जाय, परन्तु जो दूसरों की दृष्टि तथा अपनी भी सम्मित से मूर्ख ही है, उसका कहना ही क्या? पूर्व के लोग तो गत ही हो चुके; अग्रिम शिष्य, विकास-क्रम के अनुसार, गुरुओं से भी अधिक विवेकी ही होंगे, तो फिर सिवा निर्माता के इस विकास-सिद्धान्त का उपयोग भी किसके लिए है ?

कि प्रायः यह कहा जाता है 'कुछ पूर्वंशिच्तित ज्ञान और कुछ काल द्वारा उपलब्ध ज्ञान, ये दोनों मिलकर बहुत हो जाते हैं।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ज्ञान काल द्वारा प्राप्त हुआ है, वह यदि शिच्तित ज्ञान के अनुरूप ही है, तो फिर शिच्ति ज्ञान के अनुसारियों में मूल पुरुषों से अधिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यदि शिच्तित ज्ञान से विपरीत ही ज्ञान काल से प्राप्त होता है, तो शिचा ही व्यर्थ है। जब शिच्तित ज्ञान से विरोधी ज्ञान ही काल से प्राप्त होगा, तब शिच्तित के स्वरूप-नाश से भिन्न शिचा का और कोई भी फल नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि शिच्तित ज्ञान के अनुसार ही ज्ञान-विस्तार मान्य हो, तो फिर उसी परम्पराप्ताप्त शिच्ता को ही तो शास्त्र कहा जाता है, क्योंकि अनादि परमपुरुष परमात्मा से ही शिच्ता माननी चाहिये। प्रथम-शिचा-प्रवर्शक सर्वज्ञ परमेश्वर ही हो सकता है और उसके अनादि शिचा-बचन ही वेद-शास्त्र हैं।

कुछ लोगों के मन में यह बात समाती ही नहीं है कि वेद अपौरुषेय हो सकते हैं। जब लोक में कोई भी वाक्य या प्रत्थ बिना पुरुष की बुद्धि या प्रयत्न के नहीं बन सकते, तब यह कैसे माना जा सकता है कि पुरुष के प्रयत्न तथा बुद्धि की अपेदा न करके ही वेदों का प्राकट्य होता है। परन्तु थोड़े ही विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'जैसे एक कार्य होता है, वैसे ही सभी हों' यह अनिवार्य नियम नहीं है। देखते ही हैं कि घर आदि कार्य यद्यपि हस्तपाद आदि से समन्त्रित शरीरी द्वारा ही होता है, तथापि अङ्कुर आदि कार्य बिना देही के प्रयक्त के ही हो जाता है। सावयव एवं सादि होने से यद्यपि अङ्कुर में कार्यता का निश्चय है, तथापि वे किसी शरीरी से उत्पन्न नहीं हैं। इसी प्रकार यद्यपि वाक्यत्व, शास्त्रत्व वेदों में भी है, तथापि पुरुष के प्रयक्त या बुद्धि की अपेन्ना उन्हें रत्ती-मात्र नहीं है। जैसे अनादि-नियामक परमेश्वर और अनादि नियमय जीवों का होना सम्भव है, वैसे ही उनकी नियमन-पद्धति-रूप वेदों का भी अनादि होना सम्भव है। अनादि परमेश्वर के ज्ञान या निःश्वास-भूत वेदों की अनादिता में सन्देह ही किसको हो सकता है?

कुछ लोग कहते हैं कि 'शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों को मानने-वालों में कष्ट ही दिखाई देता है, अतः शास्त्र न सानना ही श्रेष्ठ है। परन्तु यह ठीक नहीं। जहाँ शास्त्र न माननेवालों की संख्या आधक है, वहाँ शास्त्र माननेव।लों को कष्ट है और जहाँ शास्त्र माननेवालों की संख्या आधक है, वहाँ उनके न मानने वालों को दुःख है। परन्तु बुद्धिमानों को तो यह सुनिश्चित है कि यथेष्ट चेष्टावाले वानर की अपेचा नर में यही विशेषता है कि वह शास्त्र मानता है और शास्त्रानुसार व्यवहार करता है। प्रमाणभूत चत्तु के बिना जैसे लोग सुख के भाजन नहीं होते, वैसे ही प्रमाणभूत शास्त्र के बिना भी प्राणियों को सुख नहीं होता। कहा जाता है कि लोक में तो विपरीत ही देखा जाता है। सशास्त्र दुःखी एवं अशास्त्र सुखी हैं। पर यह कहना विचार-शून्य है। तृप्ति को ही सुख कहा जाता है। पशुओं में भोजन और मनुष्यों में ज्ञान से तृप्ति होती है। ज्ञान शास्त्र से होता है। क्या ज्ञान सुख का प्रतिबन्धक है ? कौन-सा ऐसा सुखपात्र है, जो प्रमाण-विहीन हो। आरएयक पशुआं को भी ता सुख के

लिए श्रोत्र, चन्नु आदि प्रमाणों की अपेन्ना होती है। उनके वैगुल्य की यही विशेषता है कि उसमें में वे भी दु:खी होते हैं। मनुष्य की यही विशेषता है कि उसमें पशु-साधारण प्रत्यन्न, अनुमान प्रमाण हैं; साथ ही शास्त्र प्रमाण अधिक है। अतएव शास्त्रज्ञ शिन्नक है और पशु उससे शिन्ना पाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'यद्यपि शास्त्रज्ञ श्रेष्ठ है, तथापि शास्त्र तो दुर्लभ है। वेद में तो असम्भव बातों की भरमार है। कहीं सौ वर्ष की आयु, फिर कहीं पुराणों में सहस्र-लच्च वर्ष की आयु मी वर्ष की तो बतलायी ही गयी है, पाप या पुण्य की प्रबलता से उसमें न्यूनता या अधिकता भी हो सकती है। प्राण, अपान के संयम से आयु की वृद्ध एवं उनके अपव्यय से न्यूनता होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'वेदों में तो व्याकरण की अगुद्धिगं बहुत हैं, फिर वे परमेश्वर की वाणी कैसे हो सकते हैं?' परनु यह बात भी नहीं ठहरती, क्योंकि कृत्रिम वचनों में ही गुद्ध अगुद्ध का विचार करना युक्त है। लता की सहजसिद्ध विक्रमा पर कौन घृणा करता है?

पाणिनि प्रभृति कृतिम वचनों का शासन करते हैं, अर्थात् बतलाते हैं कि यह साधु एवं यह असाधु है। परन्तु अकृतिम वचन होने से वेदों के सभी शब्द साधु (शुद्ध) ही हैं। इसीलिए "छन्दिस ह्यानुविधिः" यह सृत्र है। अकृतिम, सर्वज्ञ भगवान का अकृतिम वचन ही वेद है। कृतिम कार्य-कारण सङ्घात के अभिमानी समस्त मनुद्धों को अवश्य ही वेदों का अर्थज्ञान और सम्मान करना चाहिए।

यह भी कहा जाता है कि 'जब निराकार परमेश्वर को मुख ही नहीं, तो उसे वेदों का निर्माता और कर्ती

कैसे माना जाय ?' परन्तु यह कथन तो तब सक्तत होता, जब कि ईश्वर भी जीवों के समान ही अल्पज्ञ होते। जब परस्पर अत्यन्त विलक्षण अनन्त प्रपञ्च के निर्माता भगवान हैं, तब विचार करने पर वे भी सबसे विलक्षण सिद्ध होते हैं, फिर वे क्या नहीं कर सकते ? कहा जा सकता है कि फिर ऐसा परमेश्वर दीखता क्यों नहीं ? परन्तु उत्तर स्पष्ट है कि वह सर्वविलक्षण है, इसीसे नहीं दीखता। प्रश्न होता है, तो क्या वह किसीको भी दीखता है ? समाधान यह है कि प्रमाता और प्रमाण के योग से प्रमेय का बोध अवश्य ही होता है।

वेदों का स्वतः-प्रामाग्य

: ?:

कुछ लोगों का कहना है कि 'शब्द और अर्थ के सङ्केतरूप सम्बन्ध की कल्पना शब्द और अर्थ की सृष्टि के बाद ही हुई, चाहे वह कल्पना परमेश्वर ने की हो, या किसी जीव ने । अर्थतत्त्वज्ञानपूर्वक जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी-को प्रामाणिक जन प्रमाण मानते हैं। ऐसे ही एवं शब्द-प्रयोग-कर्ता के ज्ञान-प्रामाण्य के अधीन शब्द का प्रामाण्य होता है।

पुरुषों में भ्रम, प्रमाद, लोभ, वित्रलिप्सा आदि दोष होते ही हैं, अतः उनके वाक्यों के इन दोषों से दूषित होने की सम्भावना रहती है। फिर भी लोक में प्रमाणान्तरों से पुष्ट होने पर उसकी प्रामाणिकता हो भी सकती है। जैसे किसीने कहा कि 'अमुक वाटिका में शेर के बच्चे जिलाये हैं', तो सुननेवाला जाकर देख सकता है और ठीक होने पर ऐसे वाक्य को प्रामाणिक भी कहा सकता है।

वेद तो प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ का प्रतिपादन करते हैं प्रमाणान्तर से उसकी पुष्टि की सम्भावना ही नहीं। ऐसी अवस्था में उनकी प्रामाणिकता कैसे हो सकती हैं? कहानी सरीखे वाक्यों का प्रामाण्य ही क्या है ? अतः बहुत सम्भव है कि वक्ता के भ्रम आदि दोषों से वेद अप्रामाणिक हों।

महर्षि जैमिनि ने "औरपत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः स्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपळव्धेऽर्थे तत्प्रमाण्य् बादरायणस्यानपेच्चत्वात्" इस सूत्र से उक्त समस्त शङ्काओं का उन्मूलन कर दिया है।

वेद किसी समय नवीन नहीं उत्पन्न हुआ, वह नित्य है। यद्यपि स्वर्ग आदि पदार्थ अनित्य ही हैं, तथापि स्वर्गत्व आदि जातियाँ नित्य हैं और उनमें ही शब्दों की शक्ति है। अतः वैदिक शब्दों का अर्थों से नित्य सम्बन्ध है, किसीका कल्पित नहीं है।

कहा जाता है कि 'सृष्टिकाल में ईश्वर ही भिन्न-भिन्न शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ सम्बन्ध-बोध कराता है। परन्तु निराकार ईश्वर किस तरह सम्बन्ध-बोध करा सकता है? यि लीला-विम्नह धारण करके ईश्वर सम्बन्ध-बोध कराये, तो भी उसे सम्बन्ध-बोध कराने के लिए अवश्य ही कुछ ऐसे शब्दों की आवश्यकता होगी, जिनका अर्थसम्बन्ध लोग पहले से ही जानते हों। ईश्वर इङ्गित या अभिनय से सम्बन्ध-बोध करा देगा, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्यों कि इङ्गित या अभिनय सीमित होते हैं और शब्द अनन्त हैं। जिस शब्द-बारिधि का इन्द्र आदि ने भी अन्त न पाया, उसके सम्बन्धबोधनार्थ अनन्त अभिनय चाहिए। परन्तु यह सम्भव नहीं है। यि सम्बन्ध-बोधनार्थ कुछ शब्दार्थसम्बन्धों को नित्य मानना ही है, तो सभी शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य ही क्यों न माना जाय श

गोशब्द और गौ अर्थ का सम्बन्ध अनादि काल से ही चला आ रहा है, यही मानना ठीक है। जिन नवीन अर्थों का नवीन नामकरण विदित हो रहा है, उनको भले ही कुत्रिम मान लिया जाय। परन्तु जिन के सम्बन्ध का काल और कर्ता प्रमाण-सिद्ध नहीं है, उनको अनादि मान लेने में कोई भी आपिरा

नहीं होनी चाहिए।

वेद के विधि-वाक्य उन्हीं अथीं का बोधन करते हैं, जो दूसरे स्वतन्त्र प्रमाणों से जाने नहीं जा सकते। जैसे धर्म, स्वर्ग आदि। लौकिक-वाक्य, पुरुषाश्रित श्रमादि दूषणों से दूषित होने के कारण अप्रामाणिक भी हो सकते हैं, परन्तु वैदिक विधि वाक्य सर्वथा प्रामाणिक ही होते हैं। कारण यह है कि वे अपने अथवोधन में दूसरे प्रमाणों तथा वक्ता के ज्ञान-प्रामाण्य की अपेचा नहीं करते; अतः स्वतःप्रमाण नित्य हैं। लौकिक वाक्यों के समान उनका कोई भी निर्माता नहीं है। यही कारण है कि निर्माता के दोषों से वेदों के अप्रमाण होने की शङ्का ही नहीं हो सकती। यही मत भगवान वेद्व्यास और उनके शिष्य जैमिन का है।

वाक्यों के प्रमाण न होने में दो ही कारण हो सकते हैं— एक तो निर्माता के भ्रम आदि दोष और दूसरा वाक्यार्थ में प्रवल प्रमाण से वाक्य का निश्चय। वेद नित्य हैं, नित्य पदार्थ निर्मित नहीं होते। जो निर्मित नहीं, उसमें निर्माता का दोष कहाँ से आयेगा? दूसरी बात यह है कि वेदोक्त अर्थ दूसरे प्रमाण का विषय ही नहीं है, अतः उसका बाध अर्थात् मिध्यात्विनश्चय नहीं हो सकता।

अबोधकता भी अप्रामाएय का एक कारण है। यथा—''जर-द्गव, कम्बल और पादुकाओं से द्वार पर बैठा हुआ भद्रगीत गाता है। उससे पुत्रकामा ब्राह्मणी ने पूछा कि हे राजन्! हमा।
नमक का क्या अर्थ है—"जरद्गवः कम्बलपादुकाम्यां द्वारिश्या
गायित भद्रकाणि। तं ब्राह्मणी पृच्छित पुत्रकामा राजन् कमाय
लवणस्य कोऽर्थः॥" ऐसे अर्थ-हीन वाक्य भी अप्रमाण है
पर वेदों में ऐसी अबोधकता भी नहीं है। यह सन्देह भी किया
जाता है कि जब अभ्युद्य और निःश्रेयस् का साधन धर्म है और
धर्म भी अनुष्ठान के द्वारा ही स्वर्गादि अभ्युद्य का साधन होत है और अनुष्ठान (भावना) का ज्ञान प्रत्येक कियापद से है
जाता है जो सभी वाक्यों में होते हैं, क्योंकि बिना किया
पद के वाक्य की पूर्ति नहीं होती; तब बिना प्रेरणा, अब्बा
(विधि) के भी अन्य किया-पदों से ईप्सित ज्ञान हो सकता है।
जैसे—'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग होता है' ऐसे कियाप
वाले वाक्यों से ज्ञान हो जाता है कि यागादि धर्म, स्वर्ग
आदि अभ्युद्य के साधन हैं, फिर वाक्य में विधि की क्या
आवर्यकता है ?

यदि कहा जाय कि धर्म में पुरुष की प्रवृत्ति कराने के लिए 'यजेत' 'जुहुयात' (यज्ञ करे, होम करे) आदि विधि-वास्य की आवश्यकता पड़ती है, सो भी ठीक नहीं। बिना धागादि धर्म में रुचि हुए विधि-वाक्य पुरुष को बलात्कार से यागादि में प्रवृत्त नहीं कर सकते। अन्य वाक्यों की भाँति विधि की भी इतना ही कार्य है कि 'याग स्वर्ग का साधन है, अतः करता चाहिये' इस बात का बोध करा दे। ऐसे ज्ञान से यदि पुरुष की याग करने की इच्छा होती है, तभी वह याग में प्रवृत्त होती है। यदि ये सभी कार्य विधि-व्यतिरिक्त आख्यात (क्रियापद) उक्त वाक्यों से भी हों, तो किर विधि की क्या आवश्यकता है। यदि कहा जाय कि "वाह्यणी न इन्तव्यः" इत्यादि

निवृत्ति-सिद्धि के लिए विधि-वाक्य अपेक्ति हैं, सो भी ठीक नहीं।
ये सब कार्य प्रतिषेध-बोधक 'न' से हो जायँगे। 'ब्राह्मण्-वध्य अनिष्ठ का साधन है, 'नहीं करना चाहिए' ऐसा ज्ञान होने पर भी निवृत्ति तो पुरुष की इच्छा के ही अधीन है। तब अग्नि-होत्र आदि धर्म को वैदिक-वाक्य-बोधित अर्थ कहने में क्या हानि हैं?

बात यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला यह करें) इत्यादि वाक्यों में यदि विधि न हो तो यह अर्थ करना होगा कि "स्वर्गकामनावाला यह करता है"। अर्थात् अनुष्ठानरूप भावना का साध्य कार्य याग हुआ और वह याग पिश्रम और द्रव्य-साध्य होने के कारण दुःखरूप ही है। ऐसी स्थिति में प्राणियों की दुःखमय याग में प्रवृत्ति कैसे होगी? यदि विधियुक्त वाक्य होगा, तो विधि से प्रेरणा का बोध होगा और प्रेरणा से प्रयत्न-रूपी भावना पुरुष से उत्पन्न होगी। वह भावना दुःखात्मक याग को छोड़कर ईप्सित सुख-मय स्वर्ग को ही अपना लह्य बनायेगी।

वह याग जब साधन-रूप से भावना के साथ सम्बद्ध होता है, तब विधिवाक्य का यह अर्थ हो जाता है कि याग से स्वर्ग को उत्पन्न करो। ऐसी स्थित में 'यह भावना स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली है' ऐसा ज्ञान होने पर पुरुष की प्रवृत्ति अवश्य होगी। इस भाँति याग की भावना में पुरुषों की प्रवृत्ति होने के लिए ही विधि की आवश्यकता होती है, क्योंकि विधि से ही याग में स्वर्ग-साधनता तथा धर्मरूपता सिद्ध होती है, तभी विधिवाक्य धर्म में प्रमाण कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त सृत्र में 'त्रानुपलब्धेऽर्थे' इस अंश से यह विवित्ति हैं कि अस्मरण त्रानुभव से गृहीत अर्थ का ही प्राहक है, अतः स्मरण स्वतःप्रमाण नहीं है। परन्तु यह विधिवाक्य उस प्रकार का नहीं है, किन्तु जो अर्थ प्रमाणान्तर से अविज्ञात है उस अर्थ का माहक होने से स्वतन्त्र रूप से प्रमाण होता है।

ये ही विधि-वाक्य, उसका अर्थभाग भावना आदि और उस का मूल स्वर्ग आदि यदि कोई वस्तु हों, तभी वेद के विधिमान धर्म आदि में प्रमाण हो सकते हैं। यदि ये सब मिध्या हैं, तो विधि का प्रामाण्य सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय से बौद्धों के निरालम्बनवाद का भी शबरस्वामी ने खण्डन किया है।

विधि-वाक्यों की धर्म में प्रामाण्य-सिद्धि के लिए स्फोटवाद् का भी वार्तिककार ने खण्डन किया है, क्यों कि अर्थावबोध स्फोट से भी उत्पन्न हो सकता था, फिर मन्त्रों में पदादि का ऊह कैसे बन सकता? एक देवता के मन्त्र से जब अन्य देवता का कार्य यागों में किया जाता है, तो पूर्व देवता का नाम छोड़कर इसी मन्त्र में दूसरे देवता का नाम जोड़ लिया जाता है। मन्त्र जैसा का तैसा ही रहता है। इसी नाम बदलने को 'ऊह' कहते हैं।

"श्रमये त्वा जुष्टं चरं निर्वपामि" इस मन्त्र का सौरयाग में विनियोग होने से 'श्रग्नये' इस पद के स्थान में 'सूर्याय' पद जोड़ा जाता है।

इस प्रकार घट आदि अर्थ के अनित्य होने से घट आदि शब्दों का अर्थ अनित्य ही होगा, तो यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि के अनन्तर किसीने शब्दों और अर्थों का सक्क त किया होगा और वैदिक शब्दों को भी उस सक्केत करनेवाले पुरुष की अपेचा होगी। अतः वेद का अनपेचत्व-रूप स्वतः-प्रामाण्य बाधित होगा, अतः घटत्वादि रूप जाति को नित्य मानकर वही घटादि शब्दों का अर्थ है—यह निश्चित किया गया है।

इस तरह नित्य शब्द का नित्य अर्थ के साथ स्वाभाविक

सम्बन्ध है, वह कृत्रिम नहीं है। अतः सङ्केतकार की अपेचा न होने से वेदों का स्वतः प्रामाण्य ही सिद्ध होगा। जाति ही मोमांसकों की आकृति है। बौद्ध लोग जाति-पदार्थ नहीं मानते हैं। बौद्ध अन्यापोहरूप ही जाति मानते हैं। इसीलिए अपोह-वाद का भी निरास करके जाति को भावरूप कहा गया है।

बौद्धमत में घटादि-पदार्थ परमाणु-पुझमात्र ही है। जैसे, वन वृत्त-समुदाय से अलग नहीं होता, वैसे ही अवयवीं से पृथक् अवयवी भी नहीं होता। इस मत का खरडन करके कहा गया है कि यदि परमाणुओं का समुदाय ही घट हो, तो परमाणु के अप्रत्यत्त होने से घट आदि को भी अप्रत्यत्त ही कहना पड़ेगा। फिर इस प्रकार व्यवहार का चलना ही असम्मव हो जायगा। इतना ही नहीं, शब्दों का इन अदृश्य अथों में सङ्केत-प्रह कैसे होगा? इस प्रकार शब्द को प्रामाण्य-वाद ही वाधित हो जायगा। इसीलिए वनादि दृष्टान्त से वैषम्य दिखलाकर वनवाद-प्रकरण में वार्त्तिककार ने घट आदि हप अवयवी सिद्ध किया है। ईश्वरेच्छारूप सङ्केतवाले पत्त में भी वेद-प्रामाण्य सन्दिग्ध हो सकता था, इसीलिए वेदकार स्वरूप से ईश्वर का निराकरण किया गया।

इसी तरह चित्रादि यागों के फल पशु, वृष्टि आदि प्रत्यच्च ही हैं। कभी चित्रादि याग करने पर भी पशु आदि फल नहीं मिलते। अतः ऐसी विधियों का प्रामाण्य बाधित होगा—इस राङ्का का समाधान चित्राचेपपरिहार-प्रकरण में कर्ल-क्रिया-वैगुण्य आदि के द्वारा किया गया है। इसी तरह "स एवं यज्ञा-अभी आत्मा अञ्जसा स्वर्ग लोकं याति" इत्यादि वचनों से मालूम पड़ता है कि यज्ञायुधवाला यजमान स्वर्ग जाता। है परन्तु यजमान को यहीं जल जाना है। इस तरह एक वैदिक वाक्य के अप्रामाण्य होने से उसके साम्य से सभी वेद का अप्रामाल हो सकता है। इसका समाधान देहादि से भिन्न आत्मा सिंह

करके किया गया है।

इसी भाँति 'श्रनपेन्नत्वात्' इस श्रंश में भी दो बातें विविद्यात् हैं। एक तो यह कि ज्ञानों की प्रमाणता स्वतः ही है, कारण यह बात गुण या संवाद से नहीं है। अर्थ के अनुसार ही प्रमाणों का प्रामाणय होता है। प्रमाण अपने विषय के साथ उसकी प्रमाणता को भी प्रहण कर लेता है और अर्थप्रामाण्य के अधीन ही प्रामाण्यव्यवहार होता है। अप्रमाणता स्वतः नहीं, किन्तु परतः है; क्यों कि अर्थान्यथात्व ही अप्रामाण्य है और वह बाधकज्ञान, कारणदोषज्ञान और विसंवाद्ज्ञांन से ही गृहीत होता है। जैसे रज्जु में सर्पज्ञान का अप्रामाण्य दीपकादिसापेन रज्जुज्ञान आदि से ही होता है।

दूसरी बात यह है कि लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य वक्ताओं के यथार्थ ज्ञान के अधीन होता है, अतः लौकिक वाक्यों में किसीका प्रामाण्य और किसीका अप्रामाण्य भी हुआ करता है। पर वेदों का कोई कर्ता नहीं है, अतः उनमें वक्ता के अज्ञान आदि दोषों से अप्रमाण्या की शङ्का भी करना युक्त नहीं है।

साङ्ख्य-योग के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वत:-मान्य होता है, क्योंकि जो सामर्थ्य जिसमें स्वाभाविक नहीं है, वह अन्य से नहीं हो सकती। कहा जा सकता है कि 'उनके अनुसार वेद का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वाभाविक होंगे। फिर दोनों में से किसी एक की निर्णय न होने से वेद का अप्रामाण्य ही ठहरेगा।' पर यह कथन ठीक नहीं। साङ्ख्य आदि दार्शनिकों के अनुसार गुड़ में पिष्टता के तुल्य वेद में प्रामाण्य स्वाभाविक है। अनादिशिष्ट

वरम्परा से परिगृहीत होने के कारण प्रामाण्यप्रह सुकर है। शिष्ट-परम्परा से वेद में अप्रामाण्य वैसे ही अगृहीत है, जैसे गुड में तिकता। अतः शिष्ट-परिम्रह से अप्रामीएय प्रत्याख्यात है।

यदि कहा जाय कि 'वेद के स्वाभाविक प्रामाएय में क्या प्रमाग है ?' तो उत्तर यही होगा कि स्वभाव पर आदोप वैसेही नहीं हो सकता, जैसे गुड़ की स्वामाविक मधुरता पर कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जैसे गुड़ की मधुरता अनादि-प्रत्यच-परम्परा से मान्य है, वैसे ही वेद का प्रामाएय भी अनादि शिष्टपरम्परा से निश्चित है। जैसे, गुड़ की तिकता कोई नहीं मानता है, वैसे ही वेद की अप्रामाणिकता भी अनादि शिष्ट-परम्परा की स्वीकृति के विरुद्ध है। मानवधर्मशास्त्र की प्रवृत्ति 'श्रामीदिदं तमीभूतम्' इत्यादि पद्यों से साङ्ख्य या वेदान्त मत के अनुसार है। मनु वेदों का स्वतः प्रामाण्य मानते हैं।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार ज्ञान का प्रामाएय एवं अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः नहीं ज्ञात होते। बात यह है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है-प्रमाण एवं अप्रमाण। कारणों के गुणानुसार ज्ञान में यथार्थतारूप प्रमाणता होती है। कारणों के दोषानुसार यथार्थतारूप अप्रामाणिकता होती है। अर्थात् जिस ज्ञान के कारण रोगादि दोषों से दूषित होते हैं, वह अप्रमाण

होता है।

कहा जा सकता है कि 'इस मत के अनुसार वेद पौरुषेय या इंश्वरिनिर्मित हैं;—पुरुषों में भ्रम-प्रमाद आदि दोष होते ही हैं। फिर वेद से उत्पन्न ज्ञान में वेदकार पुरुष के दोष से अप्रमाणता ही होगी। परन्तु यह ठीक नहीं, क्यों कि भ्रम आदि दोष जीवों के ही स्वाभाविक हैं, ईश्वर के नहीं। उक्त मत में परमेश्वर के ज्ञान, इच्छा, प्रयत छादि नित्य

होते हैं। परमेश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। जगदीश्वर ही वेद के कर्ता हैं, तो फिर वेद की प्रमाणता में सन्देह ही कैसे हो सकता है ? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'श्रद्धा, विश्वास को छोड़कर ईश्वर में क्या प्रमाण है, क्योंकि इस समय उक्त प्रकार का कोई सर्वज्ञ पुरुष दृष्टिगोचर नहीं होता है। अनुमान से भी वैसे पुरुष की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसा करने में अन्योन्याश्रय दोष है। यदि कोई सर्वज्ञ सिद्ध होगा, तो उसके वाक्य का प्रामाण्य सिद्ध होगा और यदि वाक्य की प्रामा-णिकता सिद्ध होगी, तभी उसके आधार पर सर्वज्ञ पुरुष सिद्ध होगा। अन्य पुरुषों के वाक्य पुरुषाश्रित भ्रम आदि दोषों से दूषित होंगे ही। यदि किसी नित्य आगम से ईश्वर की सिद्धि करें, तब तो वैसे वेद को भी नित्य माना जा सकता है। फिर वेदकार की कल्पना ही व्यर्थ है। यदि परमेश्वर सर्वज्ञ हो, तो भी उनको कोई सर्वज्ञ ही समभ सकता है। कारण यह है कि जो सब विषय को नहीं जानेगा, वह सर्वज्ञता भी कैसे जान सकेगा ? जो पुरुष घट को जानता है, वह घटज्ञ को जान सकता है। इसी प्रकार जो सर्वको जानेगा, वही सर्वज्ञ को जान सकेगा। इस तरह सर्वज्ञों की परम्परा कहीं समाप्त नहीं होगी और इस प्रकार अनवस्था दाष होगा और अनवस्था-भय से सर्वज्ञता भी समाप्त मानी जायगी। यदि ईश्वर की सवज्ञता जानने के लिए अन्य सवज्ञ की कल्पना करें, तो उसकी सवज्ञता जानने के लिए अन्य सर्वज्ञ की कल्पना करनी पड़ेगा। इस प्रकार उसकी सर्वज्ञता अज्ञात रहंगी, क्योंकि जो भी उस का सर्वज्ञती जानेगा, उस सर्वज्ञ ही कहना पड़ेगा। यदि वह अन्तिम सर्वज्ञ नहीं, तो उसीके समान पूर्व-पूर्व पुरुषों की भा सर्वज्ञता सिंह नहीं होगी। फिर मूलपुरुष इश्वर की भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं

हुई, तो उस से निर्मित वेदों का प्रामाण्य भी कैसे होगा? यदि श्रद्धामात्र से कोई सर्वज्ञ मानता है, तब तो फिर बुद्ध ने क्या अपराध किया है जो वे सर्वज्ञ न माने जायँ? यही बात वार्तिक-कार ने भी कही है—

"सर्वज्ञो हश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः । निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ॥ कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बह्रवस्तव । य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्धचते ॥ सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च योनैव स्यान्न तं प्रति । तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥

इन सब बातों का उत्तर नैयायिकों की ओर से दिया जा सकता है कि उक्त आपित्यों से एक-एक वस्तु का पृथक्-पृथक् ज्ञान-रूप सर्वज्ञता न भी कहीं हो, तो भी कोई हर्जं नहीं। कारण यह है कि कीट-पतङ्ग आदि के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है, परन्तु तत्त्वज्ञता, धर्मज्ञता तो ईश्वर में है ही।

> "कोटिसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः कोपयुज्यते। सर्व पश्यतु वा मा वा तत्त्विमष्टं तु पश्यति॥"

फिर भी कहा जा सकता है कि जिस युक्ति से सर्वज्ञता का खण्डन हुआ, उसी तरह अतीन्द्रियार्थदिशिता का भी खण्डन हो सकता है। तत्त्व एवं धर्म का स्वरूप चर्मचलुओं के लिए उर्माध है ही। फिर जो स्वयं धर्मज्ञ या तत्त्वज्ञ नहीं है, वह इंश्वर की धर्मज्ञता को भी कैसे जानेगा? इन्हीं युक्तियों से बुद्ध आदि आगमों की भी प्रामाणिकता खण्डित हो जाती है। भला, जहाँ मन्दराचल डूब जाता है, वहाँ परमाणु के डूबने का प्रश्न ही क्या है?

यदि नैयायिक वेदों को अपौरुषेय मानता है, तो प्रथम

55

उसके सिद्धान्त की हानि हुई। दूसरे अपीरुषेय होने के काए वेद का बक्ता न होने से वक्ता के गुण के आधार पर वेदों क

प्रामाण्य भी नहीं सिद्ध होगा।' उपयुक्त सारा वक्तव्य युक्तियुक्त नहीं है। जब अल्पज्ञ एव

आप्रजन से प्रणीत लौकिक वाक्य का भी प्रामाण्य मान्य होता है, तो समस्त आप्तों में शिरोमिणि, नित्य, सर्वज्ञ भगवान् से प्रणीत वेद में तो कैमुतिक न्याय से ही प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। सर्वज्ञता की सिद्धि 'न्यायकुसुमाञ्जलि', 'बौद्धियककार' आहि प्रन्थों में पर्याप्त रूप से है। यदि आकाश आदि की तरह वेह ईश्बर-प्रगीत न भी हों, तो भी वदों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं पड़ती है, यह आगे कहा जायगा है। यहाँ तो केवत प्रामाएय पर विचार चल रहा है, ईश्वर या उसकी सर्वज्ञता के खरहन-मरहन का यहाँ अवसर नहीं है। इस पर अत्यन पर्याप्त विचार किया गया है। हरएक व्यक्ति अपनी अपेचा अपने शिच्क की बहुज्ञता का अनुमान करके ही उससे शिचा प्रहण करता है। यदि वह भी शिच्नक की बहुज्ञता को न जाने, तो शिचा लेने में प्रवृत्त ही क्यों होगा ? यदि वह शिच्क की बहुइता को जान लेने से ही बहुइ हो गया, तो फिर शिवा प्रहण में प्रवृत्त क्यों होगा ? इस प्रकार सर्वज्ञता के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कहा-सुना जा सकता है।

बौद्धमत में ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः होता है, परन्तु प्रामाण्य परतः होता है। उनके अनुसार प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः नहीं हो सकते। बिना किसी अन्य कारण की अपेता किये ज्ञान का अन्धकार-प्रकाश के तुल्य परस्पर विरुद्ध प्रामाएय, अप्रामाएय दोनों नहीं हो सकते। जैसे वहि में शत्य एवं बौष्एय दोनों नहीं माने जा सकते, वैसे ही ज्ञान में

ब्रामाएंब-अप्रमाएय दोनों ही स्वतः नहीं कहे जा सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी खास ज्ञान का प्रामाएय माना जाय और किसी खास का अप्रामाएय, क्योंकि जब दोनों व्यक्तियों में ज्ञानत्व से भिन्न (अन्योन्यव्यावृत्त) कोई रूप इपलब्ध नहीं होता; तब फिर कैसे कहा जाय कि एक ज्ञान प्रमाग है और दूसरा अप्रमागा। यदि किसी अन्य कारण से ऐसा होता, तब तो प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। अतएव ज्ञान का स्वतः-प्रामाएय एवं स्वतः-अप्रामाएय नहीं कहा जा सकता। स्वभाव या तो आकाश के व्यापकत्व का सा नित्य होता है अथवा जल की शीतलता एवं अग्नि की उष्णता के तुल्य। यह तत्त्व जिसमें रहता है इसीके कार ए से उत्पन्न होता है। ज्ञानत्व रूप धर्म तो प्रमाण, अप्रमाग्-दोनों ही तरह के ज्ञानों में रहता है, अतः ज्ञानत्व के श्राधार पर किसी ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की व्यवस्था नहीं हो सकती। एक ही ज्ञान में प्रामाएय एवं अप्रामाएय दोनों ही मानने से साङ्कर्य दोष भी होगा।

'प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य'—दोनों ही परतः होंगे—न्याय-दर्शन का यह मत भी ठीक नहीं। इस तरह तो ज्ञान को निःस्वभाव ही मानना पड़ेगा। यहाँ विकल्प होगा कि उत्पन्न ज्ञान गुण्य-दोष-निर्णय के पहले किसी विषय का प्रकाश करता है या नहीं करता? यदि प्रथम विकल्प माना जाय, तब तो ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य ही हुआ। यदि द्वितीय विकल्प माना जाय, तब अप्रामाण्य ही स्वतः हुआ। यदि प्रामाण्य, अप्रामाण्य दोनों को ही गुण्य-दोष के पराधीन कहा जाय, तब तो गुण-दोष-निर्णय के पहले अनवधारणात्मक अथवा निःस्वभाव ही ज्ञान ठहरेगा। विचार करने पर यह बात जँचती नहीं। यह हो

नहीं सकता कि ज्ञान अर्थ का निर्धारण न करे। 'ज्ञान निर्विः षय होता है' यह कहना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। बात यह है कि ज्ञान, इच्छा आदि न्याय-मत में कभी निर्विषय नहीं हो सकते। अतः बौद्ध कहता है कि अप्रामाएय और कुछ नहीं, बल्क प्रामाण्याभाव ही है। अभाव अवस्तु ही होता है। वह दोष आदि किसीसे उत्पन्न नहीं होता। इसलिए दोष के आधार पर अप्रामाएय का निर्णय नहीं होता। इसलिए अप्रामाएय स्वतः होता है, प्रामाण्य परतः होता है, क्योंकि वह वस्तु है। वह गुग-जन्य होता है, अतः गुग-निर्णय के अधीन ज्ञान के प्रामाएय का निर्णंय होता है। इसके अतिरिक्त सर्प का ज्ञान कभी सर्प से होता है और कभी असर्पभूत रस्सी से भी सर्प का ज्ञान हो जाता है। अतः ज्ञानत्व-मात्र से उसके प्रामाएय का निर्णय नहीं हो सकता। अतः गुण-संवाद, ज्ञानान्तरसङ्गति अर्थिकया में से किसी एक के ज्ञान से ही ज्ञान की यथार्थतारूप प्रमाणता निर्णीत हो सकती है। इसीलिए प्रामाण्य परतः ही होता है, स्वतः कभी नहीं होता। यदि ज्ञान की प्रामाणिकता स्वाभाविक हो, तो स्वप्नादि ज्ञानों की भी प्रमाणता ही माननी पडेगी।

यह कहना भी ठीक नहीं। स्वप्नादि-ज्ञान की अप्रामाणिकता कारण-दोष से निश्चित होती है, क्योंकि अप्रामाणिकता, अभाव-रूप होने से किसीका कार्य नहीं। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि बौद्धमत में तो फिर सभी ज्ञानों का स्वाभाविक ही अप्रामाण्य होगा। इस तरह कोई भी ज्ञान प्रमाण न ठह-रेगा। परन्तु यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि बौद्ध मत में सभी ज्ञानों का स्वाभाविक अप्रामाण्य ही होता है, किन्द्र प्रामाण्य उसका अपवाद होता है। प्रामाण्य कारणसापेच होता है। स्व^दनादिज्ञानों के प्रामाण्य का कोई कारण नहीं है, अतः अनपेचित स्वामाविक अप्रामाण्य ही स्थिर रहता है।

प्रश्न होता है कि प्रामाण्य का क्या कारण है, जिसके अभाव से स्वप्नादि ज्ञानों का प्रामाण्य नहीं होता। परन्तु इसका समाधान यह है कि ज्ञान के कारण इन्द्रिय आदि में रहनेवाले सिन्नकर्ष आदि गुण ही प्रामाण्य का उपजनन करते हैं। स्वप्नादि ज्ञानों में इन्द्रियसिन्नकर्ष आदि गुण नहीं हैं, अतः उनका प्रामाण्य नहीं उत्पन्न हुआ।

यह गुणाभाव भी दो प्रकार का होता है। कहीं इन्द्रिय आदि के रहने पर भी उसके दोषों से गुणों का अपसारण होता है। जैसे शुक्ति में, रजत आदि भ्रमात्मक ज्ञान के स्थल पर इन्द्रियादि हैं भी; तो भी शुक्तिगत चाकचिक्यादि दोषों से इन्द्रिय-सम्बन्ध नहीं होने पाता। कहीं पर ज्ञान-साधन इन्द्रिय लिङ्गादि गुणों के आश्रय न रहने से गुणाभाव रहता है। जैसे, स्वप्नादि ज्ञान में; वहाँ सन्निकर्ष आदि गुणों के आश्रय इन्द्रिय आदि ही नहीं हैं।

राङ्का हो सकती है कि 'यदि अप्रामाण्य दोष के कारण नहीं होता, तो दोषों का ज्ञान होने पर अप्रामाण्य का बोध कैसे होता है ?' पर इसका समाधान यही है कि दोषों के द्वारा गुणों का निराकरण हो जाता है, अतः प्रामाण्य के कारण गुणों के न होने से प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः अनवोदित अप्रामाण्य ही शुक्ति-रजत, स्वप्न आदि ज्ञानों में स्थिर रहता है।

इस प्रकार अप्रामाण्य-स्थिति का कारण अपवाद का अभाव है। अपवाद के अभाव का कारण गुणाभाव है। निष्कर्ष यह कि गुणाभाव ही अप्रामाण्य का कारण है, दोष तो अन्यथा- सिद्ध हैं। उन अन्यथासिद्ध दोषों में ही मीमांसकों को अपार माण्य की कारणता का भ्रम होता है।

वस्तुतः ज्ञानों का अप्रामाण्य औत्सर्गिक ही होता है। इसके अतिरिक्त अप्रामाण्य-सामान्य के साथ दोषों का अन्वक व्यतिरेक भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अज्ञान-लच्चगा अपा माएय में कोई दोष नहीं है। जैसे, अनर्थक शब्दों से ज्ञानन होना ही उनकी अप्रामाणिकता है। वहाँ कोई दोष कारण कहा जाय, सो भी नहीं। असल में, पहले से व्यवहार में न उत्तरने के कारण उन शब्दों से अर्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस बौद्धमत के अनुसार स्वप्नादि ज्ञानों के तुल्य वेद से उत्पन्न ज्ञानों में भी अप्रामाणिकता स्वाभाविक ही है। प्रामाएय के उत्पन्न होने का कोई कारण है नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषे हैं, अतः वहाँ कारण भूत वक्ता के गुण की सम्भावना ही नहीं है। साथ ही वेद ऐसे अथाँ का बोधक है, जिसका प्रमाणान्तर से संवाद भी नहीं हो सकता। वेद अविद्यमान एवं अदृष्ट भवा अर्थ का बोधक है, अतः अर्थिकया का भी कोई प्रश्न नहीं डठता। इससे स्पष्ट है कि प्रामाण्य-कारण न मिलने से स्वाभा विक अप्रामाणिकता अनवोद्ति ही रहती है। यदि पौरुषे हों, तो भी भ्रम, प्रमाद आदि से दूषित होने से वेद अप्रमाण ही रहेंगे।

मीमांसकों ने बौद्धों के उक्त मत का पूर्ण रूप से खर्डन करके सिद्ध किया है कि विज्ञानों का प्रामाएय स्वतः और अप्रामाएय परतः होता है—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् । नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥" श्रात्मलामे च भावानां कारणापेचता भवेत्। लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु॥"

-श्लोकवार्त्तिक।

यदि ज्ञान में अपने विषय की यथार्थता निर्धारण करने की स्वतः शिक्त न होगी, तो वह दूसरे से कैसे उत्पन्न होगी। फिर तो कभी भी अर्थ-निर्धारण ही न होने से जगत् की अन्धता ही प्रसक्त होगी। अतः समस्त प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः है, क्यों कि यदि उनमें अपने विषय की सत्यता के निश्चय कराने की शिक्त न हो, तो वह शिक्त और कहाँ से आ सकती है ? फिर तो किसी को किसी अर्थ का निर्णय ही न होगा। यदि कहा जाय कि 'प्रमाणों के गुणानिश्चय से प्रामाण्य निश्चत होगा', तो प्रश्न छेगा, कि वे गुणा कौन हैं ? यदि विशुद्धि या निर्मलता को गुण माना जाय, तो फिर यह मलरूप दोष का अभाव ही हुआ। निर्मलता कोई गुणा नहीं है। यदि इस दोषाभाव को ही गुणा मान लिया जाय, तब भी यह दोषाभावरूप गुणा अपौरुषेय वेद में मिलता ही है।

अतः यदि प्रामाण्य को गुणाधीन भी मानें, तो कोई चित नहीं है; क्योंकि जब वेद किसीसे उत्पन्न नहीं है, तो पुरुषाश्रित दोषों का अभाव स्वाभाविक ही है। अतः उन की स्वतः-प्रमाणता में कोई चृति नहीं है।

विवेचन करने पर गुण से प्रामाण्य की सिद्धि दुर्घट है, क्योंकि यदि विज्ञान की यथार्थविषयता (सम्बन्ध आदि) गुण के अधीन हैं, तो प्रामाण्य-कारणभूत गुणों की अवगति से घटादि विषयों की यथार्थता ज्ञात होगी। फिर तो गुणज्ञान के प्रामाण्य में भी वही विपत्ति उठ सकती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि विषय की यथार्थता या अर्थतथात्व ही ज्ञान का प्रामाण्य है।

यदि प्रामाण्य का निर्णय गुणों के अधीन माना जाय, ते तो दोष-युक्त चलुओं से, 'पीतः श्रृष्ट्वः' ऐसे ज्ञान में कोई मी सल अंश नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं। वहाँ भी शृष्ट्वाद्वि सत्य अंश है, अतः स्वकारणिनिमित्त ही ज्ञान में यथार्थता है। अप्रमाणता दोष से होती है, वह दूसरी वस्तु है। 'पीतः शृष्ट्वः' ऐसे ज्ञानों में शृष्ट्वज्ञान स्वकारण इन्द्रिय से जन्य है, अत वह अंश सत्य है, और पीतता का ज्ञान पित्तरूप दोष से हुआ, अतः वह अंश मिध्या है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि गुरारूप कारण से उत्पन्न होनेवाली प्रमा (यथार्थ ज्ञान) होती है, तो भी स्वतः प्रमाण ही कहना युक्त है। अर्थात् अपने विषय का निश्चय कराने में वह यथार्थज्ञान किसी अन्य गुराादि की अपेत्ता नहीं रखता, क्यों कि हर एक पदार्थ को अपनी उत्पत्ता में द्रण्ड, चक्र, कुलालादि कारणों की अपेता होती है, पर जलानयनादि में उन की अपेता नहीं होती। वैसे ही ज्ञान भी भले ही उत्पत्ति में गुण और इन्द्रियादि की अपेत्ता करे, परन्तु उत्पन्न होने के बाद अपने विषय की सत्यता का निश्चय कराने में उसे किसी हेतु की अपेता नहीं है। विषयसत्यता के निश्चय को ही यथार्थता भा प्रमाणता कहते हैं। अब उसमें किसी कारणा की अपेता नहीं है। अव उसमें किसी कारणा की अपेता नहीं है।

परतः प्रामाण्य-पत्त सम्मत नहीं है, इसिलये स्वतः-प्रामाण्य मानना अनिवार्य है, क्यों कि यदि ज्ञान उत्पन्न होकर भी, अपने विषय की यथार्थता के निश्चय के लिए स्वकारण इन्द्रियादिकों के गुणिनश्चय की अपेत्वा करेगा। तब तो फिर गुणिनश्चय के लिए निश्चायक प्रमाणान्तर की भी अपेत्वा होगी। कारण यह कि जब वह गुण स्वयं ही प्रमाण से निश्चित नहीं है, तब वह कि

ब्रान की यथार्थता (प्रामाण्य) का साधन कैसे होगा? अतः
गुण के निश्चय के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता होगी।
फिर गुणिनश्चायक प्रमाण को भी अपने प्रामाण्य के लिए
वैसे ही गुण और तत्साधन प्रमाणान्तर की अपेचा अनिवायं
होगी। इस भाँति सहस्रों जन्मों में भी कोई अर्थ निश्चित न
होगा, अतः प्रामाण्य का उच्छेद ही हो जायगा। इसलिए यदि
प्रामाण्य मानना है, तो स्वतःप्रामाण्य ही मानना युक्त है।

इस पर कहा जा सकता है कि 'प्रामाण्य के स्वतस्त्व मानने में भी—इसी प्रकार अनवस्था है, क्यों कि प्रामाण्य (विषय-सत्यत्व का निश्चय) तभी हो सकेगा, जब प्रामाण्य के बाधक दोषों का अभाव ज्ञात हो, और दोषाभाव निश्चय में प्रमाणता तभी होगी, जब इसके भी बाधक दोषों का अभाव निश्चत हो। इस अभावनिश्चय की भी प्रमाणता इसी तरह दोषाभाव निश्चय के अधीन है। इसलिए जैसे प्रमाणता के परतः होने के कारण गुणों की निश्चयपरम्परा में अनवस्था थी, वैसे ही प्रमाणता के स्वतः होने पर भी दोषाभाव के निश्चयों की अनन्त परम्परा होगी।

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणता के स्वतः होने में तभी अनवस्था हो सकती है, जब प्रमाणता-निश्चय में दोषाभाव-निश्चय की अपेद्मा होती। यहाँ तो दोष का निश्चय ही प्रमाणता के निश्चय का बाधक है। दोषों के ज्ञान से ही प्रमाणता का बाध और अप्रमाणता की सिद्धि होती है। जब तक दोष का ज्ञान नहीं होता, तब तक अप्रमाणता ज्ञान का स्पर्श ही नहीं कर सकती। अतः प्रमाणता स्वाभाविक ही है। इस भाँति स्वतः-प्रामाण्य-पद्म में अनवस्था को अवकाश ही नहीं है।

अग्नि में उद्याता तथा जल में शीतलता स्वाभाविक है,

इसी भाँति ज्ञान की प्रमाणता ज्ञान का स्वभाव (धर्म) ही है। जैसे अग्नि की स्वभावभूत उद्याता भी मिणा, मन्त्र, औषध आहि से बाधित हो जाती है, वैसे ही सर्वज्ञानादि की स्वभावसिक प्रमाणता भी दोष-ज्ञान से बाधित हो जाती है। 'नायं स्वभावसिक प्रमाणता भी दोष-ज्ञान से बाधित हो जाती है। 'नायं स्वभावसिक प्रमाणता भी सर्पज्ञान की प्रमाणिता की उत्पत्ति दो प्रकार के समत्ता स्पष्ट हो जाती है। अप्रमाणता की उत्पत्ति दो प्रकार के होती है—एक दोषज्ञान से, दूसरे विषयबाध से। इसलिए ज्ञान होती है—एक दोषज्ञान से, दूसरे विषयबाध से। इसलिए ज्ञान की अप्रमाणता परतः और प्रमाणता स्वतः मानना युक्त है।

बौद्ध मत की ओर से यह कहा जाता है, कि अप्रामाण परतः नहीं हो सकता, क्यों कि अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव-रूप होने से कोई वस्तु ही नहीं है। अतः अवस्तुभूत अप्रमाण में दोषजन्यता भी नहीं बन सकती। इसलिए अप्रमाणता दोष

जन्य न होने से परतः नहीं कही जा सकती।

यह भी ठीक नहीं, क्योंकि संशय और विपर्यंय की अप्रमा एता वस्तुरूप ही है। संशय में विरुद्ध विषयों का सम्बन्धरा अप्रमाणता है, और विपर्यंय में असत्य पदार्थं का सम्बन्धरा अप्रमाणता है। इन में दोषजन्यता माननी ही पड़ती है और ये दोनों अप्रमाणता भी ज्ञान की बाधिका हैं।

यहाँ जो यह शङ्का की जाती है कि जैसे प्रामाण्य के परत्तं मानने में अनवस्था कही जाती है, वैसे ही अन्नामाण्य के परत्तं मानने में भी अनवस्था हो सकती है। किसी एक प्रमाण की प्रमाणता के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता और इस दूस प्रमाण की प्रमाण की प्रमाण की आवश्यकी प्रमाण की प्रमाणता के लिए तीसरे प्रमाण की आवश्यकी होती है। ठीक वैसे ही एक अप्रामाण्य दूसरे के अधीन होते इस की सिद्धि तीसरे के अधीन होगी, क्योंकि जैसे प्रामाण्य हमाण है। इस पराधीनता है, वैसे ही अप्रामाण्य में भी पराधीनता है। इस की

हतर ग्रही है कि पराधीनतामात्र से अनवस्था नहीं हुआ करती, किन्तु अपनी समान जातिवाले दूसरों की अपेचा होने से अनवस्था होती है।

ब्रतः यदि प्रमाण का प्रामाण्य दूसरे प्रमाण के अधीन, ब्रीर इसका प्रामाण्य तीसरे के अधीन होगा, तब तो अनवस्था होगी। किन्तु अप्रामाण्य को तो अर्थान्यथात्व किंवा दोष के प्रमाणभूत ज्ञान ही की अपेत्रा है, अप्रमाण की नहीं। अतः एक अप्रमाण को अपने अप्रामाण्य के लिए दूसरे अप्रमाण-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। रज्जुसर्पज्ञानादि, जो प्राथमिक ज्ञान है, वही अप्रमाण होता है। 'नायं सर्पः' इत्यादि विशेष-ज्ञान बाधक ज्ञान है। पूर्वज्ञान की अप्रमाणता का निश्चायक होता हुआ ही यह उत्तरभावी ज्ञान उत्पन्न होता है।

विषय की असत्यता को ही अप्रमाणता कहा जाता है। बाधक ज्ञान स्वतःप्रमाण होता है, अतः उससे विषय की असत्यताह्म अप्रमाणता सहज में ही सिद्ध हो जाती है। इसलिए अनवस्था की सम्भावना अप्रमाणता के परतस्त्व-पन्न में नहीं है। यहाँ यह शङ्का होती है कि जब 'इदं रजतम' और 'नेदं रजतम' ये दोनों ही ज्ञान परस्पर-विरोधी हैं, तब क्या कारण है कि पृवंज्ञान बाध्य और उत्तर ज्ञान ही बाध्य क्यों न हो? पूर्वज्ञान ही बाधक और उत्तर ज्ञान ही बाध्य क्यों न हो? यदि पूर्वज्ञान के विषय की असत्यता का बोधक, किसी तीसरे ज्ञान की सहायता से, उत्तर ज्ञान का प्रावल्य या अपने विषय की सत्यता कही जाय, तो वैसे ही पूर्वज्ञान में भी ज्ञानान्तर की सहायता से प्रवल्ता कही जा सकती है। इस तरह सहायक की सहायता से प्रवल्ता कही जा सकती है। इस तरह सहायक कान भी परस्पर बाधक होने से अन्य ज्ञान की अपेना करेंगे, जिससे ज्ञान की अप्रमाणता में अनवस्था अपरिहार्य ही होगी।

इसका समाधान यही है कि पूर्वज्ञान से परज्ञान का का इसिलए नहीं होता कि पूर्वज्ञान-काल में उत्तर ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान को उत्पन्न ही न होने दें—यही बाध है; क्योंकि उत्तरज्ञान की अनुत्पत्ति तो कारण के अभाव से ही उपपन्न रहते है। फिर अनुत्पत्ति के लिए पूर्वज्ञान को हेतु मानने की क्या आवश्यकता है।

इसी तरह परज्ञान से भी पूर्वज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिकत्व नहीं होता, क्यों कि पूर्व पूर्वज्ञान तो उत्पन्न हो ही चुका है। यह भी नहीं कह सकते कि पूर्वज्ञान के समान किसी दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होने से ही 'नेदं रजतम्' 'नायं सफें इत्यादि उत्तरज्ञान की बाधकता है, क्यों कि उत्तरज्ञान के प्रक होने से पूर्वज्ञान की अमरूपता स्वतः ही होगी। अम का कारण इन्द्रिय आदि का वेष ही होगा और उस दोष की निवृत्ति से ही उत्तरज्ञान यथार्थ होगा। अतः उत्तरज्ञान के परवात पूर्वज्ञान के समान किसी दूसरे अमरूप ज्ञान के न उत्पन्न होने का कारण दोषाभाव ही हो सकता है। उसकी उत्पत्ति में परज्ञान को हेतु मानना सर्वथा बेकार है।

यह भी कहना उचित नहीं है कि द्वितीय ज्ञान की नाश ही दोष का हटना है और वही पूर्वज्ञान के समान ज्ञानान्तर का बाधक है। ज्ञान अपनी उत्पत्ति के तीर्म च्या में नष्ट होता है, अतः उत्तर ज्ञान का नाश और दोष की हटना एक ही बात हुई। पर ज्ञान के अनन्तर पूर्वज्ञान के सहश ज्ञानान्तर का उत्पन्न न होना परज्ञान के कारण ही है, पर्वी इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि परज्ञान ही दोष है। जब परज्ञान के नाश को ही दोष का हटाना सूर्वन विधी

तब तो स्पष्ट ही सिद्ध हो गया कि ज्ञान ही दोष है। परन्तु भ्रमहृष पूर्व ज्ञान के पहले बाध ज्ञान रूप दोष तो था ही नहीं तब वह भ्रम के प्रति हेतु कैसे हो सकता है? इसलिए यह पज्ञ भी असंगत है। ऐसे ही यह भी कहना ठीक नहीं है कि पर ज्ञान से पूर्वज्ञान का नाश होता है, क्योंकि यदि नाशक को ही बाधक कहा जाय, तो भ्रमात्मज पूर्वज्ञान से उत्पन्न होनेवाले समरणजनक संस्कार को भी, पूर्वज्ञान जा नाशक होने से बाधक कहना पड़ेगा।

श्रोर भी एक बात है कि प्रेमा भी अपने से उत्तर उत्पन्न होनेवाले आत्मिविशेषगुण इच्छादि से नष्ट होती है, सो उसे भी बाध्य होने के कारण भ्रम कहना होगा। 'पूर्वज्ञान के अप्रा-माण्य का निश्चय कराने से ही उत्तर ज्ञान को बाधक कहते हैं, यह पच्च भी संगत नहीं है; क्योंकि सर्पाभाव और रज्जु को ही विषय करनेवाले ज्ञान का, जब पूर्वज्ञान विषय ही नहीं है, तब वह उसके अप्रामाण्यका निश्चायक कैसे हो सकता है?

यह भी नहीं कह सकते कि "पूर्वज्ञान भ्रम है, सर्प के अभाववान रज्जुखएड में सप प्रकाशक-ज्ञान होने से', ऐसे अनुमान का उत्थापक उत्तर ज्ञान बाधक है।" क्यों कि ऐसा मानने पर दितीय ज्ञान के होने पर भी प्रकृत अनुमान के उत्थान से पहले अनपोहित होने के कारण पूर्व ज्ञान को प्रवर्तक होना चाहिए। 'यह ज्ञान भ्रम है' यह बुद्धि भी बाध नहीं है। किन्तु प्राह्म के अभाव का निश्चय ही बाध है, यही सबका सिद्धान्त है।

इसी प्रकार प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य यद्यपि स्वतः ही प्रसक्त था, तथापि द्वितीय ज्ञान से अपोहित हो जाता है। पूर्व धर्मों में ज्ञान के विशेषणीभूत अर्थ का अभावबोध होना ही पूर्व ज्ञान की बाध है। इस भांति पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान का बाधक नहीं होता,

क्योंकि ज्ञानान्तर से गृहीत विषय के अभावबोध को ही बा कहा जाता है। उत्तर ज्ञान न तो पूर्व ज्ञान से गृहीत अर्थ क अभावबोधन करता है, परन्तु उत्तर ज्ञान से गृहीत विषय अभाव का बोध पूर्वज्ञान नहीं करता। अतः वह बाधरूप नहीं

हो सकता।

यह भी नहीं है कि सभी पूर्वज्ञान अपने विरोधी विषयवाले उत्तर ज्ञान से बाधित होते हों। किन्तु तभी बाधित होते हैं जब कि उत्तर ज्ञानमें, दुष्टकारणाजन्यता के बोध से 'यह ऐस नहीं है' इस विषयान्यथात्वबोध का बोध न हो। यदि द्वितीय ज्ञान का बाधक ज्ञान विद्यमान हो, तब तो निरपवाद होका पहला ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है। द्वितीय ज्ञान से तृतीय ज्ञान बाधित नहीं होता, क्योंकि वही ज्ञान बाधक होता है जिसमें दोषज्ञान न हो। द्वितीय ज्ञान ऐसा नहीं है, क्योंकि तृतीय ज्ञान से द्वितीय ज्ञान की सदोषता विदित हो चुकी है।

यदि तीसरे ज्ञान में भी दोष निर्णय या बाधक ज्ञान उत्पन हो जाय, तो फिर द्वितीय ज्ञान से भी पूर्वज्ञान का बाध होता है। 'इदं रजतम्' यह प्रथम ज्ञान उत्पन्न हुआ। 'नेदं रजतम्' यह द्वितीय ज्ञान हुआ। 'नेदं रजतिमिति मिथ्याज्ञानम्' यह तीसा ज्ञान हुआ और 'नेदं रजतिमिति न मिथ्याज्ञानम्' यह बीधा ज्ञान हुआ। चारसे ऊपर पांचवी, सातवीं संख्यावाला इति ही कार्य करेगा, अतः उन्हें तृतीय ही सममता चाहिए। षष्ठ अष्ट्रम यादि, चतुर्थ ज्ञान के कार्य करनेवाले हैं, अतः उन्हें चतुर्थ है मानना चाहिए। इसीलिए अप्रामाएय-निर्णय में अनवस्था व होगी।

प्रकृत प्रसङ्ग में जो चार ज्ञान दिखलाये गये हैं, इतमें है वीसरा, चौथा तथा अन्यान्य जो भी ज्ञान होंगे, वे सब विषयवाले होंगे। उनमें एक ज्ञान के विषय को दूसरा ज्ञान विषय नहीं करता। अमामाण्य-ज्ञान तो बाधक-ज्ञान तथा कारण-दोषज्ञान से होता है और बाधक-ज्ञान साज्ञात पूर्वज्ञान को बाधता है, परन्तु कारण-दोषज्ञान पूर्वज्ञान के अमत्व-ज्ञापन द्वारा ही विषयान्यथात्वरूप बाध करेगा।

ज्ञान का अप्रामाण्य परतः होता है। इसीलिए ज्ञान के कारणों में दोष के संशय से ज्ञान के अप्रामाण्य का संशय हो जाता है। अतः प्रमाण में भी स्वाभाविकी अप्रमाणता-सी प्रतीत होती है। एवं स्वतः प्रामाण्य पन्न में भी अप्रामाण्य-संशय होता है। जैसे चन्नुरादि प्रमाणों का प्रामाण्य (सत्यज्ञान की उत्पादकता) स्वाभाविक है, वैसे ही शब्दों का प्रामाण्य स्वाभाविक है। पौरुष्य वाक्यों में अप्रामाण्य वक्ता के अमादि दोषों के अधीन होता है। जहाँ वक्ता के गुणों से दोषों का अभाव-निश्चय हो जाता है, वहाँ लौकिक वाक्य में भी स्वाभाविक प्रामाण्य बना ही रहता है, उसका अपोहन नहीं होता। और जहाँ दोषाभाव निश्चित नहीं हुआ, वहाँ लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य अपोहित हो जाता है, अतः वहाँ अप्रामाण्य होता है। यहाँ अपौरुषेय वेद का निर्माता तो कोई है ही नहीं, अतः अमादि दोषों का आश्रय ही नहीं है। इसलिए वेदों के औत्सिर्गिक प्रामाण्य का निराकरण नहीं हुआ। अतः वेद प्रमाण हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि 'लौकिक वाक्यों की प्रमाणता पुरुषों के यथार्थ-ज्ञानवस्व सत्यवकतृत्वादि गुणों से ही मानी जाती है। वेद का वक्ता न होने से जैसे उसमें दोष नहीं, वैसेही गुण भी नहीं, अतः फिर भी वेदों का अप्रामाण्य ही रहा' परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि गुण प्रामाण्य के कारण नहीं है यह

पहले ही कहा जा चुका है। दोष का न होना ही प्रामाएय का कारण है। लोकिक वाक्यों में वक्ता के दोष हो सकते हैं, अतः वहाँ अप्रमाणता भी हो सकती है। वेद का वक्ता कोई है ही नहीं, इसलिए बिना विवेचन के उसकी प्रमाणता अपने आप ही सिद्ध है।

यदि यह कहा जाय कि 'फिर भी दोषों के अभाव की आवश्यकता तो वेदों के प्रामाएय के लिए अपेद्मित ही है, फिर अपने आप (स्वतः) प्रमाणता कैसे हुई ?' सो भी ठीक नहीं. क्योंकि यहाँ दोषाभाव का उपयोग वेदों के प्रामाण्य में नहीं है। दोष से प्रामाण्य का अपवाद होना सम्भव है, क्योंकि दोषा-भाव के ज्ञान से अपवाद का अभाव जाना जाता है। इसिंतए प्रामाएय के अपवादाभाव में ही दोषाभाव को हेतुता है, न कि प्रामाएय में। जहाँ विपरीत बाधक ज्ञान से साज्ञात् ही पूर्वज्ञान का मिथ्यात्व (भ्रमत्व) जाना जाता है और जहाँ ज्ञान-कारण के दोषज्ञान से ज्ञान का मिध्यात्व-निश्चय किया जाता है, इन दोनों ही स्थलों में ज्ञान के अप्रामाण्य का कारण दोष ही है। गुगों का उपयोग दोषों के अभाव में है। अतएव दोष न होने से ही वेदों में किसी प्रकार का भी अप्रामाण्य नहीं होगा। स्वाभाविक प्रामाएय के अपवाद में कोई कारण नहीं है। अतः जब प्रत्यचादि प्रमाणों की तरह ज्ञान के कारण होने से पौर्षेय वाक्य में भी औत्सर्गिक प्रामाण्य का अपोहन नहीं होता, तो किर अपौरुषेय वेदवाक्यों की, जिनमें दोषाभाव स्वतःसिद्ध है, दृढ़तर प्रमाणता को हटा ही कौन सकता है ?

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि 'पौरुषेय वाक्यों में बिंद दोषाभाव गुणों से जाना जाता है और उनकी प्रमाणता के लिए होषाभाव की आवश्यकता है—इस पत्त में अनवस्था दोष आ जाता है।' सो भी ठीक नहीं है, जब गुणों को प्रामाण्य का कारण माना जाता है, तब तो उनका ज्ञान भी अपेत्तित होता है। अर्थात् ज्ञानमय होकर गुण प्रामाण्य के प्रयोजक होते हैं, इसिलए अनवस्था होतो है। परन्तु जहाँ दोषाभाव को ही प्रामाण्य का प्रयोजक मानते हैं, वहाँ तो गुणों की सत्तामात्र से दोषाभाव बन जाता है; वहाँ गुणों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। गुण अपनी सत्ता से ही दोषों को हटाकर प्रामाण्य के अपवाद को दूर कर देते हैं। प्रमाणों का प्रामाण्य स्वाभाविक हो रहता है, इसिलिए अनवस्था आदि कोई भी दोष नहीं हो सकता।

वेद में तो वक्ता न होने से गुण की अपेन्ना के बिना ही दोषभाव सिद्ध है। अतः यहाँ अपवाद की शंका भी नहीं हो सकती।
पौरुषेय बाक्य तो अपनी उत्पत्ति के लिए वक्ता की अपेन्ना
रखते हैं, अतः उनके प्रामाण्य में दोषाभाव की अपेन्ना होती
है, पर गुणों की नहीं। नैयायिक आदि दार्शनिकों ने ईश्वरोक्त
होने से वेद के प्रामाण्य-व्यवस्थापन का जो प्रयत्न किया है, वह
व्यर्थ ही है, क्यों कि जैसे पौरुषेय होने से नैयायिक वेद का
प्रामाण्य मानेगा, वैसे ही बौद्धादि भी अपने-अपने दर्शनों के
पौरुषेय होने पर भी उनका प्रामाण्य स्थापित करेंगे। यदि पुरुषाश्रित अम-प्रमादादि दूषणों से उनके प्रामाण्य को दूषित समभा
जायगा, तब तो वही आपत्ति वेदों पर भी लागू होगी। किर
नैयायिकों को सिवा शपथ के और कोई अवलम्बन ही नहीं रह
जायगा। इसलिए आप्तनिर्मित आगम का भी प्रामाण्य होता
है। अतः यदि वेद आप्तनिर्मित नहीं हैं, तो उनका प्रामाण्य
न होगा' यह कथन निर्मुल है।

यद्यपि पौरुषेय वाक्यों का भी प्रामाएय स्वतः, अपने आप ही होता है, तथापि पुरुषाश्रित दोषों से दूषित होने की शङ्का से उसका अपवाद भी हो जाया करता है। प्रामाए के इसी अपवाद का निवारणा करने के लिए पौरुषेय वाक्य का मूलभूत (जिस प्रमाण से वाक्यार्थज्ञानपूर्वक वाक्यका प्रयोग हुआ है) प्रमाणान्तर अवश्य ही अपेदित होता है। यदि पौरुषेय वाक्य का मूलभूत कोई दूसरा प्रमाण न होगा, तब तो पौरुषेय वाक्य अप्रमाणामूलक होने से अम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि दोषमूलक ही सममे जायँगे और उनका प्रामाण दोषों से अवश्य ही अपोहित हो जायगा। वेद में मृलभूत कोई प्रमाण न हो, तो भी अप्रमाणमूलकता का आदेप नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ वाक्यों का रचियता कोई पुरव निश्चित रहता है, वहीं वाक्यों को अप्रमाणमूलक कहा जाता है और वहीं दोष और उनसे स्वामाविक प्रामाएय के अपवाद की कल्पना की जा सकती है। जिन वाक्यों या ग्रन्थों का कोई रचियता मान्य ही नहीं, फिर उन वाक्यों में उपर्युक्त कारणों से अप्रामाण्य कैसे होगा ? प्रत्युत जैसे दोषाभाव वेदों के प्रामाण्य को पुष्ट करता है, वैसे ही मूलभूत प्रमाणान्तर का अभाव भी वेदवाक्यों के प्रामाण्य को अधिक पुष्ट करेगा।

प्रमाणान्तर से सिद्ध अर्थ के बोधक प्रमाण का तो स्मृति की तरह अप्रामाण्य ही समका जाता है। जब प्रमाणान्तरमूलकर्ता न होगी, तभी अज्ञातज्ञापकरवेन वेद का मुख्य प्रामाण्य सिद्ध होगा। अग्निहोत्र होम और स्वगं का हेतुहेतुमद्भाव प्रमाणान्तर से सर्वथा अज्ञात है, तभी "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" से सर्वथा अज्ञात है, तभी "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" है। इत्यादि वेदवाक्यों का अज्ञातज्ञापक होने से प्रामाण्य है।

यहाँ यह शंका उठायी जाती है कि 'मान लिया जाय कि प्रमाणों का प्रामाण्य गुण के परतन्त्र नहीं है, दोषाभावमात्र में उनका प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है। किन्तु 'प्रमाणान्तर का संवाद (सम्मित) भी प्रामाएय का कारण नहीं हैं यह कथन तो किसी भी तरह नहीं जँचता, क्यों कि यह प्रसिद्ध ही है कि प्रयत्तादि प्रमाण तथा पौरुषेय वाक्यादि में प्रामाएय की हढ़ता का कारण प्रमाणान्तर-सम्मति ही है। अर्थात् यदि दूसरे प्रमाण से मेल मिल जाय, तो प्रमाण का प्रामाण्य (सत्यवा) निश्चित हो जाता है और यदि किसी प्रमाण का दूसरे प्रमाण के साथ मिलान न हुआ, तब तो उसके प्रामाएय में सन्देह ही रहता है। शंका उठती है कि वेद में दूसरे प्रमाणों का मेल बिलकुल नहीं मिलता। फिर उनका हट प्रामाएय कैसे माना जाय ?' इसका उत्तर यही है कि प्रामाण्य (सत्यता) का कारण प्रमाणान्तर का संवाद कहीं भी नहीं देखा जहाँ एक विषय में अनेक विज्ञानों का संमद होता है, वहाँ वे सब ज्ञान अन्योन्यनिरपेत्त हो स्वतन्त्र रूपसे प्रमाण होंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी मिलकर एक के प्रामाण्य में उपकार करेंगे। ज्ञानान्तर-संवाद यदि ज्ञान के प्रामाण्य का हेतु हो, तब तो सहस्रों नैयायिकों से साधित शब्द की अनित्यता का मीमांसक लगडन न करते और न अनेक मीमांसकों द्वारा प्रसाधित शब्द-नित्यता का नैयायिक आदि ही खण्डन करते। अर्थात् यदि दो-वार नैयायिक या भीमांसकों के ज्ञानों से एक ज्ञान का मेल मिल वाय, तो उसका हढ़ प्रामाण्य सभीको मान लेना चाहिए और एक दार्शनिक को दूसरे दार्शनिक के सिद्धान्त का खण्डन न करना चाहिए। किन्तु देखा इससे विपरीत ही जाता है। कहा जाय कि 'जैसे दो-चार रत्नपरी चकों के संवाद से ही हीरा

आदि रत्नों के गुगा या दोष विदित होते हैं और उन्हीं अनुसार कय-विकयादि व्यवहार भी होते हैं। इसी तरह यह संवाद से प्रमाणता का निश्चय न किया जायगा, ते ह्यवहार कैसे होगा ?' किन्तु यह ठीक नहीं। यहाँ भी अन्योन्य-संवाद अन्योन्य-प्रामाएय का प्रयोजक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वोक्त व्यक्षिचार से कार्यकारण. भाव का निर्णय असम्भव है। यदि ज्ञानान्तर-संवाद ज्ञानान्तर के के प्रामाण्य में अव्यभिचरित कारण होता, तो सहस्रों नैयायिकों के ज्ञानों से संवादी शब्द की अनित्यता का खण्डन कैसे किया जाता ? अतः अनवस्था और व्यभिचार के भय से विवश होकर कहना पड़ेगा कि एक ज्ञान का औत्सर्गिक, स्वतःसिद्ध प्रामाण्य ही तत्र-तत्र व्यवहार का कारण है। यहाँ यह शंका वी जाती है कि 'यदि ज्ञान का प्रामाण्य किसी दूसरे ज्ञान की अपेना नहीं रखता, तो फिर एक ही विषय को दूर से देखने पर समीप जाकर जानने को इच्छा क्यों होती है ? इससे तो यही मालूम होता है कि प्रथम ज्ञान से ठीक वस्तु का निश्चय नहीं हुआ, इसीलिए दूसरे ज्ञान से सम्मति की अपेचा होती है। यह कहना भी ठीक नहीं है। व्यवहार और तत्त्वनिएंग में बहुत भेद हुआ करता है। व्यवहार विना तत्त्वनिश्चय के भी हो सकता है। अनावृष्टि आदि अनेक विद्नों की सम्भावनी से, फललाभ में सन्देह रहने पर भी कृषि आदि व्यवहार होते ही हैं। ऐसे ही जब सैकड़ों संवादों के रहते हुए भी अप्रामाण्य हो सकता है, तब तो दो-चार रत्नपरी चकों के ज्ञानसंवाद से ही संतोष करना पड़ता है। अन्यथा यदि उस संवाद के संवादार्थ अन्य ज्ञानको हूँ दृते फिरें, तो अनवस्थादि अवश्य ही होंगे। अतः श्रांख मूँदकर एक ज्ञान पर विश्वास करना ही पड़ेगा। दूर्ध

बस्तु में जो विशेषांश है, उसकी प्रमा दूर से नहीं हो सकती, ब्राता इस अप्रमित अश के जानने के लिए इच्छा होती है। अतः समीप जाकर देखने की इच्छा से भा ज्ञानान्तर का संवाद प्रामाण्यका कारण नहीं हुआ। अतएव प्रमाण को अपने प्रामाण्य के लिए ज्ञानान्तर संवाद की अपेचा नहीं है।

इसके सिवा जैसे गुणों को प्रमाणता के निश्चय का कारण मानने में अनवस्था दोष होता है, वैसे ही संवाद को भी यदि प्रामाण्य का हेतु मानेंगे, तो वहाँ भी एक ज्ञान की प्रमाणता के लिए दूसरे ज्ञान का संवाद और उस ज्ञान की प्रमाणता के लिए फिर तीसरे ज्ञान के संवाद की अपेना होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष यहाँ भी अनिवार्य होगा।

नैयायिक तथा बौद्धों का यह कथन है कि 'विषयज्ञान का प्रामाण्य अर्थ-कियाकारिता से होता है और अर्थिकिया का प्रामाण्य स्वातन्त्रयेण मान्य होना चाहिए। जैसे जलज्ञान के अनन्तर पान, अवगाहनादि कार्य देखने से जलज्ञान की यथा-र्थता विदित होती है। ये सब कार्य ही अर्थ-क्रिया है और इस अर्थ-क्रिया का ज्ञान अपने आप हो प्रमाण होता है। इस माँति-अनवस्था भी नहीं है तथा परतःप्रामाण्यवाला पच्च ही ठीक है। अतः वेदों का स्वतःप्रामाण्य कथमपि चन नहीं सकता।' किन्तु यह पच्च भी अविचारित-रमणीय है। कारण जब अर्थक्रिया-बान में अनवस्था-परिहार के लिए स्वतःप्रामाण्य मान लिया ज्ञान में अनवस्था-परिहार के लिए स्वतःप्रामाण्य पच्च का क्यों गया, तब लाघवान प्रथम ज्ञान में ही स्वतःप्रामाण्य पच्च का क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ?

यहाँ यह कहा जाता है कि 'प्रथम ज्ञान की अपेना अथिकिया-ज्ञान में अव्यक्तिचार की ही विशेषता है। अर्थात्

पान, अवगाहनादि कार्य व्यभिचारी (मूठा) नहीं होता, जब कि प्रथम जल ज्ञान मूठा भी हो जाता है। जब कि प्रथम जल ज्ञान में स्वतःप्रामाण्य नहीं, द्वितीय ज्ञान में स्वतःप्रामाण्य नहीं, द्वितीय ज्ञान में होता है। यहाँ यह जो समक्ता जाता है कि स्वप्न में स्तान-पानादि कोई भी अर्थिकिया नहीं होती, पर ज्ञ अर्थिकियाओं का ज्ञान होता है। अतः अर्थिकिया में भी व्यभिचार (मूठापन) है, फिर उसका स्वतःप्रामाण्य क्यों माना जाय ! सो भी ठीक नहीं; क्योंकि स्नान-पानादि मुख्य अर्थिकिया नहीं हो, किन्तु मुख-दुःख ही मुख्य अर्थिकिया है। सुख-दुःख न रहने पर मुख-दुःख का अनुभव कदापि नहीं हो सकता। सुख-दुःख अपन-अपने अनुभव के साथ ही उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं। यही मुख-दुःखज्ञान मुख्य अर्थिकियाज्ञान है, उसका व्यभिचार कभी नहीं होता। अतः वे ही स्वतः प्रमाण हैं।

इन सब आदेशों का समाधान यही है कि सुख-दुः खादि प्रत्यच्चरूप अर्थिक याज्ञान से पूर्वज्ञान का प्रामाण्य कथमि निर्णात नहीं होता, क्यों कि स्वप्त में होने वाला जो मिध्या प्रिया सङ्गमिवज्ञान है, उसमें सुखानुभव सभीको मान्य है। परन्तु क्या इतनेमात्र से वह मिध्या प्रिया-सङ्गम-विज्ञान प्रमाण हो सकता है । यदि नहीं, तो फिर सुख-दुः खप्रत्यच्चरूप अर्थिक या जीन से पूर्वज्ञान की प्रमाणता कैसे हो सकती है ?

इसके सिवा यदि एक ज्ञान को अपने प्रामाण्य के लिए अन्य ज्ञान के संवाद की अपेन्ना हो, तब तो श्रोत्रजन्य शब्द विज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि सिबी श्रोत्र के और किसी करण से शब्द का ज्ञान होता ही नहीं। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि श्रावण ज्ञान का उसके विजातीय

बाजुषादि ज्ञान से संवाद (मेल) नहीं होता, तथापि दूसरे मजातीय श्रावण ज्ञानों के साथ संवाद होने से ही उसका प्रामाण्य सिद्ध हो जायगा', तो फिर यह भी कहा जा सकता है कि वेदजन्य वेदार्थज्ञान का भी यद्यपि प्रत्यज्ञादि प्रमाणों से संवाद नहीं होता, तथापि भिन्नकालिक उच्चारण के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले दूसरे वेदार्थविज्ञानों के साथ संवाद होने से प्रामाण्य बन जायगा।

एक वेदवाक्य के अनेक बार उचारण से अनेक बार वाक्यार्थज्ञान होता ही है। तथाच एक वाक्यार्थज्ञान का सजातीय दूसरे वाक्यार्थज्ञान से संवाद है ही। फिर प्रत्यचानुमानादि
प्रमाणों के साथ संवाद न होनेमात्र से वेदों के अप्रामाण्य की
शङ्का कैसे हो सकती है? इन सब विवेचनों से स्एष्ट हो जाता
है कि प्रमाणों को अपनी प्रमाणता में गुण, संवाद या अर्थक्रिया
के ज्ञानों में से किसीकी भी अपेचा नहीं होती। ऐसी स्थित
में अपोरुषेय वेदों का भी निर्पेच-प्रमाणत्व सिद्ध ही है।

अब, जो यह कहा जाता है कि 'जो वाक्य आप्त (सत्यवादी) से निर्मित नहीं है, ऐसे मिध्यावादियों से निर्मित वाक्यों का आमाण्य नहीं देखा जाता। वेद भी यदि किसी आप्त के बनाये नहीं हैं, तो उनके अप्रामाण्य का ही अनुमान हो सकता है।' सो भी ठीक नहीं। कारण यह कि प्रमाण की सिद्धि के लिए अनुमान की अपेचा नहीं होती। अनुमान में दृष्टान्तों की अपेचा अनुमान की अपेचा नहीं होती। अनुमान में दृष्टान्तों की अपेचा इंग करती है। अतः वेद से भिन्न आप्त से न रचे हुए वाक्यों हुआ करती है। अतः वेद से भिन्न आप्त से न रचे हुए वाक्यों का प्रामाण्य अदृष्ट होने पर भी कोई हानि नहीं। यदि किसी भी प्रमाण को अपनी प्रमाणता के लिए अनुमान की अपेचा मानी जायगी, तब तो उस अनुमान को भी अपनी प्रमाणता मानी जायगी, तब तो उस अनुमान को भी अपनी प्रमाणता

के लिए दूसरे अनुमान की अपेना होगी। इस तरह अनवक अपरिहरणीय हो जायगी।

यहाँ यह भी शङ्का होती है कि 'यदि मान भी लिय जाय कि प्रमाणों की प्रमाणता स्वतः ही है, पर उसका मह कैसे होगा? ज्ञान जिस आकारवाला होता है, उसीका निक यक होता है। घटज्ञान का आकार या विषय तो घट ही है 'मैं स्वतः प्रमाण हूँ' ऐसा आकार तो घटज्ञान का है नहीं। कि घट के सिवा घटज्ञान से अपना प्रामाण्य कैसे निश्चित होगा जब कि ज्ञान अपने आपको ही प्रहण नहीं कर सकेगा? यह ज्ञान की प्रमाणता ही अविज्ञात है, तो फिर उससे कोई भी व्यवहार कैसे हो सकेगा?' इसका समाधान यही है यही एक में ही प्राह्य-प्राह्क माव न बनने के कारण ज्ञान अपना प्राहक नहीं होता, इसी कारण उसकी अप्रमाणता भी अविज्ञात ही है तथापि अपने विषय का निश्चयरूप विज्ञान अविज्ञात रहकर ही सत्तामात्र से व्यवहार सिद्ध करेगा ? व्यवहारों को अपनी सिर्ध में अपने हेतुभूत ज्ञान के ज्ञान की या ज्ञान के प्रामाण्यज्ञान की अपेचा नहीं होगी। फललाभ में सन्देह रहने पर भी कृषि और क्रय-विक्रयादि व्यवहारों की प्रवृत्तियाँ देखी ही जाती हैं।

हाँ, व्यवहारों के होने से यदि किसीको उन व्यवहारों के कारणभूत ज्ञानों के प्रामाण्य की जिज्ञासा हो, तो 'अमुक ज्ञान प्रमाण था, सफल प्रवृत्ति का जनक होने से, सम्प्रतिपत्र की भाँति' ऐसे अनुमानों से व्यवहार जनक ज्ञानों की प्रमाणित गृहीत हो सकती है। अनुमान से निश्चित होनेवाली यह प्रमाणता भी ज्ञान की नहीं, किन्तु विषय की सद्यता ही है। जिस ज्ञान का विषय सत्य होता है, वही ज्ञान प्रमाण कही

जाता है। अतः विषय की सत्यतारूप प्रमाणता ही ज्ञान की प्रमाणता है।

'ज्ञान प्रमाण है' ऐसा व्यवहार भी विषय-सत्यता के ही ब्राधार पर होता है। घटादि विषयों की सत्यतारूप प्रमाणता तो अज्ञात ज्ञान से ही निश्चित हो सकती है, क्यों कि स्वभाव से ही सभी ज्ञान अपने प्रकाश्य विषय की सत्यता के निश्चायक होते हैं। अतः 'ज्ञान प्रमाण है' ऐसे व्यवहार के लिए ज्ञान के ज्ञान की भी अपेन्ना नहीं है। फिर प्राम।एय की बात ही क्या ?

शुक्तिका में रजतज्ञान अप्रमाणभूत ज्ञान है। वह स्वविषय-मिध्यात्वरूप अप्रामाण्य का प्रकाश नहीं करता, क्यों कि शुक्तिका में रजत का नहोना ही उस ज्ञान की अप्रमाणता है। शुक्तिका में रजतभ्रमरूप ज्ञान उसमें रजत का नहोना कैसे प्रकाशित कर सकता है? रजतज्ञान अपने विषय के अनुसार मिध्याभूत रजत को ही प्रहण करता है। यदि रजतज्ञान अपने विषया-न्यथास्वरूप अप्रामाण्य का अपने आप ही प्रहण करे, तब तो 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) यही उस ज्ञान का आकार होना चाहिए। परन्तु 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का वैसा आकार नहीं है।

हानों में अपने विषयों की सत्यतारूप प्रमाणता स्वाभाविकी है। उसीका माहात्म्य है कि अप्रमाणभूत रजत-भ्रमादि ज्ञान, जबतक 'नेदं रजतम्' ज्ञान से बाध न हो तबतक, अपने प्रामाण्य का प्रकाशन करता हुआ स्वाकार के अनुरूप प्रवृत्ति तथा निवृत्ति सम्पादन करता है। यहाँतक कि कहीं 'नायं सपंः' ऐसे बाधज्ञान से सपज्ञान का मिध्यात्व-निश्चय हो जाने पर भी कुछ ज्ञान से सपज्ञान का कार्य भय, कम्पादि हपद्रव बने ही

रहते हैं। सारांश यही कि ज्ञान अपने अप्रामाण्य का स्वयं प्राहक नहीं हो सकता। अतः रजतज्ञान के अप्रामाण्य-प्रहण के लिए और उससे होनेवाले प्रवृत्त्यादि-व्यवहार की निवृत्ति के लिए 'नेदं रजतम्' ऐसे बाधज्ञान की अपेता होती है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि ज्ञान की प्रमाणता स्वाभाविकी है और अप्रमाणता बाधकभूत दूसरे ज्ञान से होती है। जिन लोगों ने आप्रणीतत्वादि हेतुओं से अनुमान द्वारा वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उनका वह प्रयत्न निष्फल है; क्योंकि अनुमान द्वारा वेद की अप्रमाणता सिद्ध ही नहीं हो

सकती।

किसी भी वाक्य की अप्रमाणता के लिए वक्ता का दोषज्ञान या वाक्यार्थ का बाधज्ञान, ये ही दो हेतु अपेद्यित हैं। जब कि वेदों का कर्ता ही नहीं है, तब वक्ता के दोषों की कल्पना का कोई आधार ही नहीं रह जाता। किर, वेद्वाक्यों के अर्थ धर्म और स्वर्गादि ऐसे हैं, जिनका ज्ञान सिवा वेदों के किसी प्रत्यचानुमानादि प्रमाणों से हो ही नहीं सकता। इस माँति जब अज्ञात-ज्ञापक वेदवाक्यों का अर्थ अनुमानादि से जाता नहीं जाता, तब उसकी असत्यताक्ष्य अप्रमाणता भी अनुमानादिकों से कैसे जानो जायगी? जो जिसके स्वक्ष्य को नहीं जानता, वह उसके अस्तत्व-नास्तित्व के विषय में भी क्या कह सकता है? वेदवाक्यार्थ की असत्यता ही 'वेदों का अप्रामाण्य है। जब स्वर्गादि वेदार्थ प्रत्यचानुमानादि द्वारा जाना ही नहीं जाता, तब उसकी असत्यता भी अनुमानादि द्वारा जाना ही नहीं जाता, तब उसकी असत्यता भी अनुमानादि से ज्ञात नहीं हो सकती। अतः अनुमानादि द्वारा वेदों के अप्रामाण्यापदन का बत्त व्यर्थ ही है।

अतएव नैयायिकों ने आगम से अविरुद्ध अर्थ में ही अनुमान की सामर्थ्य मानी है। आगमविरुद्ध प्रत्यच तथा अनु-मान स्वयं ही बाधित हो जाते हैं। जैसे किसीने स्थूलदृष्टि से तिर्मल देखकर मृत मनुष्य के शिर को पवित्र कहा या किसी-ने "नरशिरःकपालं शुचिः प्राययङ्गत्वात् शङ्खशुक्तिकादिवत्"—'मनुष्य का कपाल पवित्र है, प्राणी का अङ्ग होने से, शङ्ख की तरह' ऐसा अनुमान करके छसे पवित्र कहा। किन्तु धर्मशास्त्र तो "नारं स्पृष्टास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्"—'मनुष्य की सस्नेह अस्थि को स्पर्शकर सचैल स्नान करना चाहिए', इस प्रकार उसे अपवित्र और अरपृश्य कहता है। प्रत्यचद्शी और आनुमानिक के लिए तो अशुद्धि केवल मलमृत्रादि-संसर्गमात्र है और मल॰ मूत्रादि का संसर्ग न होना ही शुद्धि है। परन्तु आगमगम्य शुद्धि श्रीर श्रशुद्धि कुछ और ही है, जो कि प्रत्यत्त श्रीर श्रनुमान से समभी ही नहीं जा सकती। पापरूप अशुद्धि और पाप का अभावरूप शुद्धि जब प्रत्यत्त-अनुमानादि का विषय ही नहीं है, तब शास्त्रीय अर्थ के बाध में प्रत्यत्त अनुमान की सामर्थ्य कैसे कही जा सकती है?

यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'जैसे वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया जा रहा है, वैसे ही मिध्यावादियों के भी किन्हीं अलौकिक अद्भुत वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध हो जायगा।' क्योंकि पौरपेय वाक्यों की प्रमाणता मृलप्रमाणता के ही अधीन हुआ करती है। अर्थात् सत्यवादी पुरुष किसी प्रमाण से अर्थ का निर्णय करके ही बोलता है। मिध्यावादी पुरुष के अद्भुत वाक्य की परीचा करने पर मृलप्रमाण नहीं मिलता; उल्टे पुरुष के मिध्याभाषणादि दोषों को जानकर उसके वाक्य में अप्रमाणता खिद्ध ही अधिक स्पष्ट होती है।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि 'जैसे आगम-वाक्यों से अनुमान का बाध हो जाता है, वैसे ही अनुमान से वेद का ही बाध क्यों न हो' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्यों जिब अनुमानों से वेदार्थ का बाध निश्चित हो जाय, तभी वेदार्थ में मिध्यात्व या अप्रामाण्य आ सकता है और जब वेदार्थ का मिध्यात्व सिद्ध हो, तभी वेदार्थ की अप्रमाणना का अनुमान हो सकता है—इस भाँति यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ता है।

यह भी कहना असंगत है कि 'जैसे अनुमान से भिन्न और किसी प्रमाण से वेदार्थ का बाध नहीं होता, वैसे ही वेद से भिन्न और किसी प्रमाण से वेदार्थ की सिद्धि भी नहीं होती। फिर वेदार्थ की सत्यता कैसे सिद्ध होगी ?' हमारा यह कथन नहीं कि वेदार्थ के बाध में अनुमान को छोड़कर दूसरा प्रमाण नहीं, इसलिए वेदार्थ ठीक है। किन्तु वेदार्थ में किसी भी तरह अनुमान की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और वेदार्थ को सिद्ध करनेवाला वेद है ही। किसी भी एक प्रमाण से जो अर्थ जाना जाय, वह केवल दूसरे प्रमाण से अज्ञात होनेमात्र से अप्रामाणिक नहीं समका जा सकता; क्योंकि ऐसा होने पर तो जिह्ना और श्रोत्र आदि से गृहीत होनेवाले रस और शब्दादि भी नेत्रादि से अगृहीत होने के कारण अप्रामाणिक ठहर जायँगे। जो प्रमेय अर्थ एक प्रमाण से सिद्ध हो गया, उसे अपनी सिद्धि के लिए दूसरे प्रमाण की अपेचा नहीं होती। अतएव वेद प्रमाण से जिस धर्म, याग, स्वर्गादि की सिद्धि हुई, उन्हें अपनी सिद्धि में दूसरे प्रमाण की अपेचा नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'प्रवर्तक-निवर्तक विधिवाक्षीं

को जो प्रमाण मानते ही नहीं, उनके मत में वेदार्थ का अभाव सिद्ध करनेवाले अनुमानों पर वेदिविधिविरुद्धस्व दूषण कैसे दिया जा सकता है ?' इसका उत्तर यही है कि यद्यपि नास्तिक वेदों को प्रमाण नहीं मानता, तथापि आस्तिक वैदिक तो मानता ही है। वैदिक को समभाने के लिए ही अवैदिक वेदार्थ-बाधक अनुमान हपस्थापित करेगा। किन्तु वेदिवरुद्ध अनुमान से वैदिक वेदार्थवाध कैसे मान सकेगा, क्योंकि उसके मन में तो यह बात दृढ़ रहती है कि वेदिवरुद्ध अनुमान अप्रामाणिक होता है। अतः वैदिक की बुद्धि में अनुमान से आगम का बाध जम नहीं सकता।

यदि कहा जाय कि 'फिर वैदिक के ही मत में वेदों का प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा?' तो वह भी असङ्गत है। क्यों कि वेद से यदि सन्देहरूपा प्रतीति होती, तब तो उसके प्रामाण्य के लिए दूसरे साधन की अपेद्धा पड़ती। यहाँ तो अवैदिक नास्तिक को भी मानना पड़ेगा कि वेदों से 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा" की तरह संशयरूप ज्ञान नहीं होता। साथ ही उसे यह भी मानना पड़ेगा कि जब वेदार्थ में प्रत्यद्ध और अनुमान की गति ही नहीं है, तब उनसे वेदार्थ का अभाव (बाध) भी ज्ञात नहीं हो सकता। जब प्रत्यद्धादि से वेदार्थ-बाधबुद्धि न हुई, तब वेदार्थ-बोध को अम भी कैसे कहा जा सकता है ?

फिर वैदिक शन्दों से वेदार्थ का बोध नहीं होता, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अपने-अपने अर्थ का बोध कराना शब्दों का अनिवार्थ स्वभाव है। जैसे वैदिकों को वैदिक शब्दों के अवण से वेदार्थबोध हो सकता है, वैसे ही संस्कृत जाननेवाले नास्तिकों को भी वेदार्थबोध होता ही है। यह नहीं हो सकता कि अग्नि मेरे लिए उद्याही और अवैदिक के लिए वैसा न हो। जब वेद्वाका से वेदिक और वेद-बाह्यों को समान ही बोध उत्पन्न होता है तब उस वेदार्थ-बोध का विषय भी समान ही होगा। बोध के यह स्वभाव ही है कि वह अपने विषय के स्वाभाविक हम ही अवगाहन करता है और वह स्वाभाविक हम हो सद्यता और प्रमाणता है। फिर तो जैसे वैदिकों का वेदार्थ की सद्यताहूमी प्रमाणता को विषय करता है वैसे ही वेदबाह्यों का भी वेदार्थ-बोध उसकी प्रमाणता को विषय करता है वैसे ही वेदबाह्यों का भी वेदार्थ-बोध उसकी प्रमाणता को विषय करेगा।

वेदार्थ की प्रमाणता ही वेद की प्रमाणता है। ऐसी स्थित में वेद-बाह्यों का भी यह कहना कि 'वेद को प्रमाण नहीं मानते', मिध्या ही हैं। किसीकी इच्छा या स्वीकृतिमात्र से किसी जा का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। अन्यथा मनोराज्य के ज्ञानों की प्रमाणता अनिवार्थ हो जायगी। इसी भाँति किसी पदार्थ के अस्वीकार या होष से किसीकी अप्रमाणता सिद्ध नहीं होती। अन्यथा प्रत्यत्त से भी विह्नजन्य दाहादिकों के द्वेषमात्र से अप्रामाणिकता हो जायेगी।

अब, यहाँ सन्देह यह होता है कि यदि ज्ञान को ब्राह्म करानेमात्र से वेद की प्रमाणता है, तो इसी हेत से बुद्धार वाक्यों की भी प्रमाणता माननी पड़ेगी।' परन्तु यह ठीक नहीं कारण अप्रत्यन्त और अतीन्द्रिय पदार्थों में पुरुष की दर्शनशिक नहीं होती, अतीन्द्रिय पदार्थों में प्रत्यन्तादि की प्रवृत्ति असम्भव है। इसिलए बुद्धादिवाक्यों का मूल सिवा भ्रम, प्रमाद, विप्रतिव्सार्ध दोषों के और कुछ नहीं हो सकता। अर्थात् धर्म तथा ईर्वर के भाव तथा अभाव दोनों स्थलों में जब प्रत्यन्तादि की प्रवृत्ति नहीं भाव तथा अभाव दोनों स्थलों में जब प्रत्यन्तादि की प्रवृत्ति नहीं

A 2017

होती, तब बिना भ्रान्ति श्रादि के उनका खरडन या मरडन होनों ही नहीं बन सकते।

अतः धर्म और ईश्वर के विषय में बुद्धादिवाक्य सर्वथा अमादिमूलक हैं। इसीसे उनकी साधारण लोकिक वाक्यों जैसी साधारण प्रमाणता भी हट गयी। किन्तु वेद तो अपौरुषेय होने से नित्य, निर्दोष, अबाधित और स्वतःप्रमाण हैं। फिर उनकी पौरुषेय वाक्यों के साथ बराबरी कैसे की जा सकती हैं?

रजतादि अर्थों की सत्यता ही उनका प्रामाण्य है। मुख्य प्रामाण्य अर्थों में ही रहता है, ज्ञान में तो गौणी वृत्ति से ही प्रामाण्य का व्यवहार है, क्योंकि ज्ञान असत्य भी हुआ करता है। विषयरूप अर्थ की सत्यता के कारण ही ज्ञान में भी सत्यता और प्रमाण्ता का व्यवहार होता है। अर्थों की सत्यता के साथ ज्ञानों का सम्बन्ध स्वाभाविक है। इसीसे उक्त सम्बन्ध में अन्य की अपेन्ना नहीं होती। यही स्वतः प्रमाण्य है। अप्रामाण्य भी अर्थों में ही रहता है। रजत-भ्रमस्थल में रजत की असत्यता से ही उस ज्ञान का अप्रामाण्य है। रजत-भ्रमज्ञान से रजत की असत्यता प्रकाशित नहीं होती, किन्तु "नेदं रजतम्, किन्तु शुक्तिरियम्" यही ज्ञान रजत की असत्यता सिद्ध करता है। इसीसे रजतज्ञान का अप्रामाण्य परतः कहा जाता है।

इस विषय में और भी अनेक प्रकार के विचार उठाये गये हैं। स्वतःप्रमाण के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि 'स्वतः-प्रामाण्य' इस शब्द में 'स्व' शब्द क्या आतमा अर्थात् ज्ञान का वाचक है या आत्मीय ज्ञानसामग्री आदि का वाचक है ? साथ ही क्या प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है या स्वतः ज्ञात होता है ? क्या वह विषयसत्यता का रूप है अथवा ज्ञान में रहनेवाली विषयों की सत्यता निश्चित करानेवाली शक्ति है ?

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि 'स्व' शब्द आत्मा का वाचक है और प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न नहीं होता, अपितु स्वतः जात होता है। अभिप्राय है यह कि ज्ञान का प्रामाण्य अपने आप अर्थात् ज्ञान से ही ज्ञात होता है। विषयों की सत्यता को ही प्रामाण्य कहा जाता है।'

इसके विपरीत कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'विषय की सत्यता को प्रकाशित करना ही ज्ञान का प्रामाण्य है। यह प्रामाण्य स्वतः अर्थात् आत्मीय कारणसामग्री से ही ज्ञान की भाँति उत्पन्न होता है, वह ज्ञानसामग्री से अधिक किसी गुण आदि की अपेज्ञा नहीं करता। असत्य विषय को प्रकाश करनेवाला अप्राम्मण्य भी ज्ञान का ही धर्म है, किन्तु वह स्वतः (कारणसामग्री) इन्द्रियादि से नहीं, इन्द्रियादि के दोषों से उत्पन्न होता है। इसीलिए अप्रामाण्य परतः कहा जाता है।

यदि ज्ञान की प्रमाणता इन्द्रियादि-गुण से और अप्रमाणता इन्द्रियादि-दोष से ही उत्पन्न होती, तब तो गुण से रहित आरोपित दोष से युक्त इन्द्रियादि द्वारा उत्पन्न 'पीतः शङ्कः' यह ज्ञान सर्वथा ही मिध्या होता लोक में स्पष्ट ही है कि 'पीनः शङ्कः' इस ज्ञान में भी शंखांश ज्ञान में सत्य है, मिध्या केवल पीलापन का ही ज्ञान है। यह बात तभी संगत हो सकती है, जब ज्ञान की अप्रमाणता दोष के अधीन हो। अर्थात दोषजन्य ज्ञान अप्रमाण हो और इन्द्रियादि कारण के अधीन ज्ञान की प्रमाणता हो; क्योंकि इन्द्रिय और दोष-सम्मेलन से जहाँ 'पीतः शङ्कः' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न

होगा, वहाँ पित्तदोष और इन्द्रिय दोनों की ही कारणता होगी, अतः इस ज्ञान के एक अंश में सत्यता और दूसरे अंश में अस-त्यता ही उत्पन्न हो सकेगी।

श्रतः ज्ञानों के कारणभूत इन्द्रियादिकों से उनमें (ज्ञानों में)
यथार्थतारूप सत्यता उत्पन्न होती है, ज्ञान की यथार्थतारूप
प्रमाणता उसी ज्ञान से नहीं जानी जा सकती। इसलिए ज्ञान से
ही ज्ञान की प्रमाणता जानी जा सकती है, यह पन्न सङ्गत
नहीं है। ज्ञान केवल अपने विषय का प्रकाश करता है। जब
वह सिवा विषय के अपना भी प्रकाश नहीं करता, तब अपने
में रहनेवाली प्रमाणता को कैसे प्रकाशित कर सकेगा? अतः
कारणभूत दोषों से अप्रमाणता हो ज्ञान का परतः अप्रामाण्य है।
इस तरह स्पष्ट है जब वेद का कर्ता सिद्ध नहीं है, तब वेदों में
कारणदोष की शंका नहीं हो सकती। इसीलिए वेदों में अयथार्थताकृप अप्रमाणता का सन्देह भी नहीं उठ सकता। इस प्रकार वेद
की प्रमाणता स्वतःसिद्ध है।

दूसरे महानुभाव 'अज्ञात एवं सत्य पदार्थों के बोधक ज्ञान को प्रमाण-ज्ञान' कहते हैं। तथा च अनिधगत एवं अबाधित पदार्थों की बोधकता ही ज्ञान की प्रमाणता है और इस प्रकार की प्रमाणता हन ज्ञानों से ही विदित होती है। इस सिद्धान्त में स्वतःप्रामाण्य के स्व' शब्द से आत्मा अर्थात ज्ञान ही गृहीत होता है। सत्य अर्थ का निश्चय ही प्रामाण्य है। यह सत्य अर्थ का निश्चय सिवा पदार्थज्ञान के कारण गुणज्ञान, संवादज्ञान, अर्थक्रयाज्ञानादि किसीकी अपेत्रा नहीं रखता, क्योंकि उन सभी पत्रों में अनवस्था दोष अपरिहार्य होता है। एवं पदार्थ के मिध्याज्ञान का निश्चय दोषज्ञान, अर्थबाध पदार्थ के मिध्याज्ञान का निश्चय दोषज्ञान, अर्थबाध

या विषयवैपरीत्य के निश्चय से होता है। इसीलिए अप्रामाण्य परतः कहा जाता है। इस पद्म में भी स्वतः (ज्ञान से) ही प्रामाण्य उत्पन्न होता है, न कि जाना जाता है।

इस विषय में कहना यही है कि यदि स्वतःप्रामाण्य-पन्न में ज्ञान अपने प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण है, तब तो फिर परतः अप्रामाण्य पन्न में भी कारण दोषज्ञान तथा बाधकज्ञान को अप्रामाण्य की उत्पत्ति में ही कारण मानना चाहिए। परन्तु यह तब सम्भव होता, जब रजतादि मिध्याज्ञान पहले प्रमाण (सत्य) होते और फिर 'नेदं रजतं शुक्तिरेव' इस बाधकज्ञान से अप्रमाण (मिध्या) होते।

शुक्तिका में रजतज्ञान का अप्रामाण्य वाधकज्ञान से उत्पन्न नहीं समका जाता, क्यों कि वह उत्पत्तिकाल से ही अप्रमाण रहता है। अयथार्थ निश्चय को ही अप्रमाण कहा जाता है। यह अप्रामाण्य तो अपने आप ही होता है, बाधक-ज्ञानादि किसीकी भी अपेचा नहीं करता। यह हो ही नहीं सकता कि कोई ज्ञान उत्पन्न होकर तो प्रमाण रहा हो और बाधकज्ञान से अप्रमाण हो जाय। हाँ, यह तो सङ्गत है कि ज्ञान का अप्रामाण्य रहा तो ज्ञान की उत्पत्त से ही; परन्तु उसका ज्ञान बाधक-ज्ञान से ही हुआ है। तथाच मिध्याज्ञान था तो जन्म से ही अप्रमाण, परन्तु उसकी अप्रमाणता का निश्चय बाधकज्ञान से हुआ। अरजतभूत शिका का, रजतक्ष्य में प्रकाशित करना ही शिका-रजतज्ञान की अप्रमाणता है। वह तो जब से शिक्त में रजत का ज्ञान हुआ, तभीसे है।

अतएव यह शङ्का भी निर्मूल है कि 'जब अर्थ के विपरीत होने का निश्चय ही अप्रामाण्य है, तब तो अवश्य ही उसकी हत्वित बाधकज्ञान से माननी पड़ेगी; क्योंकि अर्थवैपरीत्य का तिश्चय ही अप्रामाण्य नहीं। किन्तु पूर्वज्ञान का अप्रामाण्य— इसके विषय का वैपरीत्य होना ही है, न कि वैपरीत्य का निश्चय अथवा विपरीत विषय की सत्यता का निश्चय करना।

इत दोनों प्रकार के अप्रामाण्यों में किसी भी प्रकार के अप्रामाण्य को अपनी उत्पत्ति में बाधक-ज्ञानादि की अपेन्ना नहीं होती, क्यों कि रजतरूप विषय का विपरीत होना तो 'नेदं रजतम्' इस बाधक-ज्ञान से पहले ही सिद्ध है और पहले से ही वह रजतज्ञान उस विपरीत विषय में सत्यता भी निश्चित करा देता है। इन्हीं सब हेतुओं से प्रामाण्य की तरह अप्रामाण्य की भी स्वतः उत्पत्ति माननी पड़ेगी। फिर यह भी कहना पड़ेगा कि ज्ञान की स्वतः उत्पन्न प्रमाणता को बाधक-ज्ञान नष्ट करता है। परन्तु यह कथन कथमि ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से अप्रमाणता तो मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति से ही सिद्ध है।

यह भी कहना युक्तियुक्त न होगा कि 'विषय की सत्यता का निश्चय कराना ही ज्ञान का प्रामाण्य है और उस निश्चय का मिट जाना ही अप्रामाण्य है। अतः अप्रामाण्य (विषय की सत्यता के निश्चय के नाश) में बाधक-ज्ञान की अपेचा है', क्योंकि निश्चय का नाश तो उसके त्रिच्णावस्थायी होने से अपने आप हो जाता है। उसके लिए बाधक-ज्ञान की कुछ भी अपेचा नहीं होती और न बाधकज्ञान से निश्चय संस्कार ही नष्ट होते हैं।

इन सब कारणों से यही कहना उचित है कि ज्ञान की अमाणता (उसके विषय की सत्यता) स्वतः उसी ज्ञात से ज्ञात होती है। ज्ञान की अप्रमाणता (उसके विषय का मिध्यात्व) परतः (कारण-दोष और बाधक-बोध से) जानी जाती है।

यहाँ पर यह आदोप किया जाता है कि 'इस पन्न है भी युक्तिविरोध है। विज्ञान जब अपने आपको प्रहण नहीं कर सकता, तो वह अपने धर्मभूत प्रामाएय का प्रहरा कैसे कर सकेगा; क्योंकि वह तो विषय के प्रकाशन में गतार्थ हो जाता है। इसलिए प्रामाएय का जन्म ही स्वतः (अपने कारण-से) होता है।' इसका समाधान यह है कि 'ज्ञान का प्रामाएय उसीसे ज्ञात होता है' इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं समम लेना चाहिए कि 'मैं प्रमाण हूँ या मेरा प्रामाण्य है' इस प्रकार ज्ञान अपना या अपने प्रामाण्य का प्रहण करता है। ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य पद का यह आशय नहीं है कि ज्ञान में प्रामाएय होता है, अपितु घटादि विषयों की सत्यता ही उनके ज्ञानों का प्रामाण्य है और विषयों की असत्यता ही (शुक्तिका में रजत का न होना ही) शुक्ति-रजतादि ज्ञानों की अप्रमाणता है। 'ग्रयं घटः' इस प्रकार का जो सत्य ज्ञान है, वह घट की सत्यतारूप अपनी प्रमाणता का स्वयम् ही निश्चय कराता है। इसी आशय से स्वतः प्रामाएय निश्चय पच् की स्थिति होती है।

गुणज्ञान या ज्ञानान्तरसम्पत्ति किंवा अर्थिकयाज्ञान से प्रामाण्य-निश्चय नहीं होता। विषय की असत्यतारूप अप्रमाणता रजतादि मिध्याज्ञान से निश्चित नहीं होती। उत्तरे सत्य रजतज्ञान की भांति मिध्या रजतज्ञान भी रजत की सत्यती को ही भासित करता हुआ-सा प्रतीत होता है। 'इदं रजतम' इस ज्ञान से 'नेदं रजतम' ऐसा निर्णय हो भी नहीं सकता। जी ज्ञान रजत का होना बतलाता है, उसीसे रजत का न होना कैंसे

जाना जा सकता है? रजत का नहोना ही रजत-ज्ञान का अप्रामाण्य है। रजत-ज्ञान का अप्रामाण्य रजत-ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। अतः स्वतः अप्रामाण्य कहने का कोई भी प्रसङ्ग नहीं है। किन्तु मिथ्या रजत-ज्ञान के पश्चात् 'यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्तिका है' इस बाधकज्ञान से ही पूर्वज्ञान का अप्रामाण्य (पुरोवर्ति का रजत न होना) निश्चित होता है। इसी कारण प्रामाण्य परतः कहा जाता है। भासमान अर्थ का वैसा ही होना उस ज्ञान का प्रामाण्य है और वैसा न होना ही उसका अप्रामाण्य है।

यहाँ यह शङ्का की जाती है कि 'यदि ज्ञान का उत्पत्ति के समय ही प्रामाण्य निश्चित हो जाता है, तब तो कारण-दोष और बाधक-ज्ञान के बिना ही ज्ञान का अप्रामाण्य भी उत्पत्ति से स्वतः ही क्यों न माना जाय ? ऐसी स्थिति में प्रामाण्य का स्वतस्त्व और अप्रामाण्य का परतस्त्व पन्न कैसे सङ्गत हो सके।। ?'

परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि स्वतः प्रामाण्य शब्द में स्वशब्द का अर्थप्रामाण्य हो, तब तो सारांश यह निकलेगा कि 'प्रामाण्य से ही प्रामाण्य का निश्चय होता है।' परन्तु यह सर्वथा असङ्गत है। यदि स्वशब्द का अर्थप्रमाण होता, तब तो मिध्याज्ञानों में प्रमाणता का निश्चय न होने से अप्रमाणता का निश्चय कर लिया जाता है। फिर तो जैसे प्रमाणता स्वतः होती है, वैसे ही अप्रमाणता भी स्वतः ही होती। परन्तु यहाँ स्व-शब्द का न प्रामाण्य ही अर्थ है और न प्रमाण हो।

ऐसी स्थित में, अप्रमाण-ज्ञान भी प्रथम अपने विषय की सत्यतारूप प्रमाणता को सत्यज्ञान के समान प्रहण करता है। परन्तु पीछे होनेवाले बाधक-ज्ञान से उसकी अप्रमाणता निश्चित

होती है। अतः अप्रामाण्य परतः है, जैसा कि भट्टपाद ने कहा है-

"यस्मात् स्वतःप्रमाग्तवं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम्। बाधकारणदुष्टत्वबोधाभ्यां तदपोह्यते ॥"

यहाँ यह भी सन्देह किया जाता है कि 'यदि पदार्थां की सत्यता ही ज्ञानों का प्रामाण्य है, तब तो स्मरण-ज्ञान को भी प्रमाण कहा जा सकता है।' परन्तु इसका उत्तर यह है कि केवल पदार्थ की सत्यता ही प्रामाण्य नहीं है, जिस ज्ञान का विषय प्रथम से अज्ञात रहा हो, जिसका विषय सत्य हो और साथ ही जो ज्ञान पदार्थ की सत्यता का निर्णायक हो, उसी ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है। उसी प्रमाण के भाव को 'प्रामाण्य' कहा जाता है। तथाच (१) ज्ञात रूप से अनुसन्धान न होना, (२) पदार्थ का सत्य होना और (३) ज्ञान में उस सत्यता की निर्णायकता —ये तीन छंश सम्मिलित होकर प्रामा ण्य होता है। इनमें पहले का बोध तो योग्यानुपलिब्ध से ही होता है—'यदि यह पदार्थ प्रथम से ज्ञात होता, तो उसकी ज्ञातता ज्ञात होती; परन्तु इसकी ज्ञातता मुक्ते ज्ञात नहीं है, अतः यह पदार्थ मुमे पहले से ज्ञात नहीं है। ' 'त्रयं घटः' यह ज्ञान तो घट का बोध कराता है, इससे घट की पूर्व अज्ञातता नहीं विदित होती; क्योंकि गुगा के ज्ञान आदि से भी यह अज्ञातता नहीं समभी जाती। श्रतः विषय की इस प्राथमिक अज्ञातता के बोध में ती स्वतः या परतः इस चिन्ता का अवतार नहीं होता, क्योंकि इस प्रामाण्यांश के ज्ञानस्वरूप से बोध होने की शंका तक नहीं उठ सकती। किन्तु पदार्थों की सत्यतारूपी जो दूसरा प्रामाण्यांश है, वह स्वतः अर्थात् ज्ञानस्वरूप से ही सिद्ध होता है। अतः

ग्रहीं स्वतस्त्व-परतस्त्व का विचार किया गया है। इस स्वतःप्रामाण्यविचार से 'वैदिकवाक्यों से मिण्या अर्थ का ही बोध
क्यों न माना जाय', इस शंका का समाधान हो जायगा; क्योंकि
इस विचार से यह निश्चित हो जाता है कि पदार्थों का
ग्रार्थतारूप प्रामाण्य उसी ज्ञान से निश्चित होता है।

श्रतः वैदिक विधिवाक्यजनित तद्र्य-ज्ञान की प्रमाणता खतः है, अतः उनका अर्थ मिथ्या नहीं। जो ज्ञान अर्थ की सत्यता का निश्चय करायेगा, वही उस अर्थ के निश्चय का कारण होगा; क्यों कि जो ज्ञे य का ज्ञापक होता है, वहीं ज्ञान का जनक होता है। इसी तरह अर्थनिश्चय भी प्रामाण्य का अंश है। ये तीनों ही प्रमाण्युद्धि के विषय होते हैं। इनमें निश्चयरूप प्रामाण्य की उत्पत्ति मानने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसे ही संवादज्ञानादि का कार्य कहते हों, तो भी कोई विरोध न होगा, क्यों कि 'प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है', यह सिद्धान्त का पन्न नहीं है, केवल द्वितीय प्रामाण्यांश को लेकर यह कहा जाता है कि प्रामाण्य स्वतः ज्ञात होता है।

यहाँ यह शङ्का उठायी जाती है कि 'जब सर्प तथा रज्जु दोनों में ही सर्पज्ञान होता है, तब सर्पज्ञान से सर्प का निश्चय कैसे किया जा सकता है? जब द्यर्थक्रिया-दर्शन से ही विषय का निश्चय होता है, तभी यह भी जाना जा सकता है कि सर्पज्ञान सर्प से ही उत्पन्न हुआ था, अन्य से नहीं। अर्थक्रिया का ज्ञान अपने विषय में सत्य ही होता है। इसिलए वही पूर्वज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करा सकता है।

'इसी भाँति उत्तरोत्तर होनेवाले अनेक ज्ञानों के साथ मेल मिलने से (संवाद से) भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य होता है, क्योंकि जो अर्थ मिछ्या होता है, पुनः-पुनः उसका वैसा ही बात होना सम्भव नहीं है। अतः पुनः - पुनः होनेवाले उत्तरोता ज्ञानों से भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य (विषय-सत्यता) निक्रित होता है। गुण्युक्त कारणसे जन्य ज्ञान यथार्थ होता है, अतः कारण गुण् निश्चय भी ज्ञान के प्रामाण्य का मृल हो सकताहै। एवं विषय के सत्यत्वलज्ञण प्रामाण्य का परतः होना भी ठीक है। स्वतः अर्थ-तथात्व (विषय का यथार्थत्व) लज्ञण प्रामाण्य नहीं हो सकता। अनिश्चित अर्थ में ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य किसी प्रकार भी बन नहीं सकता।

'निश्चयाभाव की उत्पत्ति के लिए तो दोषज्ञानादि किसी भी सामग्री की अपेज्ञा नहीं होती, क्यों कि अभाव कोई वस्तु नहीं है और निश्चय तो वस्तु है। अतः वह गुण्ज्ञानादि से उत्पन्न हो सकता है। इसलिए उसका परतः होना ही सङ्गत है।'

इन उपयुक्त शंकाओं का समाधान यह है कि सिद्धान्ती का यह आशय नहीं कि सभी ज्ञान अव्यक्षिचारी होते हैं, इसिल्प उनका प्रामाण्य होता है। अपितु ज्ञानों का स्वतःप्रामाण्य होता है। यदि ज्ञान स्वयं अपने विषय का निश्चय न करायें, तब ते किसी दूसरे जड़ पदार्थ में निश्चय कराने की सामर्थ्य है ही नहीं। फिर तो जगत् में निश्चय का अत्यन्त अभाव होने के कारण अशेष जगत् में अन्धता ही हो जायगी। जो विषय अपने ज्ञान से निश्चत नहीं; वह दूसरे से भी कैसे निश्चत हो सकता है? जो अर्थकिया ज्ञान से प्रामाण्य कहा जाता है, यह भी असंगत है; क्योंकि जैसे सर्प न होने पर भी अर्थ कियाज्ञान स्वरन में होता है। फिर तो अर्थक्रियाज्ञान का ही कियाज्ञान स्वरन में होता है। फिर तो अर्थक्रियाज्ञान का ही

प्रामाण्य न हुआ, तो अर्थिकियाज्ञान से घटादिज्ञान का प्रामाण्य

कुछ लोगों का कहना है कि 'यद्यपि जलानयन-क्रयविक्रयादि अर्थिकिया के बिना भी स्वप्त में इन सबका ज्ञान होता है, तथापि अर्थिकिया से यह सब कुछ विवित्त ही नहीं है। सुख-दुःख का ज्ञान ही अर्थिकिया है, वह कभी भी व्यभिचारी नहीं होता। सुख-दुःखज्ञान अपनी सत्ता में स्वतः ही प्रमाण है, क्योंकि बिना सुखादि के सुखादिज्ञान कभी होता ही नहीं। अतः वह अव्यभिचारी है। परन्तु ऐसे अर्थिकिया-निश्चय से दूसरे ज्ञान की प्रमाणता की आशा बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि स्वप्तके मिध्या चन्दन-विलेपनादि द्वारा भी सुख की उत्पत्ति होती है। यहाँ सुख-ज्ञान की प्रमाणता से चन्दन-विलेपनज्ञान की प्रमाणता कथ-मिप सिद्ध नहीं होती।

इसके सिवा अर्थिकिया के निरचयसे पूर्वज्ञान के विषय का निरचय करना ही एक प्रकार का कार्य से कारण का अनुमान हुआ। जैसे धूम में अगिन के सम्बन्धज्ञान से अगिन का अनुमान होता है, वैसे ही अर्थिकिया में पूर्वज्ञान के विषय के सम्बन्धज्ञान द्वारा उसकी सत्यता का अनुमान करना पड़ेगा। परन्तु विना सम्बन्धि का प्रहण हुए सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः सम्बन्ध-प्रहण के समय ही अवश्य घटज्ञान से ही घटनिरचय करना पड़ेगा। तथाच अनुमान से पहले ही घटनिरचय करना पड़ेगा। तथाच अनुमान से पहले ही घटजान से घट-निरचय मानना पड़ेगा।

ऐसे ही गुण्ज्ञान तथा सम्बन्धज्ञान के विषय में भी कहा जा सकता है कि जब घटादिज्ञान से घटादि का निश्चय नहीं हुआ, तब ज्ञान से गुण् का निश्चय कैसे कहा जा सकता है ? इसी तरह गुणज्ञान जबतक अपने विषयभूत गुण का निश्चय नहीं कर लेगा, तबतक उस गुणज्ञान से पूर्वज्ञान के विषय की सत्यता कैसे निश्चित हो सकती है ?

इसी तरह एक ही विषय के अनेक क्रमिक ज्ञानों में द्वितीयाहि ज्ञानों को संवाद कहा जाता है। यहाँ सोचना यह चाहिए कि पूर्वज्ञान से इस ज्ञान में क्या विशेषता है, जिससे पूर्वज्ञान से अनिश्चित अर्थ का इस ज्ञान से निश्चय होगा। निश्चय एक वस्तु है और वह जन्य है, तथापि वह उसी ज्ञान से उत्पन्न होता है, अन्य किसीसे नहीं। इसलिए प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य दोषज्ञान या वाधक-ज्ञान से, अतएव परतः ही निश्चित होता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'जब अप्रामाण्य प्रामाण्य का अभाव है, अर्थात् अवस्तु रूप है, तब वह दोषजन्य भी कैसे कहा जा सकता है ?' इसका समाधान यही है कि यद्यपि प्रामाण्य के अभावरूप अप्रामाण्य का निश्चय दोषों से नहीं होता, अपितु अर्थः मिध्यात्वरूप अप्रामाण्य दोषज्ञान से निश्चत होता है। क्योंकि कारण के दुष्ट होने से ही विषय का असत्यत्वरूप अप्रामाण्य देखा जाता है। अतः उसे दोषजन्य ही समम्भना चाहिए। अन्य प्रमाणों के समान वेदों में भी प्रामाण्य स्वतः है और अपौर्ध प्रमाणों के समान वेदों में भी प्रामाण्य स्वतः है और अपौर्ध प्रमाणों के तममें किसी प्रकार कारण-दोष सम्भव ही नहीं हैं। अतःवह द्यों का त्यों स्थित है, उसका अपोहन नहीं होता।

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि 'अप्रामाण्य दोष से होता है या गुणाभाव से, क्योंकि सर्वंत्र ही गुण्रहित, दोषयुक्त कारणों से ही अयथार्थता जानी जाती है। फिर उसमें दोष ही निमित्त हैं। गुणाभाव नहीं, यह विवेक कैसे हो सकता है ? इसलिए वाहें अप्रामाण्य परतः ही हो, तब भी गुणाभाव से वेदों में अप्रामाण्य

ब्रा जायगा। वेदों में भी आप्तप्रणीतत्वरूप न गुण होने के कारण गुणाभाव से उनका परतः अप्रामाण्य हो जायगा।' इसका उत्तर यह है कि समस्त कल्पनाएँ दृष्ट के अनुसार ही हुआ करती हैं। जब वेद का स्वतःप्रामाण्य मान लिया गया, तो उसके अनुसार ही अप्रामाण्य के हेतु की कल्पना करनी बाहिए। यद्यपि शुक्ति-रजतादि ज्ञानों में गुणाभाव और दोष दोनों ही दिखायी देते हैं, तथापि वेद में आप्तप्रणीतत्वरूप गुण केन होने पर भी प्रामाण्य दृष्ट ही है। अतः यदि गुणाभाव को अप्रामाण्य का प्रयोजक कल्पित किया जाय, तो वेदों के दृष्ट स्वतःप्रामाण्य का अवश्य बाध होगा। अतः यह कल्पना दृष्ट-विरुद्ध है।

इसलिए सर्वत्र ही मिध्याज्ञानों की असत्यता का कारण दोष ही है, गुणाभाव नहीं। यदि गुणाभाव सर्वत्र ही मिध्याज्ञानों में रहता है, इतने से ही उसे अन्नामाण्य का कारण मान लिया जाय, तब ज्ञानत्व भी सर्वत्र रहता है, तो उसे ही क्यों न अ-प्रमाणता का प्रयोजक माना जाय ? इस पर यदि यह कहा जाय कि 'प्रत्यज्ञादि यथार्थ-ज्ञानों में भी ज्ञानत्व रहता है, अतः वह अप्रामाण्य का निमित्त नहीं कहा जा सकता',—तब तो यह भी कहा जा सकता है कि गुणाभाव भी यथार्थ प्रमाणभूत वेदों में रहता है, अतः वह अयथार्थत्व का कारणा नहीं है।

यदि कहा जाय कि 'वेद की सत्यता तो अभी सिद्ध ही नहीं, तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्यचादि की ही यथार्थता कैसे सिद्ध है? यदि कहें कि 'उनकी यथार्थता (प्रमाणता) तो स्वतः है', तो यह कहा जा सकता है कि वह स्वतः प्रमाणता वेद में भी स्वतःसिद्ध है। सिवा नास्तिकवाद के और कोई युक्ति नहीं, जिससे वेद की प्रमाणता में बाधा पड़े। इसिलए गुणाभाव-मूलक अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता।

हाँ, यदि ज्ञानों की सत्यता में गुणों की कारणता होती, ता तो यह कहा जा सकता था कि शुक्तिर जतादि-ज्ञानों के असत्य स्वरूप अप्रामाण्य में गुणाभाव कारण है। परन्तु जब ज्ञानों के सत्यत्वरूप प्रामाण्य में गुणा को कारण ही नहीं माना जाता, तब ऐसा कहने का अवसर ही कहाँ है?

यदि सत्यत्वरूप प्रामाण्य में गुण को कारण मान लिया जाता, तब तो फिर शुक्तिरजतादि ज्ञान में प्रकाशयुक्त शुक्तिय की प्रतीति कथमपि न बन सकती, क्यों कि वहाँ कारण गुण है ही नहीं। यदि वहाँ भी गुण मान लिया जाय, तब तो फिर शुक्तिरजत ज्ञान की अप्रमाणता सिद्ध नहीं होगी।

यदि ज्ञानों की स्वकारण से ही यथार्थता और दोष से अयथार्थता मान ली जाती है, तब तो शुक्तिरजतादि मिध्या ज्ञान अपने कारण के अनुसार पुरोवर्ती एवं तद्गत भारत शुक्लत्वादि सत्य पदार्थों तथा दोष के अनुसार रजतादित असत्य पदार्थों को प्रहण कर सकते हैं। अतः ज्ञानों के प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है। इसी प्रकार वेद-जिनत ज्ञानों का भी स्वतःप्रामाण्य ही हुआ। अस्का अपोहन भी नहीं होता, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, अतः अपोहन भी नहीं होता, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं, अतः वहाँ कारण-दोष संभावित नहीं। नेत्र, श्रोत्र आदि प्रमाण में प्रमाता के भ्रम तथा करणों के अपाटव आदि दोष ही सकते हैं। वेद का कोई रचियता नहीं है; अतः भ्रम, प्रमाति विप्रतिष्टा, करणापाटव आदि दोष ही नहीं। वेदार्थ-ज्ञान की प्रकार वेदरूप प्रमाण में कोई दोष है ही नहीं। वेदार्थ-ज्ञान की

बाधक ज्ञान भी नहीं है, क्यों कि जब स्वर्ग, ब्रह्मादि वेदातिरिक्त प्रत्यच्च आदि प्रमाणों के विषय नहीं हैं, तो फिर उनका बाध या अभाव भी प्रत्यच्च आदि प्रमाणों से ज्ञेय कैसे हो सकता है ? अतः वेदमात्र से बोधित होनेवाले पदार्थों का बाध या अभाव भी प्रत्यच्च आदि से नहीं जाना जा सकता। अतएव वेदों का प्रामाण्य अन्पोहित ही रहता है।

कहा जाता है कि 'द्रव्य, गुण, किया आदि ही धर्म हैं और द्रव्यादि प्रत्यच्न-गम्य हैं ही। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि धर्म अतीन्द्रिय है, वह केवल वेद से ही जाना जा सकता है, अन्य प्रमाण से नहीं। पर विचार करने पर उक्त तर्क निस्सार जान पड़ेगा। जैसे स्त्री एक ही पदार्थ है, पर वह मनुष्यत्व जाति की दृष्टि से मनुष्य कहलाती है और अपने असाधारण चिह्नों से स्त्री कही जाती है, वह विवाहादि संस्कार के पश्चान् पित की पत्नी कही जाती है; इसी तरह द्रव्य, क्रिया आदि में भी एक उनका लौकिक रूप होता है, तो दूसरा स्वर्गादि-साधनरूप। असल में इसी दूसरी विशेषता के कारण द्रव्य, क्रिया आदि को धर्म कहा जाता है। पहला द्रव्य आदि का आकार प्रत्यच्च-गम्य है—ऐन्द्रियक है, तो दूसरा रूप अतीन्द्रिय है—एकमात्र शास्त्रवेध है। अतः द्रव्य, क्रिया आदि लौकिक रूप से धर्म नहीं कहे जाते, किन्तु स्वर्ग-साधनत्वरूप धर्म से ही धर्म कहे जाते हैं, जिसका ज्ञान एकमात्र शास्त्र से ही हो सकता है। कहा भी है—

"श्रेयःसाधनता होषां नित्यं वेदात्प्रतीयते । ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥"

फिर भी कहा जाता है "कि धर्म-अधर्म का विवेक तो लोक

में प्रसिद्ध ही है। ज्यास का कहना है कि उपकार पुरुष है, को अपकार पाप, यह सभी जानते हैं। श्लोक वार्तिक में कहा है

"इदं पुग्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये। त्राचागडालं मनुष्यागा मल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥"

वापी, कूप, तड़ाग आदि का निर्माण पुग्य है, गृहदाह और वित्त, स्त्री आदि का हरण पाप है। अतः पुग्य, पाप बतलान शास्त्र का लघुप्रयोजन है। अष्टादश पुरागों में व्यास ने दोई बातें कही हैं, (१) परोपकार पुग्य है और (२) परपीडन पाप

"श्रष्टादशपुरागोषु व्यासस्य वचनद्वयम्। धर्मः परोपकरणमधर्मः परपीडनम्।।"

इस तरह फिर धर्माधर्म तो अन्य स्रोतों से भी ज्ञात होते हैं। अतः यह कहा जाना कि वे केवल वेद-गम्य हैं, कहाँक ठीक है ?"

समाधान यह है कि प्रसिद्धि का कुछ न कुछ मूल होता है "न ह्यमूला प्रसिद्धिः।" जो प्रसिद्धि अमूल होतो है, वह अन्य परम्पर। के समान अप्रमाण ही होगी। अतः उक्त धर्माधर्म की प्रसिद्धि का कोई न कोई मूल अवश्य बताना पड़ेगा। धर्माधर्म अतीन्द्रिय हैं, अतः प्रत्यच्च आदि प्रमाण उस-उस प्रसिद्धि के मूल नहीं हो सकते। फलतः यह कहना पड़ेगा कि धर्माधर्मी प्रसिद्धि का मूल अनादि वैदिक विधि-निषेध ही हैं। कोई सी प्रसिद्धि का मूल अनादि वैदिक विधि-निषेध ही हैं। कोई सी प्रतिषय प्रन्थ इस अनादि प्रसिद्धि के मूल नहीं हो सकते। प्रकिष्य प्रन्थ इस अनादि प्रसिद्धि के मूल नहीं हो सकते। विना मूल प्रमाण के, केवल प्रसिद्धि के बल पर धर्माधर्म की विना मूल प्रमाण के, केवल प्रसिद्धि के बल पर धर्माधर्म की का निर्णय हो भी नहीं सकता। कारण यह है कि ये प्रसिद्धिण परस्पर विरुद्ध भी तो हैं। कई संसारमोचकादि विशेष हिंगी परस्पर विरुद्ध भी तो हैं। कई संसारमोचकादि विशेष हिंगी

4

को पुण्य कहते हैं, क्यों कि मृत्यु के अनन्तर जीव दुःखों से छुटकारा पा जाता है। अन्य लोग हिंसा को पाप मान लेते हैं।
आयों एवं अनायों की प्रसिद्धियाँ भी परस्पर विरुद्ध हैं। वैदिक
विधियाँ तो पूर्वोक्त प्रकार से निष्पत्त रूप में धर्माधर्म का बोध
कराती हैं। यद्याप धर्माधर्म की पुरानी प्रसिद्ध दपकार, अपकार
आदि विषयों में कथि अत् प्रमाण हो सकती है; तथापि अनिहोत्र, सुरापान आदि के संबंध में प्रसिद्ध गूँगी एवं अंबी ही हो
जाती है। कई स्थानों में सुरापान आदि को पाप सममा ही अहीं
जाता। दपकार, अपकार आदि के संबंध में भी प्रमाणान्वेषक
परीक्तों को तो शास्त्र का प्रयोजन है ही। हाँ, सामान्य लोग
प्रसिद्धमात्र से भी काम चला लेते हैं। इसीलिए व्यास ने कहा
है कि शास्त्र का कम प्रयोजन होता है, परन्तु ऐसा कम नहीं कि
शास्त्र का प्रयोजन होता है, परन्तु ऐसा कम नहीं कि
शास्त्र का प्रयोजन हो नहीं होता। अग्निहोत्र, सुरापान आदि
के धर्मीत्वादि का निर्णय सर्वथा शास्त्र-सापेक्त ही होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'हिंसा आदि का अधर्म होना अनुमान से जाना जा सकता है। जिसकी हिंसा की जाती है, उसको दुःख देखकर अनुमान किया जा सकता है कि हिंसा से हिंसक को कालान्तर में अवश्य दुःख होगा। परन्तु यह कोई व्याप्ति नहीं है कि 'जो दूसरों को दुःख देता है, वह कालान्तर में दुःख पाता है।' फिर व्याप्ति-निरपेत्त अनुमान होगा कैसे ? उलटे यह कहा जा सकता है कि वधकाल में हिंसक को सुख होता है, अतः काला-न्तर में भी सुख ही होगा।

फिर भी कहा जा सकता है कि 'जो क्रिया वर्तमान समय में अपने विषयरूपी पदार्थ में जैसा फल उत्पन्न करतो हो, वह क्रिया कालान्तर में कर्ता में भी वैसा ही फल उत्पन्न करती है। उदाहर- गार्थ, दानिकया वर्तमान समय में ग्रहीता में सुख उत्पन्न करती है, तो हिंसा वर्तमान समय में हिंस्यमान प्राणी में दुः व उत्पन्न करती है। अतः कालान्तर में वे दाता में सुख एवं हिंसक में दुःख उत्पन्न करेंगी। इस तरह अनुमान द्वारा धर्माधर्म का निर्णय हो सकता है। सुखजनक किया धर्म है और दुःखजनक किया अर्थम। अतः अनुमान भी धर्माधर्म में प्रमाण ही है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि वेद ही धर्माधर्म में प्रमाण है, अन्य नहीं ?'

किन्तु उपर्युक्त तर्क विचार करने पर खरा नहीं उत्तरता स्पष्ट है कि गुरुपत्नी-गमन क्रिया उस चाए में गुरुपत्नी को सुव देती है, फिर भी कालान्तर में कर्ता को सुखप्रद नहीं होती; इसके विपरीत दुःखप्रद ही होती है। इसी प्रकार मनुष्यमात्र मातृ गमन आदि को अतिपाप मानते हैं। शास्त्रों में भी इसे अति पातक और महापातक कहा गया है। सुरापान आदि क्रियाएँ भी स्वविषय जड़ सुरादि में दुःख नहीं पैदा करती है, तो भी पात करनेवालों को कालान्तर में महादुःख देती हैं। इस तरह 'अपने अपने विषयमें दुःखजनक क्रिया भी कर्ता में दुःख का जनन करती हैं, यह ज्यापि ज्यभिचरित है। अतः इस प्रकार भी कर अनुमान दृषित है।

इसी प्रकार दान प्राप्त करनेवाले प्राहक को कभी औदा सीन्य ही प्राप्त होता है, तो फिर दानिक्रया से कर्ता को भी औदासीन्य ही फल मिलेगा। ऐसी स्थिति में दान-क्रियाओं से सुख ही होता है, यह नहीं कहा जा सकता। अतः दानी दि क्रियाओं से कालान्तर में सुख ही होता है' यह वैदिक वाक्यों से ही विदित होता है। इतना ही क्यों, दानिक्रया से लेनेवाले की

जितना सुख होता है, उससे सहस्रों एवं अनन्त गुणित सुख दानी को होता है—धर्मशास्त्रों में यह स्पष्ट ही कहा गया है। यह सब अनुमान से ही जाना जाय, यह असम्भव है। कारण यह है कि दृष्टान्त में जिसके साथ हेतु में व्याप्ति गृहीत होती है, वही पत्त में साध्य होता है। जैसे-महानस में विह्न के साथ घूम की व्याप्ति गृहीत होती है, अतः अनुमान से धूम द्वारा पर्वत में वहि का अनुमान किया जाता है। प्रकृत में दृष्टान्तगत 'सम्प्रदान-तुल्य फलकत्व' दृष्ट है, अर्थात् जिसको दान किया जाता है, इसके समान ही दाता को फल मिलता है-यह देखा गया है। परन्तु वैदिक विधि-गम्य दान में तो कर्मकारक के अनुसार फल होता है। सुवर्ण आदि जैसी वस्तु का दान होता है, तदनुसार फलों में भेद होता है। अलाह्मण, लाह्मण-लूव लाह्मण, वेदपारग श्रादि संप्रदानों के भेदों से भी फलभेद होता है—यह वैषम्य है। यदि कहा जाय कि पच्च में भी दृष्टान्त के तुत्य ही संप्रदानतुल्य फलकत्व की कल्पना की जायगी, तो वह भी ठीक नहीं। कारण यह है कि सम्प्रदान के तुल्य ही प्रकृत में भी प्रीति-साधन हो, तब तो शास्त्र-विरोध होगा। दृष्टान्त में दान-कर्म हिरएय आदि स्वरूप से कोई भी फलजनन नहीं कर सकता। इसलिए उसके अनु-सार फल कल्पना सम्भव भी नहीं हो सकती। वेदवाक्यों के अनुसार अग्निष्टोम आदि यज्ञों में पशुहिंसा विहित होने से जप आदि के तुल्य कालान्तर में यज्ञ भी कर्ता के लिए सुखदायक है, परन्तु अनुमान से यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। सुरा-पान आदि वर्तमान में किसीको दुःख नहीं पहुँचाते, अतः वे कालान्तर में दुःखद होने चाहिए—यह अनुमान से सिद्ध नहीं होता। इसी तरह जपादि भी वर्तमान में किसीको सुख नहीं पहुँ-वाते, अतः कालान्तर में कर्ता को सुख न दे सकेंगे। प्रत्युत श्रमुखप

होने से जपादि कर्ता को दुःख ही पहुँचाते हैं। अतः वे सुख न पहुँचा सकेंगे—उनसे कालान्तर में कष्ट ही होगा। साराश यह कि उक्त अनुमान धर्माधर्म-साधन में असमर्थ है। जप, सुरापान आदि में धर्मता या अधर्मता के निर्णय के लिए सिवा वेद-वाक्य के और कोई भी प्रमाण नहीं हो सकता। अतः सर्वत्र वैदिक विधि-निषेध से ही धर्माधर्म का निर्णय उचित है।

मातृ-गमन आदि करनेवाला माता आदि को सुख पहुँचाता है, अतः उपकारक होने से धार्मिक ही कहा जाना चाहिए। इसी तरह जैसे आत्मधातरूप अपकार करनेवाला व्यक्ति पातकी कहा जाता है। इसी तरह कामान्ध प्राणी माता आदि में गमन द्वारा माता आदि का और अपना भी उपकार करता है, इस-लिए भी वह पुण्यात्मा कहा जाना चाहिए।

यदि कहा जाय कि 'मातृ-गमनादिरूप कर्म से चाएडात को भी घृणा होती है, अतः घृणारूपी आत्मापकार होने से उसके द्वारा पाप ही होता है।' पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि पाप- निर्णय होने पर ही तो घृणा हो सकती है। यदि पाप होने का निर्णय ही न हो, तो उस कर्म से घृणा भी क्यों होगी ? दृष्ट पीड़ा हो, तो पाप का निर्णय हो सकता है और तभी घृणा की बात उठ सकती है। अतः शास्त्र-निरपेन् होकर धर्माधर्म का निर्णय असंभव है।

श्राचार्यका शिष्य को ताड़न करना अपकारवत् प्रतीत होने पर भी अपकार नहीं है। इसी प्रकार गुरुद्दार-गमन उपकार की तरह जान पड़ने पर भी उपकार नहीं है। पपटी के सेवनकाल में रोगी को जल की अत्यन्त इच्छा होती है। जल दे देना उसकी उपकार प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः वह एक आयुर्वेद्द्य की

हृष्टि से अपकार ही होगा। इस तरह उपकार-अपकार का भी बास्तविक निर्णंथ शास्त्र से ही हो सकता है।

कुड़ लोग आत्म-प्रेरणा या इलहाम से धर्माधर्म का निर्ण्य करते हैं। परन्तु वह भी असंगत है। प्राणो को जैसी आदत होती है, उसी हंग की उसे आत्मप्रेरणा होती है। एक अहिसंक को अहिसा की ही आत्मप्रेरणा होती है। एक अहिसंक को अहिसा की ही आत्मप्रेरणा होती है। एक हिसक को ठीक इसके विपरीत आत्मप्रेरणा होती है। इस तरह लौकिक हित-अहित के निर्ण्य में भी प्राणो को नीति शास्त्र एवं विकित्साशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। स्वयं अपनी बुद्धि से हिताहित का निर्ण्य और हंग का होता है, परन्तु नीति शास्त्र एवं विकित्साशास्त्र की दृष्टि से हिताहित-निर्ण्य दूसरे हंग का होता है। फिर तो धर्माधर्म के संबंध में तो स्पष्ट ही प्रत्यच एवं अनुमान से अन्न अपीरुष्य वेद को ही प्रमाण मानना चाहिए। प्रत्यच्च एवं अनुमान से अन्नात अर्थ का ज्ञापक होना ही वेदों की वेदता है। कहा भी है—

"प्रत्यद्येणानुमित्या वा यस्त्पायो न विद्यते। एवं विन्दति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥"

मंत्र-ब्राह्मण-समुदाय ही वेद है—"मंत्रब्राह्मणयोर्नामधेयं वेदः।"

वेद स्वरूप — का त्यायन एवं श्रापस्तम्ब श्रादि के सूत्र हैं —
"शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सित
श्रामुब्मिकसुखजनकीचारणकत्वे सित जन्यज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वं
वेदत्वम्।" श्राथीत् जो शब्द एवं शब्दमूलक श्राथीपत्ति श्रादि
श्रमाणों से भिन्न प्रमाण से जनित प्रमितियों का विषय न बने,
जिसके उच्चारण से पारलोकिक सुल उत्पन्न होता

हो और जो अनित्य ज्ञान से अनुत्पन्न हो -ऐसा प्रामाणिक शब्द ही वेद है। निष्कर्ष यह है कि शब्द एवं शब्द-मृत्त्र अर्थापत्ति प्रमाण के ही द्वारा जिसके अर्थ या अर्थाश का बोध होता है तथा जिसके पठन से पारलौकिक सुख प्राप्त होता है और जो जीव-प्रणीत न हो, वह प्रमाणभूत शब्द-राशि वेद है। इस प्रकार भारत एवं आयुर्वेद आदि, जो प्रत्यन्तादि. मुलक एवं जीवकत क हैं, उनमें इस लच्चण की अतिव्याहि नहीं होती। इसी तरह वेदों के खण्डों के पाठ से पारलोकिक सुब की प्राप्ति नहीं होती, अतः उनमें भी वेद्त्व नहीं। जो वेद्-भाग हृष्टार्थ होते हैं, उनमें भी वेदत्व की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु उसका तात्पर्यार्थ विधि-स्तुति होता है। विध्यर्थ प्रमाणान्तर से गृहीत नहीं हो सकता। शब्दपद के संनिवेश का यह महत्त्वहैं कि नैयायिकों का वह मन, जो नित्य होने के कारण अजन्य है श्रीर प्रमाण है, वेद न कह दिया जाय। यही श्रपौरुषेय वास्य-राशि वेद है। बौद्ध आदि आगमों में वेदत्व नहीं है और नधर्म में उनका प्रामाएय ही है।

पौरुषेय प्रत्थों में भ्रम आदि दूष गा संभावित होते ही गीतादि का प्रामाण्य इसलिए कहा जा सकता है कि वे सब श्रुतिमूलक हैं। डपनिषद रूप गौओं से गोपालनन्दन कुट गा ने पार्थ रूपी बछ ड़े के लिए जो दुग्ध निकाला है, वही गीतामृत है। भिन्न-भिन्न अपभ्रंश, अरबी, हिन्न, जेन्द, इङ्गिलिश आदि भाषामय प्रंथों का भी वेदत्व एवं प्रामाण्य नहीं है, क्यों कि वे अपभ्रंश-शब्द जन्य ही हैं, अजन्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वे सकत क भी हैं। उन-उन प्रंथों के कर्ताओं का देश, काल आदि प्रमाणिस हैं। भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक मृलप्रंथों के कर्ताओं की स्मृत डनके अनुयायियों में प्रसिद्ध है। किन्तु वेद जैसे महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध प्रथ के कर्ता की, स्मर्ग योग्य होने पर भी, स्मृति न होता डसकी अपौरुषेयता का द्योतक है। जो पाणिनि को नहीं जानते, वे पारिएानि की वृद्धि आदि संज्ञाओं को भी नहीं जानते। जो वृद्धि आदि संज्ञा को जानते हैं, उन्हें संज्ञा-निर्माता का भी ज्ञान होता ही है। अतएव चिरकालीन होने कारण भी वेद-कर्ता का विस्मरण होना संभव नहीं है। वेद के अनुसार करोड़ों व्यक्ति ब्राज भी वर्णश्रमानुसारी धर्म, उपासना तथा तत्त्वज्ञान की साधना में संलग्न हैं। यदि वेद किसी पुरुष के बनाये हुए होते, तो उसके कर्ति एवं आप्तरव के ज्ञान से ही लोगों की वेदार्थानुष्टान में प्रवृत्ति होती, क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है। किसी लोकिक, परलोकिक इष्टप्राप्ति, अनिष्टपरिहार के उपायनिदेशक प्रनथ के अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति तभी होती है, जबकि उस प्रनथ के अप्त कर्ता का ज्ञान होता है। विना आप्त कर्ताका ज्ञान हुए किसी प्रनथ के उपदेशानुसार प्रदावान् की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः वेद्-भी यदि पौरुषेय होते, तो उस पुरुष के कर त्व, आप्तत्व तथा देश काल का बोध होने से ही प्रेचावानों की वेद के अध्ययन, अध्या-पन एवं तद्थीनुष्ठान में प्रवृत्ति होती। परन्तु ऐसा नहीं है, वेद के अध्ययनाध्यापन एवं तद्थीनुष्ठान में विशष्ठ, वामदेव जैसे सर्वज्ञ कर्ताओं की भी प्रवृत्ति है। वशिष्ठ, वामदेव जैसे सर्वज्ञकल्पों की प्रवृत्ति है। परन्तु वेद के कर्ताका ज्ञान किसीको नहीं है। अतः विद्ति होता है कि वेद अपौरुषेय ही हैं। अपौरुषेय तथा स्वत:-प्रमाण होने से ही प्रेचावानों की उसमें प्रवृत्ति है।

यहाँ यह प्रश्न व्यर्थ है कि 'वेद का कर्ता किसी एक को स्मृत नहीं है या सबको स्मृत नहीं है ? एक को स्मृत न होने से तो अनेक पौरुषेय प्रन्थों में भी अपीरुषेयता आ जायगी। सबको स्मृत न होना तो हम जैसे असर्वज्ञ जान ही कैसे सकते हैं ? कारण इस तरह तो किसी भी अभाव-ज्ञान में यही विप्रतिपत्ति खड़ी की जा सकती है। फिर तो सप्तम रसामाव भी सिंद नहीं किया जा सकता। प्रश्न होगा कि सप्तम रस एक के अज्ञात है या सबको ? पहला पच्च मानने पर किसी भी सद्वत्त का अभाव सिद्ध किया जा सकता है और सर्व के अज्ञान का पता एक असर्वज्ञ को हो नहीं सकता। पर क्या इस तर्क से सप्तम रस का सद्भाव माना जा सकता है ? यदि अनन्त विद्याओं के उद्गम-स्थान व्यास, विशिष्ठ जैसे विशिष्ठ लोगों के भी शिरोधार परमप्रख्यात वेद किसी के द्वारा प्रणीत होते, तो उस कर्ता का समरण अवश्य होता। पर क्या कहीं भी उसकी स्मृति है ? कदाचित्र कहीं नहीं। प्रत्युत—"वाचा विरूप-नित्यया, अनादि निधना नित्या" आदि वचनों से वेदों की नित्यता ही सिद्ध होती है।

भी सोपाधिक होने से दूषित है। यहाँ उपाधि है—स्मर्थमाण कर्न करव। यह उपाधि महाभारत आदि में विद्यमान है, जब कि वेद-वाक्यों में वाक्यरवरूप साधन है, पर स्मर्थमाण कर्न करव नहीं है। अथवा 'जन्यज्ञानजन्यता' या 'प्रमाणान्तरेण र्थज्ञानमुपलभ्य विरचितत्व' रूप उपाधि से उक्त अनुमान के दृषित कहा जा सकता है। पौरुषेय वाक्यों में 'जन्यज्ञानजन्यता' या 'प्रमाणान्तरेण या 'प्रमाणान्तरेण र्थज्ञानमुपलभ्य विरचितत्व' है ही। पर्नु वाक्यत्व मेदों में भी है, पर वहाँ न तो 'समर्थमाणकर कर्व है, न 'जन्यज्ञानजन्यता' और न 'प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व' है ही। पर्नु वाक्यत्व मेदों में भी है, पर वहाँ न तो 'समर्थमाणकर कर्व है, न 'जन्यज्ञानजन्यता' और न 'प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व' ही। वेद का उच्चारण पूर्वोच्चारण-सापच होते हैं। अर्थात् शिष्य वेद का उच्चारण करने में स्वतन्त्र नहीं है, बल्क गुरु के उच्चारण की अपेचा रखता है। ईश्वर एवं मंत्र बल्क गुरु के उच्चारण की अपेचा रखता है। ईश्वर एवं मंत्र विरच्यां का उच्चारण 'सुप्त्रतिबुद्ध न्याय' से पूर्वकल्यीय दृशां का उच्चारण 'सुप्त्रतिबुद्ध न्याय' से पूर्वकल्यीय

इन्बारण-सापेच होता है। आद्योच्चारण 'निर्माण' कहलाता है, वही अपने पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेचा नहीं करता। वही 'जन्य-ज्ञानजन्य' भी होता है और वही 'प्रमाणान्तरेणार्थज्ञानमुपलम्य विर-चित' भी हुआ करता है। इस प्रकार वह उक्त उपाधि, जो साध्य का ज्यापक एवं साधन का अज्यापक है, वेद के पौरुषेयत्व साधक अनुभान को दूषित कर देती है।

यदि बिना प्रमाण के वेदों का कर्ता मान लिया जाय, तब तो विना प्रमाण के सप्तम-रस की भी कल्पना कर ही लेनी होगी। साधारण प्रनथ या वाक्य ऐसे हो सकते हैं, जिनका कर्ता स्मर्थमाण न हो। किन्तु वेद जैसे प्रख्यात एवं सर्वमान्य प्रंथ का यदि कोई कर्ता होता, तो अवश्य ही उसका स्मर्ण होता। इसके अतिरिक्त अनादि काल से वेदों का आचाय-परम्परा से अध्ययनाध्यापन एवं तद्थीनुष्ठान प्रचलित है। अतः जिस ग्रन्थ की अविच्छिन्न संप्रदाय-परम्परा प्रचलित हो और जिसका कर्ता कोई स्मर्थमाण न हो, उस प्रनथ को अनादि एवं अपौरुषेय ही कहना युक्त है। संसार में कोई एक लेख भी लिखता है, तो उपाधियों सहित अपना नाम लेखक के रूप में लिखता है। किसी भी प्रनथ के मुखपृष्ठ पर ही लेखक का नाम अंकित रहता है। फिर कोई महत्त्वपूर्ण प्रनथ हो और उसके कतों का उल्लेख न हो—यह हो ही नहीं सकता! वशिष्ठ, मनु, व्यास आदि वेदों का आदर करते हैं, वेदों को ईश्वर के तुल्य ही अनादि अपौरुषेय मानते हैं। ईश्वर ब्रह्मा का निर्माण करते है, परन्तु वेदों का निर्माण न करके नित्य-सिद्ध वेदों को ही बह्या के हृद्य में प्रेषित करते हैं — "यो वे ब्रह्माणं विद्धाति " ।"

पूर्वमीमांसकों की दृष्टि से खरडप्रलय ही होता है, महा-

प्रलय नहीं होता। अतः वेदों की गुरु-शिष्यपरम्परा कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। अतएव उनका अनुमान है कि वेद का सभी अध्ययन गुरु-परम्परापूर्वक ही होता है। जैसे वर्तमान काल का वेदाध्ययन गुरुपरम्परापूर्वक ही होता है, वैसे ही वेदाध्ययनत्व होने से सभी वेदाध्ययन गुरुपरम्परापूर्वक ही सममते चाहिए यह अनुमान वाक्य इस प्रकारहै —

> "वेदस्याध्ययनं सर्व गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययन सामान्यादधनाध्ययनं यथा॥"

इत्तर मीमांसकों के अनुसार यद्यपि महाप्रलय मान्य है, तथापि नित्य-सिद्ध ईश्वर में ही वेद अविच्छित्र रूप से संनि हित रहते हैं। अतः सृष्टि के समय पूर्वकल्पीय वेदों की आतुः पूर्वी को स्मरण करके ईश्वर उनका प्रादुर्भाव करते हैं। ईश्वरा-नुप्रह से ही ब्रह्मा के हृद्य में वेदों का प्रकाश होता है। तपोक्त से 'सुप्त्रतिबुद्ध न्याय' के अनुसार अन्य महर्षियों से भी वेदों का प्रकाश होता है। यह सुनिश्चित है कि वेदों का कोई भी उच्चारण आद्योच्चारण नहीं है। सभी उच्चारण पूर्वोच्चारण सापेन्न ही हैं।

यद्यपि अद्वैतमत में ईश्वर सबका कारण माना गया है। इस अतः सभी वस्तुएँ ईश्वर-ज्ञान से जन्य मानी गयी हैं। इस तरह भले ही वेद भी ईश्वरज्ञान से जनित हो, फिर भी जिस प्रकार लोक में वाक्य का निर्माण वाक्यार्थज्ञानपूर्वक होता है। उस प्रकार वैद्यक-वाक्यों की उत्पत्ति नहीं है। बात यह है कि वेद पूर्वोच्चारण-सापेच उच्चारणवाले हैं। इसीलिए वेदों की 'ईश्वर-निःश्वासरूप' कहा गया है। जैसे, निःश्वास पुरुष वृद्धि

वं प्रयत्न की अपेचा न करके ही आविभू त होते हैं, वैसे ही वेद भी से पुरुष बुद्धि एवं पुरुष-प्रयत्न से सर्वथा निर्पेच्च होने के कारण अकृतिम एवं अपेरिषेय हैं। जिस प्रकार कालिदास आदि से प्रणीत वाक्यों का उच्चारण हम लोगों की किञ्चित् बुद्धि एवं प्रयत्न की अपेचा रखता हुआ भी हम लोगों से उद्भूत नहीं है—हमलोग उसके निर्माता नहीं हैं, निर्माता कालिदास ही हैं, क्योंकि कालिदासादि का उच्चारण वाक्यार्थ ज्ञानजन्य हैं और अस्मदादिका उच्चारण किञ्चित् बुद्धिजन्य होने पर भी बाक्यार्थ ज्ञानजन्य नहीं हैं—किन्तु कालिदासादि के उच्चारण से सापेच्च ही है। इसी प्रकार गुरु, शिष्य, प्रजापित या ईश्वर आदि के किचित् बुद्धि-प्रयत्न द्वारा वेदों का उच्चारण या आनुपूर्वी-निर्माण होनेवाले पर भी वाक्यार्थ ज्ञानजन्य न होने से उनके द्वारा वेदों का निर्माण नहीं समस्मा जाता। कारण वेदों का कोई भी उच्चारण या आनुपूर्वी-निर्माण निर्मेच्च नहीं हैं, किन्तु पूर्वीच्चारण सापेच्च ही है। इसी दृष्टि से वेद नित्य हैं।

नैयायिकों के मत में वर्ण, वाक्य आदि सभी अनित्य होते हैं, फिर भी प्रवाह रूप से वैदिक वर्ण, वाक्यादि अनादि एवं नित्य हैं। वेदान्तियों के मत से आकाशादि के तुल्य वर्ण, वाक्य आदि की उत्पत्ति होती है और प्रलयपर्यन्त उनकी स्थिति होती है। इस तरह प्रलयपर्यन्त स्थायी आकाश आदि की तरह वर्ण, वाक्य आदि की नित्यता है। इसी प्रकार प्रतिकल्प उनकी स्थिति भी समान रूप से होती है। इसिलए भी वेदों की नित्यता है। जैसे "श्रुवा पृथिवी श्रुवाः थीः" आदि स्थलों में पृथ्वी आदि की नित्यता ता कही गयी है, वैसे ही यहाँ भी समक्तना चाहिए। यह भेद अवश्य है कि हम लोगों द्वारा प्रणीत वाक्यों के भी वर्ण नित्य ही होते हैं। यद्यपि नित्य एवं विभु वर्णों में स्वतः देश-कालकृत पौर्वा-

पर्यरूप आनुपूर्वी नहीं बन सकती, तथापि कण्ठ तालु आहि में होनेवाले अभिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली ध्विन्य वर्णों की जो अभिव्यक्तियाँ पैदा करती हैं, वे सभी अनित्य मानी जाती हैं। उन्हीं अनित्य वर्णाभिव्यक्तियों में कालकृत पौर्वापर रूप आनुपूर्वी बन सकती है। इसीसे पद, वाक्य आदि का निर्माण होता है। इस दृष्टि से आनुपूर्वीरूप पद, वाक्य आह अनित्य ही होने चाहिए। तथापि जिन आनुपूर्वियों का प्रथम निर्माता कोई ज्ञात नहीं होता और जो अनादि-परम्परा से व्यवहार में प्रचलित हैं, ऐसे पद, वाक्य आदिकों को भी प्रवाह-रूप से नित्य ही माना जाता है। इसी अभिप्राय से "वाचा विरूपनित्यता" इत्यादि वेदवाक्यों से वैदिक वाक्यों की नित्यता कही जाती है। जिस प्रकार ज्ञातता-विशिष्ट ब्रह्म-स्वरूप मोत्त ज्ञान के अनित्य होने से अनित्य ठहरता है, तथापि ज्ञातत्वोपलित्त निरावरण ब्रह्मावत्प मोच नित्य हो जाता है; उसी तरह पौर्वापर्य-विशिष्ट वर्णहण, वैदिक पद-वाक्यादि भी अनित्य ठहरते हैं, तथापि पौर्वापयो पलित नित्यवर्णसमुदायरूप वैदिक पद एवं वाक्य आदि नित्य ही होते हैं। इसीलिए "वर्णा एव तु शब्दाः" अर्थात् वर्ण ही शब्द हैं—यह भगवान् उपवर्ष का उद्घोष है।

कहा जाता है कि वेद का स्वतःप्रामाण्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब वेदों की अपीरुषेयता सिद्ध हो जाय और वेदों की अपीरुषेयता तभी सिद्ध हो सकेगी, जब वर्णरूप शब्द निर्ध हो। परंतु नैयायिकादि शब्दों की नित्यता का खण्डन करके उनकी अनित्यता ही सिद्ध करते हैं।

यदि शब्द अनित्य एवं जन्य हैं, तो शब्दसमूहात्मक वेदी

में भी अनित्यता और जन्यता सिद्ध हो जायगी। ऐसी स्थिति
में पौरुषेयता और पुरुषाश्रित भ्रमौ प्रमादादि दूषणों से
दूषित होने की शंका अवश्य ही वेदों में हो सकती है। तस्मात्
वेदों का स्वतः प्रामाण्य मानना कथमपि सङ्गत नहीं। परन्तु इस
विषय पर पूर्वमीमांसा में जैमिनि ने पूर्णकृप से विचार किया है।
वहाँ उक्त विषय पर निम्निलिखित पूर्वोत्तर-पद्म प्रहणपूर्वक
विचार किया गया है— "कमैं के तद्दर्शनात्" (१ अ०१ पा०)।
अर्थात् उचारणकृपी कमें के अनन्तर शब्दों का अवण होता है,
इसके पहले नहाँ। जैसे कमें से ही घट का उपलम्भ होता है,
अतः वह अनित्य है, वैसे ही शब्द को भी अनित्य ही
सममना चाहिए।

'श्रस्थानात्।''—िफर श्रवण के अनन्तर शब्द ठहरता नहीं। इससे भी उसकी अनित्यता ही जानी जाती है। ''करोति शब्दान्।'' —जैसे 'कुलाल घट का कर्ता है' ऐसा व्यवहार होता है। वैसे ही 'देवदत्त शब्द करता है' यह व्यवहार भी होता है।

"सत्वान्तरे यौगपद्यात्।"—जैसे लाघवात् शब्दों में नित्यता सिद्ध की जायगी, वैसे ही शब्द में एकता भी सिद्ध होगी। परन्तु अपकृष्ट-परिमाणवाली एक ही वस्तु समीप और दूरदेशवर्ती भिन्न-भिन्न पुरुषों को प्रत्यत्त नहीं हो सकती। शब्द तो उच्चारण के स्थान से समीप और दूरवर्ती पुरुषों को एक ही काल में उपलब्ध होता है। एक स्थान से किसी वस्तु के फेंकने पर समीप और दूर के पुरुषों को एक ही ज्ञण में आघात नहीं होना चाहिए। अतः शब्द अनित्य और अनेक हैं। इसी प्रकार "प्रकृतिविकृत्योश्च।" अर्थात कारण के अनुसार 'दिध + अत्र' ऐसी स्थित में इकाररूप प्रकृति के स्थान में यकाररूप विकृति होती

है। इस भाँति विकार होने से उसमें अनित्यता अनिवार्य है। इसी तरह ''वृद्धिश्च कर्तृभूग्नाऽस्य।"—अर्थात कर्ताओं के बहुत होने पर शब्दबाहुल्य भी देखा जाता है। जैसे कुम्हारों के बाहुल्य से घटों का बाहुल्य होता है, वैसे ही उच्चारण करनेवाले बहुत होने पर कोलाहलपूर्ण बड़ा शब्द होता है। यदि शब्द नित्य होता, तो उच्चारण उसका केवल व्यव्जाक ही माना जाता। ऐसी स्थित में शब्द का बाहुल्य न बन सकता। अतः शब्द नित्य नहीं, अनित्य ही है।'

नैयायिकों की उक्त युक्तियों से शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है। परन्तु मीमांसक इनका परिहार करके शब्दों की नित्यता जिन युक्तियों के आधार पर सिद्ध करते है, वे निम्नलिखित हैं—

"समन्तु तत्र दर्शनम्।"—यदि किसी अन्य प्रमाण से शब्द की नित्यता सिद्ध होती हो, तो उच्चारण के अनन्तर शब्द का प्रत्य होना नित्य, अनित्य दोनों पत्तों में समान है। अनित्यत्व पत्त में उच्चारण शब्द का कारण होता है, तो नित्यत्वपत्तमें उच्चारण व्यक्षक या प्रकाशक होगा। जैसे कारण के अनन्तर ही कार्य के उपलम्भ का नियम है, वैसे ही व्यक्षक के अनन्तर ही दस्तु की अभिव्यक्ति का नियम है। अतः उच्चारण के पश्चात् ही शब्द का प्रकाश होता है। इतने से ही शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं होती। उच्चारण के बाद अधिक च्यांतक स्थिर न रहना भी होनों पत्तों में समानक्तप से सङ्गत है। अतः "परमदर्शनं विषयावगमात्।" दोनों पत्तों में उक्त बातें समान होते हुए भी व्यक्ष्य-पत्त ही अधिक युक्त है, क्योंकि सदा विद्यमान नित्य शब्द का जो पूर्व और उत्तर काल में अदर्शन है, उसे उच्चारणक्तप व्यक्षक के साथ सम्बन्ध न होने के कारण ही समभन्ना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि ककारादि वर्णों के सुनने के बाद श्रोताओं को 'यह वही ककार है' इस प्रकार की प्रत्यिभिज्ञा (पिहचान) होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि उचारणों में भेद होने पर भी ककारादि वर्ण एक ही हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि ककारादि वर्णों को नित्य, व्यापक मानने में लाघव भी है। अतः उचारणों में भेद होने पर भी ककारादि वर्ण एक, नित्य और व्यापक ही हैं। अनित्य मानने में एक वर्ण भी अनन्त व्यक्ति और उनमेंप्रत्येक की उत्पत्ति, विनाश मानने में बड़ा गौरव होगा।

रही यह बात कि जब वर्ण नित्य हैं, तो उनको सदा उपलब्ध भी होना चाहिए। कभी उनका उपलब्ध होना और कभी न होना वर्ण-नित्यत्वपत्त में कैसे बनेगा? इसका समाधान यही है कि यद्यपि शब्द नित्य ही है, तथापि शब्द के प्रत्यत्त होने में एक स्तिमित (स्थिर) वायु प्रतिबन्धक है। उच्चारण में प्रेरित मुख-वायु के संगोग-विभाग से जबतक प्रतिबन्धकभूत उपस्थित वायु का अपसारण होता है, तभीतक शब्द का प्रत्यत्त होता है। जब उच्चारण जन्य मुख-वायु के संगोग-विभाग नहीं होते या वे नष्ट हो जाते हैं, तब प्रतिबन्धकीभूत स्तिमित वायु का अपसारण नहीं होता। अतः वह शब्द भी सुनायी नहीं देता। जैसे अन्धकारस्थ घट का व्यव्जक दीपक है, उसके रहने पर ही घट का प्रत्यत्त होता है; वैसे ही उच्चारण भी सर्वदा स्थित शब्द का केवल व्यव्जक है और उसके रहने पर ही शब्द का केवल व्यव्जक है और उसके रहने पर ही शब्द का प्रत्यत्त्त होता है।

डच्चारण के कर्ता को ही शब्द का कर्ता समका जाता है। डच्चारण वही संयोग-विभाग है, अतः 'शब्द का कर्ता' होने से तात्पर्य केवल 'शब्दप्रयोग के कर्ता' में हैं—'प्रयोगस्य परम्।" जैसे एक ही सूर्य महान् होने के कारण एक ही समय में भिन्नदेशस्य अनेक पुरुषों को दिखलाई देते हैं, वैसे ही व्यापक शब्द एक होते हुए भी, एक ही समय में भिन्नदेशस्य अनेक पुरुषों को प्रत्यक्त हो सकते हैं। इससे शब्द की भिन्नता और अनित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती—'आदित्यवद्योगपद्यम्।"

वर्णों में दूध-दही के समान प्रकृति-विकृतिभाव भी नहीं बन सकता। इकार यकार दोनों पृथक् पृथक् वर्ण हैं। यदि इनमें प्रकृति-विकृतिभाव होता, तो जैसे दुग्ध के विना दृष्टि नहीं हो सकता, वैसे ही इकार के बिना यकार का उच्चारण न बनता। परन्तु 'यथा' आदि शब्दों में बिना इकार के भी यकार उच्चरित होता है, अतः दोनों ही स्वतन्त्र है।

विधायक सुत्रों का इतना हो तात्पर्य है कि 'सुधी + डपास्य' ऐसे उच्चारण के प्रसंग से 'सुध्युपास्यः' ऐसा उच्चारण करना। बहुतों के बोलने से जो कोलाहल होता है, उसे भी शब्द की वृद्धि नहीं कही जा सकती। वृद्धि उस पदार्थ की हो सकती है, जिसमें अनेक अवयव हों। शब्द तो नैयायिकों के मत में भी गुण पदार्थ होने से निरवयव है। अतः निरवयव शब्द में वृद्धि कथमि नहीं बन सकती। इसलिए यह मानना चाहिए कि किसी अन्य वृद्धि का ही वर्णों में आरोप होता है। इस भाँति पूर्वोक्त संयोग विभाग की वृद्धि से ही शब्दों में वृद्धि का व्यवहार होता है।

ये ही संयोग-विभाग 'नाद' शब्द से भी व्यवहृत होते हैं। उन्हीं की बहुलता से शब्द में सावयवता और बहुलता प्रतीव होती है। अतः वृद्धिरूप हेतु से भी शब्द की अनित्यता नहीं कही जा सकती। शब्द नित्य होने पर ही दूसरों को बीध

कराने के लिए शब्दों का प्रयोग संगत होगा, अन्यथा दूसरों को बोध कराने के लिए शब्दों का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा, कारण अतित्य शब्द तो उचारण के अनन्तर ही नष्ट हो जायगा। वह श्रोता को अर्थबोध कराने तक रहेगा ही नहीं। फिर बिना वाक्यरूप कारण रहे वाक्यार्थबोधरूप कार्य कैसे उत्पन्न होगा श्रितः यह मानना ही चाहिए कि अपना अर्थबोध कराने तक शब्द ठहरता है। उसके अनन्तर उसके नाश का कोई हेत न होने से उसे नित्य मानना ही युक्तियुक्त हैं। सर्वत्र ही समानता रूप से 'यह वही गकार है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा होती है। सर्वत्रं सदा सभीको ऐसी ही प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः इसे भ्रान्ति नहीं कह सकते। इसलिए भी शब्द नित्य ही है। अगर किसीने दश बार भी शब्द का उच्चारण किया, तो भी व्यवहार यही होता है कि एक गोशब्द का दश बार उचारण किया गया। ऐसा ठयवहार नहीं होता कि इसने दश गोशब्दों का उच्चारण किया। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उच्चारण में ही हेरफेर होता रहता है, शब्द स्वरूप से एक ही होता है। जैसे घटादि के नाश का कारण असमवायिकारणका नाश प्रसिद्ध है, वैसे ही शब्द के नाश का कारण लोक में निश्चित नहीं है। अतः शब्द नित्य ही है।

कई लोग कहते हैं कि 'वायु-परमाणुओं के संयोगों से शब्दों की उत्पत्ति होती है, ''वायुरापद्यते शब्दताम्" इस शिक्तावचन के अनुसार तो यही विदित होता है, कि शब्द वायु का ही विकार है।' किन्तु यह कथन युक्त नहीं, कारण यदि शब्द वायु का विकार होता, तो उसका वायवीय त्वक्-इन्द्रिय से ही प्रत्यत्त होता, श्रोत्र इन्द्रिय से उसका प्रत्यत्त न होता। जैसे अन्यान्य वायुविकारों का श्रोत्र से प्रत्यत्त नहीं होता, वैसे ही शब्द का भी श्रोत्र से प्रत्यच न होता। अतः शब्द वायु का विकार नहीं है। इसके अतिरिक्त 'वाचा निरूपनित्यया' इस मन्त्र से भी शब्द की नित्यता

विद्ति होती है।

यहाँ फिर यह शंका होती है कि 'नित्य होने से भले ही वर्ण पौरुषेय न हों, वर्णों की आनुपूर्वी भी पौरुषेय न हों. कुम्भकारादि पदों में भी पदों की आनुपूर्वी चाहे पुरुषानपेन अर्थात् स्वतन्त्र ही रहे; परन्तु वाक्यों में अन्वयबोधयोग्य परो का समिन्यवहार तो अवश्य ही पुरुषों की अपेद्मा रखता है। पुरुषाधीन होने से ही लौकिक वाक्य पौरुषेय कहलाते हैं। लौकिक वाक्यों में रहनेवाली वर्णों और पदों की आनुपूर्वी श्रोतात्रों के बोध का कारण है। यह आनुपूर्वी न बनायी जा सकती है, न बिगाड़ी ही जा सकती है। आनुपूर्वी के बिगड़ने पर इन शब्दों से श्रोताओं को अर्थबोध ही न हो सकेगा। फिर वह वाक्य ही निष्फल हो सकता है।

'ट घ' ऐसा प्रयोग करने पर घट का बोध नहीं हो सकता। 'कार: कुम्भ' ऐसा कहने पर कुम्भकार का बोध नहीं हो सकता, परन्तु लौकिक वाक्य तो सभीके मत में पौरुषेय ही समभे जाते हैं। इस पर विचारणा यह है कि लौकिक वाक्यों में कौन-सी वस्तु पौरुषेयता है ? वर्गा तो पूर्वकथनानुसार अपौरुषेय ही है, वर्णों या पदों की आनुपूर्वी भी पूव के (घट, कुम्भकार) दृष्टान्त से अपौरुषेय (नित्य) ही है। पदों का समभिन्याहार ही अव शिष्ट रहता है, अतः उसे हो पौरुहोय (पुरुषाधीन, अनित्य) कही जा सकता है। कारण वहाँ आनुपूर्वी बिगड़ने पर निर् र्थकता नहीं होती—चाहे, 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष) कहें। चाहे 'पुरुषो राज्ञः' (पुरुष राजा का है) से शब्दबोध दोनों ही ्र तरह हो सकता है।

अतः यदि यह समभिव्याहार भी पौरुषेश न हों, तब तो लोकिक वाक्यों में इससे भिन्न कोई पौरुषेयता है ही नहीं। किर तो लौकिक वाक्यों से भी पौरुषेयता उड़ जायगी। यदि लोकिक वाक्यों में समभिव्याहार की पौरुषेयता मान्य है, तब तो वही पौरुषेयता वेदों में भी आ सकती है। क्योंकि वह लौकिक, वैदिक दोनों ही तरह के वाक्यों में श्रोता का शाब्दबोधं कराता है। अतः जैसे समिन्याहार की पौरुषेयता से लौकिक वाक्यों में पौरुषेयता आती है, वैसेही वैदिक वाक्यों की भी पौरुषेयता अवश्य होगी। सहोचारण ही समभिव्याहार है। बिना पदों के सहोचारण के कोई भी वाक्य सिद्ध नहीं होता। साथ ही वंदों द्वारा भी वेदों की पौरुषेयता सिद्ध होती है। 'प्रजापतिर्वेदानस्जत'—प्रजापति ने वेदों का सर्जन किया। ''तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जिज्ञरे", ''यज्ञो वै विष्णुः" —विद्या से सामादि वेदों की उत्पत्ति हुई। अगिन से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुआ-"तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदा अजायन्तस्रग्नेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः स्र्यात् सामवेदः" [श॰ का॰ ११ अ०५]। पुरागों में भी बहुधा ब्रह्मा को वेदों का कर्ता कहा गया है। इन सबसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि वेद विष्णु से, प्रजापित से, अगिन से और अन्यान्य स्रोतों से उत्पन्न होते हैं। स्मृति, पुराण आदि से भी यही बात मालूम पड़ती हैं।'

पर उक्त कथन भी विचार-शाण पर खरा नहीं उतरता। कारण यह है कि किसी प्रन्थ या वाक्य का प्रथमोच्चारियता ही कर्ता माना जाता है। जैसे भारत आदि का प्रथम उच्चारण करनेवाले कृदण द्वैपायन व्यास हैं। समिभव्याहार में केवल करनेवाले कृदण द्वैपायन व्यास हैं। प्राथम्य की अपेना नहीं उच्चारण की अपेना होती है, प्राथम्य की अपेना नहीं

होती। अत्एव द्वितीय, तृतीय उचारण में भी वाक्यत्व रहता ही है। कार्य से कारण का अनुमान होता है। समभिव्याहारहा कार्य से उसके कारण उच्चारण का अनुमान ही हो सकता है क्योंकि प्राथम्य अप्रयोजक है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि दितीयादि उचारण प्रथमोच्चारण की अपेदा नहीं रखते। क्योंकि यह कहा जा चुका है कि शिष्य आदि का परवर्ती उच्चा. रण गुरु के पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेदा रखते ही हैं। अर्थात हरएक उच्चारण अपने पूर्ववर्ती उच्चारण की अपेन रखता है, मुख्य प्राथम्य की अपेद्गा नहीं रखता। गुरुश उचारण की अपेता उच्चार्ण शिष्य के रखता । गुरु का उच्चारण शिष्य के उच्चारण से प्रथम होने ' पर भी अपने गुरु के उच्चारण की अपेत्रा वह भी द्वितीयादि है ही। अतः यही कहा जा सकता है कि जो उच्चारण जिस उच्चारण का कारण होता है, वह उसकी अपेचा पूर्व होता है। अतः समभिव्याहार से उसके कारणभूत उच्चारण का और उस उच्चारण से उसके कारणाभूत पूर्व-उच्चारण का अनुमान हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक उच्चारण से उसके पूर्व-पूर्व उच्चारण का अनुमान होता है। सारांश यह कि इक्त प्रक्रिया के अनुसार उचारण-धारा अनादि है। अतः समभिन्याहारहणी वाक्य के कारण इच्चारण कर्ता गुरु-शिष्यों की अनादि-परम्परा प्रविति है। उनका प्रथम-प्रथम उच्चारण करनेवाला कर्ता कोई भी सिंड नहीं होता। यद्यपि भारत आदि प्रन्थों की भी यही अनादि ही परा प्राप्त होती है, तथापि उनके निर्माता ज्यास आदि प्रसिद्धि से यह परम्परा व्यास आदि तक जाकर रक जाती है। वेदों में उचारण-परम्परा की निवृत्ति का कोई साधन नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि वेद की उच्चारण-परम्परा अनादि है।

जैसे मनु आदि ने जिस समय मन्वादि-धर्मशास्त्रों की रचना की, इस समय के पुरुषों ने उनको रचना करते देखा और उन लोगों ने अन्य पुरुषों से कहा। फिर उन लोगों ने भी दूसरों से कहा। इस प्रकार मनु आदि कर्ताओं की स्मरगा-परम्परा ब्राजतक प्रचलित है। ऐसे ही यदि वेद का कोई कर्ता होता, तो इसी क्रम से उसके स्मरण की भी परम्परा होनी चाहिए थी। तब एकदेशी ग्रंथों की यह स्थिति है, तो मनु, व्यास आदि के द्वारा अत्यन्त समाहत सर्वविद्याओं के मृल वेदों का रचयिता बिद कोई होता, तो अवश्य ही किसीने देखा होता और उसने इसरों से कहा होता। उन लोगों ने भी अन्यों को सुचना दी होती और वेद-कर्ता की स्मृतिपरम्परा अवतक प्रचलित हीती। छोटे-ब्रोटे प्र'थों की रचना करनेवाले भी रचयिता के रूप में अपना नामोल्लेख करते हैं। कई-कई तो अपनी प्रख्याति एवं, नाम चताने के लिए ही यंथ लिखते हैं। फिर वेद जैसे महान् एवं गम्भीर प्रथों का यदि कोई रचियता होता, तो अवश्य ही अपना नाम भी सूचित करता। अन्य किन्हीं अन्थों में कर्ता के होने, न होने का विवाद भी नहीं है। अतः वेद के कर्ता के संबंध में सभी अनुमान अटकलमात्र हैं।

"प्रजापतिर्वेदास् जत्" इत्यादि स्थलों में 'सृज' धातु का 'उचारण' ही अर्थ है, निर्माण नहीं। तभी "यो ब्रह्मणं विद्धाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।" इस मन्त्र की "तस्मैतं, ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुन्तुर्वे शरणमहं प्रपद्ये' इस मन्त्रबाक्य के साथ संगति बैठेगी। इस मन्त्र का यही अर्थ मन्त्रबाक्य के साथ संगति बैठेगी। इस मन्त्र का यही अर्थ है कि जो ईश्वर ब्रह्मा का निर्माण करता और उसके हृद्य में बेदों को पहुंचाता है, हम मोन्न के लिए उसीकी शरण जाते हैं।

गौ आदि सिद्ध पदार्थ को ही प्राम आदि में पहुँचाया जाता है। यदि प्रजापित वेद के कर्ता होते, तो इस प्रकार "ब्रह्मार्ग विद्वाति" 'विदान् प्रहिणोति" यह प्रयोग नहीं हो सकता था। जब ब्रह्मा का ' निर्माता ईश्वर भी वेदों का निर्माता नहीं, तो ब्रह्मा या प्रजापति वेदों के निर्माता कैसे होंगे ? "सुजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः" इत्यादि स्थलों में बाणों के प्रदेश अर्थ में ही 'सूज' धातु का प्रयोग हुआ है। उचारण का भी 'चेप' ही अर्थ है। "यश्च किरति क रव्यनि निष्दुरः" इत्यादि स्थलों में उच्चारण को चेप ही कहा गया है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'हिनोति' का अर्थ है-प्रापण। यह अर्थ भी "प्रहिशु नयने" "इन्दुः प्रहितः" इत्यादि स्थलों में प्रसिद्ध है। प्रजापति ने ईश्वरप्रेरणा से पूर्वकल्पीय उच्चारण-सापेन उच्चारण-कर वेदों का संप्रदाय-प्रवर्तन किया, यही 'प्रजातिवेदानस्जत' का अर्थ है। यदि यहाँ 'सृज' धातु का अर्थ निर्माण लिया जाय, तो परस्पर विरोध भी है। विष्णु प्रजापति, अग्नि, स्ये, वायु आदि अनेक का स्रष्टृत्व श्रुत है। फिर किसे निर्माता माना जाय ? किन्तु यदि उचारण ही सृज का अर्थ हो, तब तो कोई विरोध न होगा। इसी प्रकार माता के उदर में संजात चैत्र का भी माता के पेट से निकलनेमात्र के अर्थ में "श्रद्य चैत्रो जातः" यह व्यवहार होता है ! इस तरह 'श्रजायत' का अर्थ भी संगत हो जाता है। उचारण भी जन्य होता ही है। इसी तरह उक्त श्रुतियों में अन।दिसिद्ध वेद के उच्चारणमात्र से जनि, सृजि आदि का प्रयोग संगत हो सकता है।

इसी तरह "ग्रनन्तरन्तु वक्त्रेभ्यस्तस्य वेदाः विनिःसृताः" अर्थात् 'पश्चात् ब्रह्मा के मुखों से वेद निकले'--यहाँ विनिःसृता' का अर्थ उत्पत्ति नहीं, बल्कि 'च्चारण' ही है। प्रस्तुत स्मृति या इसी प्रकारकी श्रन्य स्मृतियाँ भी उक्त श्रुतिमूलक ही हैं। श्रतः उनका

भी ड्यारणमात्र में ही तात्पर्य है। प्रथमोच्चारणरूप निर्माण के कथन में स्मृति का तात्पर्य नहीं है। "प्रतिमन्वन्तरञ्चेषा श्रुतिन्त्रा विधीयते" इस रमृति में ड्यारण के भेद से ही प्रतिमन्वन्तरों में अन्य श्रुतियों का विधान बतलाकर कतां ओं के भेद का विरोध परिहार किया गया है। जैसे, देवदत्त द्वारा ड्यारित गोशब्द में भिन्नता का व्यवहार होता है, वैसे ही मन्वन्तरों में भिन्न डच्चारण करनेवालों के भेद से श्रुति में भी भिन्नता का व्यवहार होता है। वास्तव में जैसे गोशब्द एक ही है, वैसे ही श्रुति भी अभिन्न ही है।

कुछ लोगों को गीता के "वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्" इस वचन से भी भ्रान्ति होती है कि वेदान्तों के कर्ता भगवान् हैं। श्रतः परमात्मा वेद के कर्ता हैं, यह गीता से ही सिद्ध होता है। किन्तु उस वचन का अर्थ यह है कि भगवान् वेद के अन्त अर्थात् सम्प्रदाय-लोप या अप्रचार का कृत् (छेदन) करनेवाले हैं। 'कृती हेदने' धातु से निष्पच्च यह रूप है। अथवा महाप्रलय-समय वे वेद के सम्प्रदाय का लोप करनेवाले हैं। पालक होने से सृष्टिकाल में सम्प्रदाय-लोप को काटनेवाले हैं और संहारक होने से प्रलयकाल में सम्प्रदायलोप के कर्ता हैं। अथवा वेदान्त-विचारात्मक वेदान्तशास्त्र 'ब्रह्मसूत्र' के व्यास के रूपमें प्रणेता हैं। अथवा वेदान्तों के कर्ता होने का आशय 'वेदान्तों का सम्प्रदाय-प्रवर्तन करना है। वेदान्नों — उपनिषदों का निर्माण तो किसीसे नहीं होता। यदि विधिमाग अपीरुषेय और उपनिषद् भाग पौरुषेय माना जाय, तो 'अर्ध-जरतीय' न्यायकी उपस्थिति होगी। "वाचा विरूपनित्यया" इस मंत्र से तो समस्त वेदलक्रण-वाक् की नित्यता सिद्ध होती है, जिससे पौरुषेयता पर होनेवाली समस्त शंकाओं का सहज में ही खरडन हो जाता है।

भट्टपाद जैसे प्राचीन विद्वानों का तो यह कहना है कि यदि भारत आदि प्र'थों के कृष्ण द्वे पायन प्रभृति कर्ता प्रसिद्ध न होते, तो वेद के समान वे भी अपौरुषेय ही होते। किन्तु जब हनके कर्ताओं की प्रसिद्ध है, तो पौरुषेयता सिद्ध होने से अपौरुषेयता निरस्त हो जाती है।

पुराणों में वेद के कर्ता की जो चर्चा आती है, वह "प्रजा-पतिवेदान सजित" इस अथवाद के ही आधार पर ही है। जद अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता, तो उनके आधार पर बनायी हुई स्मृति या पुराण के आधार पर वेदों की पौरुषेयता कैसे सिद्ध हो सकती है?

यदि वास्तव में वेद का कोई कर्ता होता, तो तात्कालिक पुरुषों को अवश्य ही उसका प्रत्यच्च होता। वे औरों से और वे औरों से कहते। इस रीति से अध्येताओं और अध्यापकों की परम्पराओं में अवश्य ही उसकी प्रसिद्धि होती। किन्तु वह प्रसिद्धि है नहीं। अतः यही कहना पड़ता है कि पुराणों ने अर्थवादों को ही देखकर वेदों का कर्ता बतलाया है। परन्तु जब उसका मूल अर्थवाद ही स्वार्थ में प्रमाण नहीं, किसी विधि का स्तावक मात्र है, तब उससे वे पुराणवचन वेदकर्ता को कैसे सिद्ध कर सकते हैं?

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'कर्नु स्मृति का मूलान्तर किल्पत करके उसका सम्यक्त्व ही क्यों न माना जाय ?' किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं। जब परम्परा से वेद्-कर्ता का स्मर्ण नहीं है, तब वह अनुभवमूलक नहीं कहा जा सकता, उसका अर्थवादमूलक होना ही उचित है। यद्यपि अर्थवाद भी अन्यपरक होने से कर्नु-स्मृति के मूल नहीं हो सकते, तथापि ह्मन्यपरक वाक्यों से भी भ्रान्ति हो सकती है। अतः सर्वथा अमूल कहने की अपेचा भ्रान्तिमूल कहना ही उचित है। यही बात भट्टपाद ने कही है—

> "भारतेऽपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते । वेदेऽपि तत्स्मृतिर्या तु साऽर्थवादनिबन्धना ॥ पारम्पर्येण कर्तारं नाध्येतारः स्मरन्ति हि । तेषामनेवमात्मत्वात् भ्रान्तिः सेति च वद्यते ॥ तेषु च क्रियमाणेषु न मूलान्तरकल्पना । तथा ह्यद्यतनस्यापि ते कुर्वन्तीदृशीं मितम् ॥"

कुछ लोगों का कहना है कि 'वेदों के अनेक कर्ताओं का जो अवण है, उसमें कोई भी विरोध नहीं। जैसे राम, कृष्ण आदि परमेश्वर के अवतार हैं, वैसे हो सूर्य, अग्न, वायु, यज्ञ प्रजापित आदि सभी परमेश्वर के ही अवतार हैं। इस तरह अनेक रूपोंसे परमेश्वर ही वेदों के निर्माता हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न परमेश्वर के ही नामों से भिन्न-भिन्न शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। अथवा कठ आदि भिन्न-भिन्न जीवों ने वेदों को बनाकर अपने-अपने नाम से भिन्न-भिन्न शाखाओं को प्रसिद्ध हैं। स्थान है। दोनों ही पत्तों में वेद की अपौरुषेयता मिट जाती हैं। भगवान जैमिनि ने 'वेदांश्चेक सिन्नकर्ष पुरुषा-एयाः' इस सूत्र स इन्हीं पत्तों का उत्थापन किया है। भगवार्थ यह हैं कि कुछ लोग वेदों को रचित मानते हैं, क्यों कि काठक, कौथुम आदि शाखाएँ कठ आदि पुरुषों के नामों से सम्बद्ध पायी जाती हैं। अतः काठक आदि समाख्या से ही वेदकर्ताओं का निर्णय हो जाता है।

इन्हीं आचार्यों ने इस विषय का समाधान येा किया है कि

जिस बस्त की सामान्य रूप से प्राप्ति होती है, समाख्या से उसी-के विशेषांश का निर्णय हुआ करता है। जैसे दिच्छणा द्वारा ऋत्विजों का वरण कर लेने पर उन्हें यज्ञ के हरएक कार्यों में नियुक्त किया जा सकता है। अतः आध्वर्यव, औद्गात्र, होत्र आदि समाख्याओं से नियमन किया जाता है। यजुर्वेद के जिन कमों का 'आध्वर्यव' नाम है, उनका कर्ता उसी नाम के अनुसार 'अध्वर्यु' ऋत्विज यजुर्वेदी ही नियत होता है। जिन ऋग्वेदीय कमों का हौत्र नाम है, उनको ऋग्वेदी होता करता है। इसी तरह यदि वेदेां का कर्ता सामान्य रूप से सिद्ध होता, तो काठक. कौथुम आदि समाख्याओं द्वारा विशेषरूप कठ आदि कर्ता सिद्ध किया जा सकता। किन्तु जब सामान्य रूप से भी वेदें। का कर्ता सिद्ध नहीं है, तब फिर काठकादि द्वारा विशेष कर्ताओं की सिद्धि कैसे हो सकती है ? रही काठक आदि समाख्याओं की बात। सो तो प्रवचन संबन्ध से भी उपपन्न हो सकती है। अर्थात् कठ आदि ने विशेष रूप से जिनका प्रवचन किया, वे ही शाखाएँ काठक आदि हैं।

जो यह कहा जाता है कि 'वाक्यमात्र किसी न किसी पुरुष के बनाये होते हैं, तो वेदवाक्य भी किसीके बनाये होंगे' इस अनुमान से सामान्य रूप से वेदों का कर्ता सिद्ध ही है, काठकादि समाख्या से विशेष रूप में भी उसका निण्य हो जायगा।' इसका भी उत्तर यह है कि वेदों का कर्ता परम्परा से प्रसिद्ध नहीं है। इस कारण उक्त अनुमान अस्मर्थमाणकर् कत्वरूप उपाधि से दृषित ही है। अतः उससे कर्य सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

कहा जा सकता है कि 'कर्ता की प्रसिद्धिन होने से कर्ट' सामान्य का जो निषेध किया जाता है, वह भी बिना प्राप्ति के बन नहीं सकता। कारण शृ'ग आदि अप्राप्त पदार्थों का निषेच या बाध नहीं किया जाता। अतः अपौरुषेयता का समर्थन करनेवाले वेदों की पौरुषेयता का जो निराकरण करते हैं, उसीसे पौरुषेयता की प्राप्ति सिद्ध हो जाती हैं। इसके सिवा यह भी कहा जा सकता है कि काठकादि समाख्या से ही सिद्ध होता है कि वेदों के कर्ता और अध्येताओं की परम्परा में अवश्य प्रसिद्ध है। अतः कर्ता की अप्रसिद्धि नहीं कही जा सकती। इसलिए वाक्य होने से तो वेदों का सामान्य रूप से कर्ता सिद्ध होता ही है, काठकादि समाख्या से विशेषतः उसकी सिद्धि हो सकती है।'

किन्तु विचार करने पर उक्त तर्क भी निस्सार जान पड़ता है, क्योंकि प्रसिद्धि प्रवचन या पढ़ने-पढ़ाने के अधिक अभ्यास से भी हो सकती है। अर्थात् कठ ने जिस शाखा का विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन किया, उस शाखा को 'काठक' कहा जाता सकता है। अतः समाख्या के आधार पर वेद के कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी तरह प्राप्तिपूर्वक ही निषेध होता है, किन्तु वह प्राप्ति प्रामाणिक होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं। क्यों-कि प्रामाणिक प्राप्ति का अत्यन्त निषेध हो ही नहीं सकता। काठकादि समाख्या का मृल प्रवचन आदि नहीं है। अतः उसके आधार पर कर्ता की प्रसिद्धि नहीं कही जा सकती।

यद्याप यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'जब गुरुपर-म्परा अनादिकाल से प्रचलित है, तो सहस्रो' व्यक्तियों ने एक शाखा का प्रवचन आदि किया ही होगा। फिर कठ के प्रवचन मात्र से काठकादि समाख्या की उपपत्ति कैसे हो सकती है ? जब अनेक प्रवक्ता थे, तो उनके नामों से समाख्या क्यों नहीं हुई ? इसलिए कठ द्वारा रचित होने से ही काठक समाख्या ठीक भतीत होती है ।'

किन्तु उक्त तर्क भी ठीक नहीं है, क्यों कि प्रवचन के उत्कर्ष को लेकर काठक समाख्या बन सकती है। कठ ने विशिष्ट रूप से प्रवचनादि किया, इसलिए उस शाखा का नाम 'काठक' हुआ। इसीलिए "उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्" (जैं० सु०), "त्राख्या प्रवचनात" (जै० सू०) इन सूत्रें। से कहा गया है कि पूर्व ही शब्द की नित्यता युक्तियों से सिद्ध कर दी गयी हैं। 'तथा वाचा विरूपनित्यया" इस श्रति से भी वेदवाक्यों की नित्यता सिद्ध है। अतः वेद नित्य हैं। काठकादि समाख्या तो प्रवचन से ही बनी है, रचना से नहीं। यद्यपि महाभारत आदि वाक्य भी शब्द हैं, तो भी वहाँ कर्ता आदि की प्रसिद्धि हैं; अतः वहाँ पर पौरुषेयता है। वेदों में कर्ता की प्रसिद्धि नहीं है, अतः वेद अपौरुषेय हैं। वाक्य-समिव्याहार यद्यपि कर्न-सापेच होता है, तथापि वहाँ स्वतन्त्र कर्ता की अपेद्या नहीं होती। प्रथम उचारण करनेवाला 'स्वतंत्र कर्ता' कहलाता है। जब वेद अनादि हैं, तो उनका कोई भी प्रथम उच्चारण करनेवाला नहीं है। हरएक शिष्य अपने गुरुओं के उच्चारण के अनुकूत ही उच्चारण करता है। अतः डच्चारण के कर्ता होने पर प्रथमोचारियतारूप वेद्वाक्यों का मुख्य कर्ता कोई भी नहीं। जब वेदों का कर्ता सामान्य रूप स अप्रसिद्ध है, तो फिर काठकादि समाख्या द्वारा भी कर्ता की सिद्धि नहीं हो सकती। समाख्या विशिष्ट प्रवचनमात्र से उत्पन्न हो ही जाती है।

कहा जाता है कि 'जैसे कुमारी का गर्भ ही पुरुषसंयोग में स्वतन्त्र प्रमाण होता है, वैसे ही समाख्या रूप काठकादि शब्द ही शाखाओं के पौरुषेय होने में स्वतः प्रमाण है।' किन्तु उक्त तर्क भी ठीक नहीं। कारण जैसे 'कृते प्रन्थे' इस अधिकार में 'कटेन कृतं काठकम्' शब्द बन सकता है, वैसे ही 'तेन प्रोक्तम्'

श्वद्यीते तद्देव' इत्यादि अर्थ में भी काठक, कीश्रम आदि शब्दों की निष्पत्ति होती हैं। पाणिनीय सूत्र दोनों ही प्रकार के हैं। इस तरह समाख्या अन्यथासिद्ध है। इससे काठकादि शाखा के निर्माता कठादि सिद्ध नहीं होते, किन्तु कठादि हन शाखाओं के प्रवक्ता ही सिद्ध होते हैं।

पूर्वपत्ती काठकादि समाख्याओं द्वारा वेद को पौरुषेय सिद्ध-कर उनके स्वतः प्रामाण्य का खण्डन करना चाहता है। किन्तु हसके पत्त में तीन दोष होंगे। पहला तो यह कि समाख्या अन्य प्रमाणों की अपेत्ता दुर्बल प्रमाण होता है। श्रुति, लिङ्क, वाक्य, प्रकरण प्रमाण उससे प्रबल हैं। अश्वकर्ण आदि समाख्या (यौगिक शब्द) अवयवार्थ की अपेत्ता न कर वृत्तविशेष में पर्यवसित होती है। व्यवहार में चलती चीज को गाड़ी, बने हुए दूध को खोआ कहा जाता है। ऐसी दुर्बल एवं अल्पीयसी समाख्या के बल पर श्रुति जैसे प्रबलप्रमाणक्ष्प, स्पष्टवादी महान् शब्द-राशि वेद का अप्रामाण्य कहना सर्वथा असंगत है।

यदि कहा जाय कि 'समाख्या के द्वारा पौरुषेयता ही साधित करना अभीष्ठ है, वेदों का अप्रामाण्य साधन नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्यों कि पौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करना दुष्कर ही होगा। जैसे कोई कहे कि 'में केवल तुम्हारा शिर ही काटूँगा, मारूँगा नहीं', वैसे ही यह भी कहना है कि 'हमें पौरुषेयता ही सिद्ध करना है, अप्रामाण्य नहीं।' जैसे शिर काटने पर मरना अनिवार्य हो जाता है,वैसे ही पौरुषेयता सिद्ध होने पर वेदों का अप्रामाण्य भी अनिवार्य ही है। दूसरे यह कि वेद के लिए समाख्या है, समाख्या के लिए वेद नहीं। अतः अप्रधान प्रमाण से प्रधानभूत वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करना भी मूर्खंता ही है। तीसरे यह कि दो-वार अद्यरों की

समाख्या के बल पर महान् शब्दराशि वेद का अप्रामाण्य कहना वैसा ही असंभव है, जैसे चने का भाड़ फोड़ना। ऐसी स्थिति में जैसे अश्वकर्ण आदि शब्द अत्तरार्थ के बिना ही वृत्त आदि के वाचक होते हैं, वैसे ही काठक, कौशुमक, तैरोत्तिरीयक आदि समाख्याएँ उन-उन शाखाओं की रूढ़ (अवयवार्थरहित) संज्ञाएँ हैं। काठक आदि नामों से उन-उन शाखाओं का व्यवहार चलाना ही उनका प्रयोजन है।

किन्तु "श्रुतिसामान्यमात्रम्" इस सूत्र द्वारा जैसे बर्वरादि शब्दों को रूढ़ माना गया है, वैसे ही यहाँ भी काठक आदि शब्द शाख-विशेष में रूढ़ हैं। सहस्रों अध्येता एवं अध्यापकों के होने पर भी काठकादि समाख्या कठ के नाम पर ही हुई। जैसे अनेक की माता होने पर भी देवदत्त की ही माता का व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृत में भी समक्षना चाहिए। जैसे डित्थ, डिव्थ की समान रूप से माता होने पर भी, व्यवहार डित्थ की माता होने का ही होता है, वैसे ही काठकादि शाखाएँ, चाहे अनेक पुरुषों से पढ़ी-पढ़ायी जायँ, फिर भी काठकादि समाख्याएँ हो सकती हैं।

यद्यपि जिस तरह कठ के पढ़ाने से उस शास्त्र का नाम 'काठक' पड़ा, उसी तरह अन्य अध्यापकों के नामों से उन शाखाओं की प्रसिद्धि होनी चाहिए थी। फिर भी किसी अध्यापक का इससे कुछ लाभ नहीं है। समाख्या केवल व्यवहार के लिए होती है, सो भी अनादि वेद के समान भी अनादि ही है। हम देखते ही हैं कि अनेक ऋषियों से सेवित होने पर भी तीथ मार्कण्डेय और अगस्त्य आदि ऋषियों के नाम से हो प्रसिद्ध हैं। इसके सिवा जिस दूसरे अध्यापक के नाम से शाखा की प्रसिद्धि

होती, तो उसके लिए भी यही कहा जा सकता था कि अन्य अध्यापकों के नाम से समाख्या क्यों नहीं हुई? उयवहार एक नाम से चल सकता है, अतः अनेक के नामों से समाख्या का बनना उथर्थ है। इसी प्रकार सत्र याग में यजमान अनेक होते हैं, परन्तु किसी एक ही यजमान के नाम से यूप-निर्माण होता है। सीता अशोक वाटिका में ही क्यों रखी गर्थी, इस प्रश्न के समान ही यह भी प्रश्न है।

जो लोग समाख्या द्वारा वेदों की पौरुषेयता सिद्ध करते हैं, उन्हें यह बतलाना चाहिए कि यह समाख्या नित्य है या श्रीनत्य ? अर्थात् यह किसी पुरुष से बनायी हुई है या नहीं। यदि समाख्या नित्य मानी जाय, तब तो वह पुरुष के अनुसार नहीं कही जा सकती। फिर उसके द्वारा पौरुषेयता की सिद्धि की श्राशा ही व्यर्थ है। यदि समाख्या पौरुषेय या किसी पुरुष की बनायी समभी जाय, तब भी वह जिसकी बनायी हुई है, उसके सत्यवादी होने में क्या प्रमाण है ? ऐसी स्थित में वह समाख्या भी श्रप्रमाण ही है। फिर उसके द्वारा वेद के कर्ता की सिद्धि भी नहीं की जा सकती। अतः समख्या द्वारा वेद की अपीरुषेयता को कथमिप अप्रमाण सिद्ध नहीं किया जा सकता।

नैयायिक आदि लोग 'विश्वरूप कार्य से उसके एक सर्वज्ञ, सवशक्तिमान कर्ता का अनुमानकर उसे ही वेदों का कर्ता मान लेते हैं।' किन्तु यदि ऐसी बात होती, तो अवश्य ही वेदों के कर्ताकूप से उस परमेश्वर की प्रसिद्धि होती। नित्य आकाश के रहने पर भी, परमेश्वर के विश्वकर्तृत्व में कोई बाधा नहीं खड़ी होती। पूर्वोक्त प्रकार से जब शब्दों की नित्यता सिद्ध होती है तब परमेश्वर को उनका कर्ता मानना निर्धंक है। वेदों का

कर्ता न मानने पर भी परमेश्वर के विश्वकर त्व में कोई बाधा नहीं पड़ती।

कुछ लोग कहते हैं कि 'गौ आदि व्यक्ति अनित्य हैं। गौ आदि शब्दों का संकेत कभी किसी पुरुष आदि के द्वारा ही किया गया होगा, जैसे कि पुत्र उत्पन्न होने पर पिता उसका नामकरण करता है। ऐसी स्थिति में अनित्य संकेतवाले शब्दों का ही वेदों में प्रयोग होता है। अतः वेद भी अनित्य ही होंगे। इसके अतिरिक्त कितने ही ऐसे व्यक्तियों के नाम आये हैं, जिनके जन्म-मरण का निश्चय है ही। जैसे—'' वर्षरः प्रावहणि-रजायत।" अर्थात् प्रावहणि का पुत्र वर्बर पैदा हुआ। "कुस्तुविन्द-रौद्दालिकिरकामयत"-- उद्दालक के पुत्र कुस्तुविन्द ने कामना की। यहाँ कहना ही पड़ता है कि बर्बर और कुस्तुविन्द आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति से पहले ये शब्द नहीं थे। जिस पुरुष या जिस घटना का जिस प्रकार प्रनथ में वर्णन है, वह प्रनथ अवश्य ही उस पुरुषों या उन घटनाओं के पश्चात् बना है! प्रावहण का पुत्र बर्बर व्यक्ति है, वह नित्य नहीं हो सकता। फिर ऐसे अनित्य अर्थवाले अनित्य शब्दों का प्रयोग वेदों में आही रहे हैं। तब उन्हें पौरुषेय कहने में क्या आपत्ति हो सकती हैं ?'

वस्तुतः ये ही सब बातें "श्रनित्यदर्शनाच" इत्यादि सूत्रों से कही गया हैं। आधुनिक लोगों की भी प्रधान युक्त यही हैं कि 'वेदों में अमुक व्यक्ति या अमुक पर्वत या नदी या घटनाएँ वर्णित हैं। अतः इन सब बातों का जिस अन्थ में वर्णन हो, उस अन्थ का इन सबके बाद ही बनना अवश्य मानना चाहिए। अतएव नदियों और व्यक्तियों के कालिनश्चय से वेदों का भी कालिनिर्णय किया जाता है। साथ ही यह भी को सिंद्ध

करने का भी प्रयास किया जाता है, कि जिन पहाड़ों या निद्यों का वर्णन वेदों में है, उन-उन देशों में वेदों का निर्माण और वैदिक संस्कृति का विस्तार मानना चाहिए।

यह भी शङ्का पाचीन ही है कि 'वनरातयः सत्रमासते गावी वा सत्रमासते'—'वनम्पति एवं गायों ने सत्र किया'—ये सत्र वाक्य सर्वथा उन्मत्तालाप के समान हैं। इन सब बातों का समाधान 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इस सूत्र से जैमिनि ने किया है। सूत्र का त्राशय यह कि बबंर आदि शब्दों का किमी पुरुष-विशेष में तारपर्य नहीं है, क्यों कि वहाँ उस पुरुष की उत्पत्ति और जीवनचरित्रादि कुछ भी नहीं वर्षित है। जैसे आख्या-यकाओं एवम् उपन्यासों में देवद्त्त, यज्ञाद्त आदि कल्पित नामों का उपयोग किया जाता है, उसी तरह इन नामों का भी उपयोग समक्तना चाहिए।

किसी भी सिद्धान्त या गणित को सममाने के लिए एक-आख्याधिका गढ़ लो जाती है। उसकी घटना और उसके नाम सभी काल्पत होते हैं। उनकी सचाई से वहाँ कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः इन शब्दों के आवार पर किसी देश-विशेष, जाति-विशेष, पुरुष-विशेष या वस्तुविशेष का निण्य नहीं किया जा सकता।

यद्यपि उत्तरमीमां सकों के अनुसार प्रमाणान्तरों से अविरुद्ध कोई आख्यायिका स्वार्थ में भी तात्पयवाली हो सकती है। फिर भी वेदों का नित्यता, अनादिता और अपी क्षेत्रता का प्रति-पादन करनवाली श्रांत्रयों एवं युक्तियों से विरुद्ध होने के कारण केने आख्यायिका आर्था नामों द्वारा वेदों की पौरुषेयता सिद्ध नहीं हा सकता। इसक सिवा वेद के शब्दों द्वारा विश्व की सृष्ट

मानी गयी है—"शब्द इति चेन्नातः प्रभावात्।" जब समस्त अद्यागडों की ही उत्पत्ति शब्दों के आधार पर है, तो सभीका बणन बेदों में रहेगा। फिर किसी खणड या देश का वर्णन हो या न हो अतः वेदों के किसी देश या काल में बनने की कल्पना सब्धा निराधार है।

जिसमें शब्दों का तात्पर्य होता है, वही शब्दार्थ होता है "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।" जब लौकिक आख्यायिकाओं के नामों द्वारा भी किसी व्यक्ति विशेष का निरूपण नहीं किया जा सकता, फिर बर्बरादि कल्पित नामों से अपौरुपेय नित्य वेदों की पौरुषेयता या अपामाण्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? 'वृत्तों ने यज्ञ किया,' गौओं ने सत्र किया,' इन वचनों में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि पदों के सम्बन्धादि यहाँ निर्दोष है। यह समस्ता ठीक नहीं है कि अचेतन ब्रुक्ष आदि में यज्ञ करने की सामध्य नहीं है, अतः असम्भव बात कहनेवाले वाक्य के अर्थ का बाध होता है; क्योंकि यहाँ अर्थवाध गुण ही है, दोष नहीं।

'मम माता वन्ध्या' यह वचन विरुद्ध थेक है। किन्तु जहाँ ऐसे वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य न होकर किसी विधेय की स्तृति वा निषेध की निन्दा में ही तात्पर्य हो, वहाँ तो वाच्यार्थ का बाधित होना कोई दूषण ही नहीं है। जैसे, लोग बोला करते हैं कि 'श्रीगुरुवरणपङ्कत-रज्ञः रुण ही समस्त शङ्काओं को मिटा देते हैं, फिर गुरुओं की बात क्या है?' रहाँ यदि शङ्का उठायी जाय, तो उसका समाधान बृहस्पति भी नहीं कर सकते।

ऐसे स्थलों में बाच्यार्थ के बाधित होते से ही गुरुखि

बादि में तात्वर्य निर्णीत होता है। यदि बाच्यार्थ का बाध न हो, तब तो अन्य वाक्यों की तरह पूर्वीक वाक्यों का भी स्वार्थ में ही तात्पर्य हो जायगा। फिर गुरु की स्तुति आदि अर्थ ही नहीं निकाला जा सकता। इसी तरह 'मेरी माता वन्ध्या ही है, यदि मैंने भगवान् की सेवा न की' इसका भी तात्त्रयं यहा है कि भगवान् के भजन के बिना जन्म ही व्यथं होता है। अतः ऐसे बाक्य उन्मत्त-वाक्य नहीं हो सकते। ऐसे ही 'अपशवो वा अन्ये गोत्रश्वेभ्यः', (गो-अश्व आदि से अन्य महिष आदि पशु ही नहीं हैं) इस वाक्य का भी तात्पर्य गो-अश्व पशु की प्रशंसा में ही है। ठीक इसी तरह सत्रों का साहातम्य-वणन है कि 'देखो सत्र इतने श्रेष्ठ हैं कि वृत्त, गाय आदि अचेतन और अयोग्य भी उनका अनुष्ठान करते हैं, फिर मनुष्यों को तो अवश्य ही उनका अनुष्ठान करना चाहिए।"

यही बातें पराशर-मृति में कही गयी हैं-

"न कश्चिद्देदकर्ता च वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः। तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥"

कोई भी वेदकर्ता नहीं है, चतुर्मुख या मनु आदि सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से पूर्व सृष्टि के ही वेदों का स्मरणकर उपदेश करते हैं। यहाँतक कि परमेशबर भी वेदों का कर्ता नहीं है। यह बात मत्स्यपुराण में भी स्पष्ट है— ंश्रस्य वेदस्य सर्वज्ञः कल्पादौ परमेश्वरः । व्यञ्जकः केवलं विप्राः नैव कर्ता न संशयः ॥"

अतः स्पष्ट है कि परमेश्वर भी कल्पादि में नित्यसिद

बेद को केवल प्रकट करते हैं, बनाते नहीं।

यद्यपि उत्तर-मीमांसा के "शास्त्रयोनित्याधिकरण" में भगवान् बादनारायण ने जगरकारण परब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को सुदृढ़ करने के लिए "शास्त्रयोनित्यात्" इस सूव से परमेश्वर को शास्त्र का भी कारण कहा है। इससे वेरों के भी ईश्वर राचित होने के कारण उनमें पौरुषेयता, अनित्यता आदि की प्रसांक हाती है। किन्तु वादरायण ने हो "अत एव च नित्यत्वम्" इस सुत्र से वेरों का नित्य कहा है। अता इन दोनों सूत्रों का समन्वय करके हो सुत्रार्थ करना चाहिए।

समन्वय की दृष्टि से देखने पर विदित हामा कि नैयायिक, वैशेषिक प्रभृति वर्ण, पदाथ और उन दोनों के सम्बन्ध एवं वाक्यों को अनित्य मानते हैं। मोमांसकों का कहना है कि जैसे काल और आ काश नित्य हाते हैं, वैसे हो वर्ण मो नित्य हैं। पूर्वमोमांसकों का यह मत उत्तरमोमांसकों को भो मान्य है। पूर्व मीमांसक विश्व भेद को सत्य मानते हैं, तो वे शन्तो उसे मिध्या कहते हैं। तथापि "व्यवहारे भादनयः" के अनुसार ज्यवहार में वेदा नित्यों वो भी भट्ट का हो मत मान्य है। इसी आश्राय से देवताधि करण में वर्णात्मक वेदों की ज्यावदारिक नित्यता सिद्ध की गयी है। जैसे किव लोग प्रमाण न्तरों से अथीं को जानकर अपनी मिंत

के अनुसार पद और वाक्यों की योजना करते हैं, वेदों की रचना देती नहीं है। इसलिए वेद अपीरुपेय हैं। आकाशादि के ममान वेद भी ब्रह्म के विर्वत हैं। इसीलिए "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र से तरमेश्वर को वेद का कारण कहा गया है। भट्टपाद ने भी इसी बात पर ध्यान रखकर कहा है, कि "प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां सतन्त्रता" अर्थात् भले ही वेद पुरुषोच्चरित या ईश्वर से प्रादु-मूंत हों, किन्तु पुरुषों की स्वतन्त्रता का ही हमें यन्नपूर्वक वारण करना चाहिए। "स्वतन्त्रः कर्ता" इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार कर्ता वही हो सकता है, जो किया में स्वातन्त्र्येण विवित्तत हो। वेद का ऐसा कर्ता उत्तरमीमांसक के मत में भी कोई नहीं है।

जैसे आधुनिक अन्थों के निर्माता स्वतन्त्रता से अर्थज्ञानपूर्विक पद्वाम्य की रचना करते हैं; वैसी ही स्वतन्त्रता से
अर्थावबोध-पूर्विक वैदिक पद-वाक्यों की योजना नहीं होती।
किन्तु जिस तरह वर्तमान काल में छात्रगण आचार्यों के उच्चारणातुसार ही वेदों का उच्चारण करते हैं, पद-वाक्य के बदलने में
वे स्वतन्त्र नहीं हैं, उसी तरह परमेश्वर भी पूर्वकल्य की वेदानुपूर्वी का अस्मरण करके दूसरे कल्प में उपदेश करते हैं। वे भी
प्राचीन योजना को यदलने या बिगाइने में समर्थ नहीं हैं। अतः
भले हा वेद पुरुषोच्चरियनो हो, वर्णों और पदों की आनुपूर्वी भी
भले ही पुरुषकर्तृ क उच्चारण के अधीन हो; तथापि आनुपूर्वी
के हेरफेर में ईश्वर तक की स्वतन्त्रता नहीं है।

जैसे नर्तकी शिक्क-नर्तक के गात्र-विक्तेप का ही अनुकरण करती है, वैसे हो शिष्य आचार्य के उच्चारण का अनुकरण करता है। पद-वाक्यों के आवाप-उद्घाप (रहोबदल) में शिष्य का अधिकार नहीं होता। इसी तरह यथाकथि जित वेदों में पुरुष सम्बन्ध होनेमात्र से उनकी पौरुषेयता नहीं होती। हाँ, यदि पुरुष की योजना में स्वतन्त्रता होती, तब अवश्य वेदों में पौरुषेयता आती।

ब्रह्मा महाकल्प में परमेश्वरप्रदत्त वेदों का स्मरण कर, वहाँ इतस्ततः प्रकीर्ण, वर्णाश्रमधर्मा का संकलनकर स्मृतिप्रनथ का निर्माण करते हैं। उसी । आधार पर मनु प्रभृति स्मृतिकार भी प्रनथ बनाते हैं, जैसा कि मनु ने ही कहा है—

> "इदं शास्त्र' तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः। विधिवद् ग्राह्यामास मारीच्यादीनहं मुनीन्॥"

ब्रह्माने इस शास्त्र को बनाकर मुक्ते दिया, मैंने मुनियों को दिया। इस तरह कल्पों में इसी स्मृति-प्रनथ के आधार पर धर्म प्रनथ बनते हैं। उसी आशय से यह भी कहा गया है—

"युगेध्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुनः। धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुनः॥"

युगों के आवर्तन में धर्म का आवर्तन है, धर्मों के आवर्तन में लोक का भी आवर्तन अवश्य होता है। इस तरह ज्यास केवल वेद के विभागकर्ता हैं। ब्रह्मा को भी ईश्वर से ही वेद मिलता है और ईश्वर भी नित्यसिद्ध वेद का प्रकाशकमात्र ही है।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि 'वेदों के अपौरुषेय होने का अर्थ यदि पुरुष से न बनना ही हो, तब तो यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यत्त अनुमान, आगम, अर्थापित

ब्रादि प्रमाणों से तो केवल भाव का ही बोध होता है। किसी पुरुष द्वारा न बनना तो अभाव है। अतः उसका बोध प्रत्यक्षादि से तहीं हो सकता। यदि अभावबोधक अनुपलब्धि से उसका बोध सममा जाय--अर्थान् बेद किसी पुरुष से नहीं रचे गये, यह बात इस तरह ज्ञात होती है कि 'वेद पुरुष से बनाये गये हैं' इस विषय में प्रत्यत्त, अनुमान, आगम, अर्थावित्ता कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा निश्चय होना कठिन है। संसार के सत्पुरुषों में से किसीको भी वेद्रचना श्रीर उनके काल में कोई प्रमाण नहीं भिला श्रीर न मिलेगा ही, इसे कौन जान सकता है ? एक प्राणी के मन की भी बात दूसरे को नहीं बिदित होती, फिर सब प्राणियों में से किसीको वेद्रचना में प्रमाण नहीं मिला, यह कैसे जाना जाय ? यदि मीमांसक को वेदरचना में कोई प्रमाण न मिलने से ही वेदों की अपीरुषेयता सिद्ध की जाय, तब तो जैनादि शास्त्रों की रचना में भी जैनादिकों को प्रमाण न मिलने से उसके आगमों की भी अपौरुषेयता सिद्ध होगी। जो यह कहा जाता है कि जैनादिकों ने अपने आगमों को पे रुषेय ही माना हे, वह भी ठोक नहीं। क्योंकि यदि उनकी बात मान ली जाय, तब तो वेदों को भी पौरुषेय स्वीकार करना चाहिए। यदि इस विषय में उनकी बात अमान्य है, तो वे भले ही अपने प्रन्थों को पौरुषेय कहें, आपको वह बात कभी मान्य न होनी चाहिए।

"इसके अतिरिक्त कोई भी छोटा-बड़ा समूह किसी एक नवीन या प्राचीन प्रन्थ के विषय में यदि यह कहे कि 'इसकी रचना में हमें कोई प्रमाण नहीं मिला', तो क्या इतने से ही उस प्रन्थ की अपीरुषेयता मान ली जा सकती है ? यदि नहीं, तो वेदों के विषय में भी मीमांसकों की उक्ति क्यों मान्य हो ? ऐसे ही वेद की अनादिता भी 'आदिता का अभाव' रूप है। अतः उसमें भी प्रत्यचादि पाँचों प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो सकेगी। अनुपत्ति से भी प्रहण मानें, तो क्या सभीने वेद की आदिता में कोई प्रमाण नहीं पाया या कुछ समूह ने श यदि कहें कि सभीने, तो यह असर्वज्ञ पुरुष कैसे जान सकता है श यदि कहा जाय कि कुछ समूह ने आदिता में प्रमाण नहीं पाया, तो इसी तरह दूसरे प्रन्थों की भी अनादिता क्यों न सिद्ध हो, इत्यादि दोष आ पड़ेंगे।

'यदि वेदों की अपौरुषेयता का अर्थ यह है कि वेद पुरुष-रचित सभी पौरुषेय वस्तु श्रों से श्रन्य है, ता वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिसे सब पैरुषेय वस्तुत्रों का ज्ञान हो, उसे ही उन वस्तुओं से अन्य वेदों की अपीरुषेयता भी विदित होगी। इस तरह तो अस्मदादि अल्पज्ञों को वेदों की अपौरुषेयता अज्ञात रहेगी। यदि वेदों का अनादिकाल से होना ही अपीरुषेयत्व कहा जाय, तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनादिकालों से वेदों के होने में कोई प्रमाण नहीं है। अनादिकाल के ज्ञान का किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं है, अतः उसमें वेद्सम्बन्ध का प्रत्यच्च होना असंभव है। प्रत्यच वर्तमानमात्र का प्रहण कर सकता है, अतीत का नहीं। अन्यथा अनागत वस्तुओं का भी इन्द्रियों से प्रत्यक ज्ञान होना चाहिए। अनुमान से भी वेद का अनादिकाल सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कोई अनुमान है ही नहीं। यदि 'श्रतीत श्रनागत काल वेदकार-वर्जित है, कल होने से, वर्तमान काल की तरह' इस अनुमान से अपौरुषेयता सिद्ध करना चाहें, तब तो इसी तरह बाइबिल अदिकों के विषय में भी कहा जा सकता है—'श्रतीत-श्रनागत काल बाइबिलकार-रहित है, काल होने से, वर्तमान काल की तरह।' शब्द से भी उक्त विषय की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि पौरुषेय आगम का ता

स्वतंत्र प्रामाण्य ही नहीं है। और अपीरुषेयता अभी तक विवादप्रत हो है। अपीरुषेयता-सिद्धि से ही अपीरुषेय वचन द्वारा वेद्
का अनादिकालसम्बन्ध विदित होगा और अनादिकाल-सम्बन्ध
के बोध से ही वेदों की अपोरुषेयता सिद्ध होगी--इस तरह
अन्योन्याश्रय दोष भी अनिवार्य होगा।

"हिरचयगर्भः समवर्तताम् " "श्रथ्य महतो भृतस्य निःश्वस्ति-मेतत्" इत्यादि वचनों से वेदों की पौरुषेयता ही सिद्ध होती है। इसी तरह उपमान, श्रर्थापत्ति से भी वेदों का श्रनादिकाल-सम्बन्ध

सिद्ध नहीं होता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'वेद प्रमाणान्तर से अगम्य, धर्म, ब्रह्म आदि जैसी वस्तुत्रों का बोध कराते हैं, जिनका ज्ञान किसी पुरुष को हो ही नहीं सकता, इसलिए वे पुरुषरचित न होने से अपीरुषेय हैं।' कारण यही बात अन्य बौद्धादि आगमों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यदि उन प्रन्थों में कहे गये धमें भूठे माने जायँ, तो वेद में कहे गये धर्म क्यों न भू हे होंगे ? यदि अन्य प्रन्थों में पुरुषसम्बन्ध से तदाश्रित दीषों की कल्पना की जाय, तो यही बात वेदों में भी कही जायगी। यदि वेदों में पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध करना चाहें, तो फिर उसी प्रमाण से अपौरुषेयता सिद्ध हो सकती है। तब उपर्युक्त कथन से क्या लाभ ? यदि उपर्युक्त वेदोक्त अर्थ किसी भी प्रमाण से पुरुष को ज्ञात नहीं हो सकते, अतएव वेद अपौरुषेय हैं, स अर्थापत्ति से वेद में पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध करें, तभी वेदों में अशमाण्यामान की सिद्धि होगी। अन्यथा दूसरे आगम की तरह वेदों का भी अप्रामाण्य ही सिद्ध होगा। अप्रामाण्याभाव सिद्ध होने के उपरान्त ही अर्थापत्तिसे पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध होगा, तब तो इसी तरह आगमान्तर में भी पुरुषसम्बन्धा-भाग की सिद्धि प्रसक्त होगी और चक्रक दोष आ पड़ेगा।"

इन सभी शंकाओं का समाधान यह है कि अपोरुषेयत का उपर्युक्त कोई भी अर्थ नहीं है। किन्तु यहाँ अपोरुषेय शब्द का यही संकेतित अर्थ है कि जिस वाक्य या महावाक्य के समस्त उज्ञारण अपने सजातीय अन्य उच्चारण के अनुसारी हों, वे ही अपोरुषेय हैं।

वेद का ऐसा कोई भी उच्चारण सिद्ध नहीं होता, जो अपने सजातीय पूर्वीचारण का अनुसारी न हो-"एकानुपूर्वीकवर्णसमुदाय-व्यञ्जकत्वमेवीचारणानामन्योन्यसाजात्यम्।"

एक श्रानुपूर्वीवाले वर्णों के समुदाय की व्यञ्जकता ही उचारणों की सजातीयता है। वेद की किसी भी उचारण-व्यक्ति में प्रथमता का निर्णय नहीं हो सकता। प्रत्यच्च, श्रनुमान या श्रागम कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि वेदका कोई भी उचारण स्वसंजातीय पूर्वीचारण से निर्णेष्ठ है। श्रन्यान्य प्रन्थों के जितने उचारण होते हैं, वे तीन प्रकार के होते हैं—एक प्रन्थकार का उचारण, दूसरा, श्रन्य पुरुष के मीखिक पाठ का श्रनुसरण करनेवाला उचारण श्रीर तीसर, पुस्तक लेख का श्रनुसरण करनेवाला उचारण श्रीर तीसर, पुस्तक लेख का श्रनुसारी उचारण। इनमें से पहला उचारण स्वतंत्र होता है। वह पूर्वीचारण का श्रनुसरण नहीं करता। क्योंक श्रन्थकार श्रपने झान श्रीर रुचि के श्रनुसार वाक्यों की योजना करता है; दूसरों के वाक्यों का श्रनुकरण नहीं करता। तभी वह उस वाक्य का रचिता कहलाता है।

कालिदास आदि के रलोकों को चाहे पुस्तक से या सुनकर उद्यारण करनेवाला इसीलिए उनका रचयिता नहीं कहें लाता कि उसका उच्चारण पुस्तक या किसीके उच्चारण की अपेन्ना रखता है, वह निरपेन्न नहीं है। रघुवंश-महाकाव्य के निरपेन्न प्रथम उच्चारयिता कालिदास प्रसिद्ध हैं। महाभारत

तमायण आदि के उचारियता व्यास, वाल्मीकि आदि सर्जातीय उचारणितरपेत्त ही उनका उचारण करते हैं। अतः भारत रामायण आदि की पौरुषेयता सर्वमान्य है। परन्तु वेदों का प्रथम उचारियता या सजातीयोचारण-निरपेत्त उचारियता किसी भी अनन्यथासिद्ध प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः यही उनकी अपौरुषेयता है। उत्तर-मीमांसकों के मत में भी ईश्वर पूर्व कल्प की आनुपूर्वी की अपेता से ही उत्तरकल्प की आनुपूर्वी का उचारण करता है। अतः उनके यहाँ भी अगेरुषेयत्व सिद्ध है।

कहा जाता है कि 'यदि प्रमाणानु गलम्भसे यह सिद्ध है, तो क्या सबमेंसे किसीको भी प्रथम उचारियता का प्रमाण नहीं मिलता या समृहविशेष को ? यदि किसीको भी प्रमाण नहीं मिलता, तो यह सर्वज्ञ के सिवा अगेर दूसरे को ज्ञात नहीं हो सकता। द्वितीयपक्ष मानने से सभी प्रन्थों में वही स्थिति खड़ी होगी। परन्तु ये सब विकल्प सर्वथा निरर्थक हैं, क्योंकि ऐसे ही विकल्प किसी भी अनुपलिब्ध में उठाये जा सकते हैं। इस दृष्टि से तो शशश्रुक, का भी अभाव सिद्ध न होगा और प्रत्यच्चिद्ध वस्तु का भी अपलाप हो जायगा, क्योंकि शशश्रुङ या सप्तम रस नहीं हैं, इसमें प्रमाणानुपलम्भ ही हेतु कहा जाता है। परन्तु वहाँ भी ये विकल्प किये जा सकते हैं कि क्या सब प्राणियों को इसका प्रमाण नहीं मिला या मिलेगा या किसीको भी नहीं मिला ? सबके विषय में तो कोई क्या जान सकता है ? यदि किसीको कहें, तो हम-आपकी प्रत्यत्तसिद्ध वस्तुओं में भी किसीको प्रमाणानुपलम्भ है। अतः इसका भी असत्त्व कहा जा सकता है। अतः ये सारी उक्तियाँ व्यर्थ हैं।

वेदों के प्रथमोन्चारण में प्रमाण न होने से उनकी अपी-रुषेयता में कोई भी विवाद नहीं। ईश्वर, जीव और उसके कर्मी की अनादिता यदि सिद्ध है, तो उसी तरह ईश्वर के निश्वास भूत वेदों की अनादिता भी सिद्ध है। किसी भी कार्य के लिए प्रथम विचार या संकल्प अपेन्तित होता है और उसमें शब्द का अनुवेध अवश्य रहता है—'न सोऽरित प्रत्ययों लोके यः शब्दा नुगमाहते' कोई भी ऐसा प्रत्यन्त (बोध) नहीं, जिसमें शब्द का अनुगमाहते' कोई भी ऐसा प्रत्यन्त (बोध) नहीं, जिसमें शब्द का अनुगम न हो। इस दृष्टि से अनादि ईश्वर को जब-जब सृष्टि रचनी होती है, तब तब ज्ञान अपेन्तित है और उस ज्ञान में अवश्य ही शब्द का अनुवेध होगा। जिन शब्दों का ईश्वरीय ज्ञान में अनुवेध है, बही वेद हैं। इस तरह भी इनकी अनादिता सिद्ध है। इन प्रकारों से वेदों की अनादिता सिद्ध हो जाने पर "वाचा विरूप-नित्यया" "अनादिनिधना नित्या" 'अत एव च नित्यतः म्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-सूत्रों से भी वेदों की नित्यता, अनादिता सिद्ध होती है। उत्प त्त-प्रतिपादक वचनों का केवल आविभाव ही अर्थ है। यह सब विषय अपर कहा जा चुका है।

पूर्वकल्प की आनुपूर्वी के समान ही उत्तर कल्प में भी आनुपूर्वी का उचारण करते हैं। 'सूर्याचनद्रमसौ घाता यथापूर्वमकलपयत्" इत्यादि श्रति के अनुसार जैसे ईश्वर इस कल्प में पूर्व कल्प के समान ही सूर्य, चन्द्र, आदि का निर्माण करते हैं, वैसे ही वेदों एवं उनमें कथित धर्म आदि का भी आविर्माव करते हैं। यह नहीं कि पहले सुरापान, ब्रह्म-हत्या आदि पाप न रहा हो। अन्य कल में एक ही आनुपूर्वी अन्य हैंग की रही हो और इस कल्प में अन्य ढङ्ग की हो गयी हो। बीज-त्रंकुर, स्वाप-प्रबोध एवं जन्म-मरण के तुल्य सृष्टि-संहार की परम्परा अनादि है। इसी तरह वेदोचारण की परम्परा भी अनादि हो है। ईश्वर के सभी वेदोचारण उन्हीं के पूर्व-पूर्वकल्पीय वेदी चारणों के तुल्य ही होते हैं। यह भेद अवश्य है कि जीव का वद्। चारण गुरु आदि अन्य के उचारण का श्रनुसारी होता है, परन्तु ईश्वर का वेदे चारण ईश्वर के ही पूर्व वेदाचारण के तुल्य होता है। वेदोचारण के सम्बन्ध में जीव एवा इश्वर दानों ही परतन्त्र हैं, उसमें कोई विशेषता नहीं है। सभीका वेदोचारण पूर्वा-पूर्व वेदोचारण के अनुरूप ही होता है। जिस प्रकार व्यास अवि महाभारत आदि मंथों के निरपेन उचारयिता हैं, उस प्रकार वेद का निरपेत्त उचारण-कर्ता कोई भी नहीं है।

इस प्रकार पूर्जामीमांसक एवं उत्तर-मीमांसक—दोनों ही के मवानुसार पूर्जीचारण-सापे इचारण ही अपीरुषेयता है, जो अभावरूप नहीं, किन्तु भावरूप है। अतः अभावपत्त को लेकर वादियों द्वारा जो भी दूषण दिये गये हैं, वे सब निराधार हैं। वेदिक-परम्परा में 'अग्निमू द्वां' पाठ है, तो वैसा ही उचारण सबको करना पड़ेगा। 'मूर्का अग्नि:' ऐसा उचारण अगुद्ध

समभा जायगा है। परन्तु अन्य प्रंथों में शब्द भेद या पौर्वापर्य भेद दूसरा नहीं माना जाता। अतएव अन्य प्रंथों में उन-उन कर्ताओं का उच्चारण स्वसजातीयोचारण-सापेच नहीं होता, अतः कर्ताओं का उच्चारण स्वसजातीयोचारण-सापेच नहीं होता, अतः कर्ताओं का उच्चारण में प्राथम्य होता है। इसके विपरीत वेद के किसी भी उच्चारण में प्राथम्य नहीं है। साराश यह कि किसी भी वेदोच्चारण में प्राथम्य नहीं है। जिस प्रकार इश्वर, और सृष्टि प्रलय हैं, उसी प्रकार वेदोच्चारण परम्परा भी अनादि है। जिस प्रकार सृष्टि के किसी भी अंश में सर्वथा प्राथम्य नहीं है। जिस प्रकार सृष्टि के किसी भी अंश में सर्वथा प्राथम्य नहीं है, वैते किसी वोदोच्च रण में भी प्राथम्य नहीं है।

मीमांसक यह नहीं कहते कि 'वे द को किसी पुरुष ने नहीं रचा, इमलिए वे अपौरुषेय हैं और वौद्धादिग्रंथ पुरुषों की कृतियाँ हैं, इसलिए वे पैरुषेय हैं। इसके विपरीत मीमांसको का कहना यह है कि अन्यान्य मनुष्यों के कर्ताओं के स्मरण की घारा गुरु परम्परा तथा अन्यान्य मनुष्यों में आजतक दृढ़रूप से चली आ रही है, अतः उन-उन कर्ताओं का उचारण प्रथम उच्चारण है। अतः उच्चारणधारा दृट जाने से अनादि नहीं सिद्ध होती है। इसीसे वे प्रथ पौरुषेय सिद्धि होते हैं। किन्तु वेदों के कर्ता की स्मृतिधारा नहीं है। अतएव वे द के विषय में गुरु-शिष्य के उच्चारण की परम्परा का मूलोच्छोद कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अतः वह अनादि है और इसीसे वे द अपौरुषेय हैं।

वेद-भिन्न अन्यान्य प्रत्थों की कर्त -स्मृतिधारा यह स्वित करती है कि अमुक प्रत्थ या उपदेश अमुक का है। प्रत्थ-कर्ता का नाम-निर्देश प्रत्थ-कर्ताओं की स्मरण-परम्परा का सूचक है। ''हिरण्यगभः समवर्तताम्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इत्यादि भृतियों से ठोदों की पौरुषेयता सिद्ध नहीं होती। वेदशब्दों है ही विश्व की सृष्टि होती है। अतः पदार्थसृष्टि के पहले भी वैदिक

कहीं का होना सुतरां सिद्ध होता है। अतीत, अनागत आदि भावों के बोधक पद या लकार आदि सभी आपेन्तिक नहीं है। इस विषय का अन्यत्र विवेचन किया गया है। 'श्रम्य महतो भृतस्य निःश्वसितम्" इत्यादि श्रुति से पीछे विशेष रूप से वेदा की

अपौरुषेयता सिद्ध की जा चुकी है।

कहा जाता है कि 'मीमांसक विधि-वाक्यों से भिन्न वेद भाग का ग्रामाण्य नहीं मानते, ऋतः अर्थवादवाक्यों द्वारा वेद की नित्यता. अपीर्षेयता नहीं सिद्ध हो सकती ।' परन्तु यह असंगत है। अर्थ-बाद-प्रामाण्य प्रकरण में वेद के सभी अंशों का प्रामाण्य कहा गया है। वेद में मात्रा-मात्रा की भी अनर्थकता अमान्य है। "बाचा विरूपनित्यता" इस मंत्रवर्णसे स्पष्ट ही वेद की नित्यता और अपौरुषेयता कही गर्या है, परन्तु अन्य किसी अन्थमें उसकी नित्यता या अपौर्षेयता नहीं कही गयी है। इस तरह वेदों की अपौर्षेयता

सष्ट है। दूसरे कोई प्रनथ वेद-तुल्य नहीं हैं।

कभी-कभी जो यह कहा जाता है कि 'अन्य पौरुषेय प्रन्थों में भी ऐसे-ऐसे विषय कहे गये हैं, जो कि शब्द से अन्य किसी स्वतंत्र प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकते। फिर वेद ही ऐसे अर्थ का गोधक होने के कारण क्यों अपौरुषेय कहा जाय ?' लेकिन यह तर्क अतिप्रसक्त है। प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ का प्रतिपादक होने से यदि कोई मन्थ अपौरुषेय हो जाय, तो •सभी पौरुषेय मन्थ अपौ-रेषेय हो जायँगे। अतः यह कथन संगत नहीं है। कारण यह है कि इस प्रकार के पौरुषेय प्रनथ मनुस्मृति आदि वैदिक प्रनथ तो वेद-मूलक ही हैं। अतः वे प्रमाणान्तरागम्य बस्तुके स्वतंत्र बोधक नहीं है। धम्मपद, त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान आदि मन्थों का तो ममागान्तरागोचर अतीन्द्रिय अर्थ का बाध कराना असंभव ही है, म्योंकि उनके कर्ताओं के अतीन्द्रियदर्शी होने में कोई प्रमास

नहीं है। इसलिए उनका अदृष्ट एवं अपूर्व प्रमाणान्तरागम्य पदार्थ के संबंध में कुछ कहना संगत नहीं है। जैसे हम लोगों को अनीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही बुद्ध, ईसा मुहम्मद आदि को भी अतीन्द्रय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि 'इन लोगों को तप आदि विशेष धर्मानुष्ठान से सर्वज्ञता प्राप्त हुई है, श्रातः हम लोगों की अपेचा उनकी दह उनकी बुद्धि विशिष्ट है और वे अतीन्द्रिय अर्थ का साम्रात्कार करने में चम हैं। 'पर यह तर्क भी निस्सार ही है। बात यह है कि उन लोगों ने यह कैपे जाना कि सर्वज्ञता या विशिष्ट बुद्धि का मूल तप है ? सर्वज्ञता तो तप करने के बाद पैदा हुई, अतः वह बाद की चाज हुई। सर्वज्ञता के पैदा होने से पहले उन्हें यह माल्म कैने हुआ कि तप से सर्वज्ञता पैदा होती है ? उत्तर में यह कहना कि वेदादि शास्त्रों से यह सब ज्ञात हुआ, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि उनकी सर्वज्ञता से वेदादि विरुद्ध का बोध हो, तब तो उपजीव्य-विरोध ध्रुत्र होगा। अन्य कोई सर्वज्ञता का साधन है ही नहीं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर ने ही उन्हें सर्वज्ञता दी, तो प्रश्न होगा कि ईश्वर ने उन्हें ही सर्वज्ञता क्यों दो ? यदि ऐसा किया तो क्या उनमें वैपम्य, नैष्टु एय आदि दोष नहीं हैं ? यदि इस सर्वज्ञता-दान के मूल में 'कर्म' मानें तो प्रश्न खड़ा होता है कि वे कर्म कौन से हैं ? उनका किससे ज्ञान होता है ? बुद्ध, ईना एवं मुहम्मद आदि के ज्ञान तो डेढ़ दो हजार वर्षों के हैं। उनके पहले कोन कर्म थे और उनका ज्ञान किन साधनों से होता था ! फलतः कहना होगा कि अनादि अगौरुषेय वेदों से ही धर्मा-धर्म ह्यी कर्मों का बोध होता है। वेद-विरुद्ध कोई भी परिषेय क्या कर्मों का बोध होता है। वेद-विरुद्ध कोई भी परिषेय क्या अतीन्द्रिय अरा में प्रमाण नहीं हाता।

ब्राजकल कुछ लोग अपने अन्थों को भी वेद-तुल्य अपोरुषेयं कहने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु उन-उन अन्थों के कर्ता प्रसिद्ध हैं, इनको जन्म से पूर्व उनकी परम्परा का विच्छेद निश्चित है। फिर तो उन अन्थों की अपोरुषेयता का कथन केवल वैदिकों की युक्तियों का अनुकरण या अंधानुकरण-

कोई यह भी कहते हैं कि 'कठ आदि की तरह बुद्ध, ईसी आदि होक उसी प्रकार संप्रदाय के प्रवर्शकमात्र हैं, जिस प्रकार वैदिक मंत्रों के ऋषि मंत्र-द्रष्टा होते हैं, मन्त्रनिर्माता नहीं। जैसे ईश्वर ने ब्रह्म के हृद्य में वेद प्रकट किया, वैसे ही ईश्वर ने बुद्ध, ईसा श्रादि के हृद्यों में तत्तद्यन्थों को प्रकट किया है। 'परन्तु वस्तुतः ये सब बातें की मौलिक नहीं हैं, किंतु वैदिक युक्तियों का अपहरणमात्र है। बुद्ध तो ईश्वर ही नहीं मानते थे, फिर उन्हें श्वर द्वारा उपदेश कैसे मिलता ? बौद्ध-मत में सभी वस्तुएँ विणिक हैं। फिर नित्य वेद के संमान उनके प्रन्थों की नित्यता कैसे हो सकती है ? बौद्ध प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः न मानकर परतः मानते हैं। फिर विना वक्तृ-गुण के अयौरुषेय होने से किसी मन्थ का प्रामाएय भी कैसे हो सकता है ? प्रसिद्ध है कि बुद्ध का उपदेश वुद्धके शब्दों के रूप में आज अप्राप्त ही है। उनके उपदेशों के सार का महत्त्व है, शब्दों का महत्त्व नहीं। यही कारण था कि हिन्होंने अपनी-अपनी भाषाओं में अपने उपदेश के प्रचार की छूट दे खी थी । इसीलिए पाली, तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं में

उनके अधिकांश उपदेश मिलते हैं। यही स्थिति बाइबिल, कुरान आदि की भी है। उन प्रन्थों के कर्ता और काल का दृढ़ निर्णय है।

इसी प्रकार अनुमान, शब्द कुछ भी न माननेवाले केवल प्रत्यक वादी चार्वाक के भी आद्तेप निराधार है। यदि अनुमान और शब्द का प्रामाण्य न माना जाय, तो "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमान आदि नहीं" चार्वाक का यह वचन-प्रयोग भी निरर्थक ही होगा। कारण जब शब्दमात्र अप्रमाण है, तो यह वचन भी अप्रमाण है। इसके अतिरिक्त वह अज्ञानी, संशयालु या विप्रित-पन्न के प्रति उक्त वचन का प्रयोग करता है या सब किसीके प्रति ? यदि सबके प्रति, तब तो अजिज्ञासित अर्थका प्रतिपादन करने के कारण उसका कथन उन्मत्तालाप के सिवा कुछ भी नहीं है। यदि संशयालु आदि के प्रति, तो यह बतलाना चाहिए कि उसे दूसरे के संशय, अज्ञान एवं विप्रतिपत्ति का ज्ञान कैसे हुआ ? यदि कहें कि 'उसके कहने से', तो शब्दप्रमाण की मान्यता हो ही गयी। यदि आवृत्ति और वचन-भङ्गी से, तब भी अनुमान प्रमाण मानना पड़ा। कोई भी प्राणी किस गोत्र का, किसका पुत्र है, इसका ज्ञान दाय-भाग आदि लौकिक व्यवहार के लिए अपेन्तित है। यह ज्ञान माता-पिता आदि के वचनों से ही होता है। मनुष्य की कौन कहे, पशु और कुत्तों की भी अनुमान और शब्द से प्रवृत्ति होती है। पुचकारने, कोसने एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल शब्दों के प्रयोग से उनकी भी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती है। अतः जहाँ दूष्य की संभावना है, उन पौरुषेय शब्दों का भी जब प्रामाण्य है, तब

अपीरुषेय वैदिक शब्दों के प्रामाण्य में संदेह ही नहीं हो सकता। अतएव चार्वाकों का यह कहना सर्वथा प्रलाप है कि 'यदि यहाँ का दिया हुआ हव्य-कव्य देशान्तरस्थ देवों और पितरों को मिलता है, ब्राह्मण्-भोजन से उनकी तृप्ति होती है, तो विदेशी कुदुम्बी को भी मिल जाना चाहिए और यहीं के ब्राह्मण के भोजन से डयकी भी तृप्ति हो जानी चाहिए। यह यदि नहीं होता तो, यह सारा वैदिक कथन भी भूठा है।' वेदों ने जिस प्रकार जो साध्य-साधनभाव बना रखा है, वे उसी ऋंश में जिम्मेवार हैं। दृष्टान्त मात्र से वस्तु के स्वभाव मिटाये नहीं जा सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि यदि जल गरम नहीं, तो अगिन क्यों गर्म है ? इसके सिवा जो काम लौकिक उपायों से ही सम्पन्न हो सकते हैं, उनके लिए वेदों में क्यों उपदेश होता ? वेद तो लोक से, प्रमाणा-न्तर से असिद्ध बातको ही बतलाते हैं। अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होने के कारण ही वेद का प्रामाण्य है। इसीलिए चार्वाकों का यह कहना भी अप्रमाण है कि भाण्ड, धूर्त, निशाचरों ने वेदों को वनाया है। 'लाखों वर्ष से प्रचलित 'वेद को किन धूर्तों और किन निशाचरों ने क्यों बनाया ?' यह पूछने पर प्रत्यन्तमात्रवादी चार्बाक की मूक ही हो जाना पड़ता है।

मंत्रद्रष्टाओं के मंत्र-दर्शन द्यान्य-परम्परा में प्रचलित होने से संगदी होने के कारण विश्वसनीय हैं। जिनका अविच्छिन्न पारम्पर्य नहीं है, उनके यन्थ-दर्शन को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। नहीं के आदि में हुए थे। सृष्टि के प्राणियों के कल्या-

णार्थ उनके हृदय में वेद का प्रकाश उचित था। परन्तु बुद्ध, ईसा आदि तो सृष्टि के करोड़ों वर्ष बाद अभी-अभी दो, तीन हजार वर्ष के भीतर के हैं। यदि इनके द्वारा विश्वकल्याण के लिए ईश्वर को धर्मीपदेश कराना होता, तो इन्हें वे सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न करते। क्या ईश्वर को तीन हजार वर्ष पहले के प्राणियों से कोई द्वेष था, जो उन लोगों के कल्याग का मार्ग नहीं बतलाया ? फिर यदि ब्रह्मा को ईश्वर द्वारा दिया गया उपदेश मान्य है ही, तब फिर ईश्वर बुद्ध आदि को उससे भिन्न और विरोधी उपदेश क्यों देता ! यदि वह मान्य नहीं है, तो वह उदाहरण भी कैसे हो सकता है! आधुनिक इतिहास की दृष्टि से भी वेद बुद्ध, ईसा आदि से हजारों वर्ष पुराने हैं। उनके आधार पर यह सिद्ध है कि ईश्वर ने ब्रह्मा को वेद का प्रदान किया। ऐसी स्थिति में दूसरा जो भी कोई कहता है, वह उसीका अनुकरण करता है। जो एक ढंग की बात विभिन्न दङ्गों के अनेक यन्थों में मिलती है, उनमें सर्वप्राचीन यन्थ ही उस बात का मूल माना जाता है। अन्य लोगों ने उसी प्रनथ के आधार पर ही कहा है, यही मानना पड़ता है। जैसे न्यूटन आदि ही गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त के मूल आविभीवक सममे जाते हैं। वह बात भले ही हजारों वैज्ञानिक विभिन्न ढंग है कहें, परन्तु वे उस सिद्धान्त के आविष्कारक नहीं माने जाते । इसके अतिरिक्त बुद्ध, ईसा आदि के प्रामाणिक मूलप्रन्थों में कही ऐसा उल्लेख भी नहीं है कि अमुक वाक्यसमूह ईश्वर ने उनकी दिया है। भले ही यह उल्लेख हो कि यह सिद्धान्त ईश्वरसंगत

है, इससे ईश्वर-प्रसन्न होते हैं, परन्तु इन्हीं वाक्यों के रूप में जहें ईश्वर ने दिया है, यह कहीं नहीं मिलेगा। अतः यह सारा प्रवास अपने अन्थों को वेद-तुल्य बतलाने के लिए ही है। परन्तु विद वेद हैही, तो वेद के समान एवं वेद-विरुद्ध अन्य उपदेश- प्रशों की निरर्थकता सुतरां सिद्ध हो जाती है। आश्चर्य की बात कि जिस भाषा में वे अंथ हैं, वे भाषाएँ ही अनादि नहीं हैं। अधिक से अधिक दो-तीन हजार वर्ष पुरानी हैं। फिर उन भाषाओं के अन्थ अनादि कैसे हो सकते हैं?

कन्या के पिता ने किसी विवाहाथीं वर से पूछा-'तुम्हारा कौन गोत्र है ?' परन्तु वर को कुछ माळ्म न था। अतएव उसने कह दिया—'जो तुम्हारा गोत्र है, वही मेरा भी है।' बे बारा यह भी नहीं जानता था कि समान गोत्र में विवाह नहीं होता। अतः इस उत्तार से भी उसके मनोरथ की पूर्ति नहीं हो सकती। इसी तरह विभिन्न प्रतिवादी जब अपने यंथों का प्रामाण्य नहीं सिद्ध कर पाते हैं अौर न वेदों की अपीरुषेयता और प्रामाण्य का खरहन ही कर पाते हैं, तब कहने लगते हैं कि 'जैसे वेद अपौरुषेय हैं, वैसे ही हमारे अन्थ की अपौरुषेय हैं। जैसे वेदों का प्रदान ब्रह्मा को ईश्वर ने किया है, वैसे ही अमुक अंथ का भदान हमारे अमुक पैगम्बर को ईश्वर ने किया है।' परन्तु उन्हें नहीं माल्म कि पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार इस उत्तर से भी उनका मनोरथ पूरा नहीं हो सकता। अतः जैसे नेत्र के द्वारा ही रूप का बोध होता है, वैसे ही अपीरुषेय वेद के द्वारा ही अती- निद्रय अर्थ का बोध होता है, किसी पुरुष या पौरुषेय मन्य

अप्रामाण्य के दो ही कारण हो सकते हैं -एक कारण दोष और दूसरा अर्थबाध। (प्रमाणसामान्यात्) शब्द के अप्रामाण्य के भी ये ही दो कारण हैं या हो सकते हैं। परन्तु वेद नित्य एवं अपौरुषेय हैं। अतः निराश्रय होने से उनमें कारण-दोष भ्रम, प्रमाद आदि की शङ्का को अवकाश ही नहीं है। अर्थ-बाधरूप अप्रा-माण्य-कारण भी वेद में सम्भव नहीं। कारण "स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्ग की कामना से यज्ञ करे) इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रमाणान्तर से अज्ञात स्वर्ग एवं उसका याग के साथ साध्य-साधनभाव बोधित होता है। जब याग, स्वर्ग आदि वेदातिरिक प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता, तो उनका अभाव भी वेदातिरिक प्रत्यत्त आदि प्रमाणों से खंडित कैसे हो सकेगा ? अतः अर्थबाध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस प्रमाण से भाव विदित होता है, उसीसे इसका अभाव भी खंडित हो सकता है—यही अभाव बोध अर्थबाध है।

फिर भी कहा जाता है कि 'जलवृष्टि, पशु-प्राप्ति, शत्रु-वध आदि हिएफलों के लिए कारीरी, चित्रा, इयेन आदि यागों का भी वेदों में विधान है। "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः", चित्रया यजेत पश्कामः "शत्रुमरणकामः इयेनेनाभिचरन यजेत।" परन्तु कईबार उक्त यश्री के करने पर भी वृष्टि आदि फल नहीं होते। इस तरह अर्थ-बार्ध की आशङ्का हो सकती है। इसी तरह 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते

बहोति', समयाध्युषिते जुहोति' अर्थात् सूर्यमण्डल की रेखा डिदत होने पर होम करे, अनुदित अर्थात् रात्रि के अन्तिम सोलहवें भाग में कुछ तारों के रहते ही होम करे, समयाध्युषित अर्थात् तारों के हाने और सूर्यमण्डलके निकलनेसे पूर्व होम करे—ये तीन प्रकार के विधान हैं और तीनों ही पत्तों की निन्दा भी है। 'श्यावोऽस्याहुति-मभ्यवहरति य उदिते जुइोति' शबलोऽस्याहुतिमश्यवहरति योऽनुदिते जहोति" श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जहोति" श्र्यात् जो होम उदित में करता है, उसकी आहुति को श्याव; जो अनुद्ति में होम करता है, उसकी आहुति को शब-ल और जो समयाध्युषित में होम करता है, उसकी आहुति को रयावशबल (यमराज के रबान) भन्नण कर जाते हैं। यहाँ श्राग्निहोत्र का विधान भी है और निन्दा भी है। इन वाक्यों का परस्पर विरोध होने से सभीका अर्थवाधरूप अप्रामाण्य हो नायगा। जैसे वेणु-संघर्ष से उत्पन्न अग्नि वेणु का दहन कर देता है, वैसे ही परस्पर विरोध से उक्त वाक्यों का अशामाण्य हो जायगा। "उदिते जुहोति" आदि वाक्यों से होम में इष्ट की साधनता बोधित होती है।" "श्यावोऽस्य" इत्यादि निन्दावाक्यों से उक्त होमों में अनिष्टसाधनता अनुमित हो सकती है। इसी प्रकार 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' तीन बार पहली एवं तीन बार अन्तिम सामिधेनी ऋचा का पाठ करना चाहिए। यहाँ पर पुनरुक्तता एवं व्यर्थता दोष भी वेदी में आता है। इससे उन्मत्त-वाक्यवत् वेद् का अप्रामाण्य होगा । उपर्युक्त वाक्यों का अप्रामाण्य

होने से तत्सामान्यात् 'स्वर्गकामो' यजेत इत्यादि अदृष्टार्थक वाक्यों का भी अप्रामाण्य कहा जा सकेगा।"

यही बात न्यायदर्शन में गौतम ने कही है-"तदप्रामाएय-मनृतव्याघातपुनक्कदोषेभ्यः।" अर्थात् अदृष्टार्थबोधक वेदौं का अप्रामाण्य है; क्योंकि उनमें अनृत, व्याघात, पुनरुक्त आदि दोष हैं। पुनश्च उसका समाधान भी उक्त गौतम महर्षि ने ही-"न कर्मकर् वैगुण्यात्, अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्, अनुवादोपत्तेश्च" इन सूत्रों से किया है। अर्थात् वेदों का अप्रा-माण्य नहीं कहा जा सकता। जब मन्त्र एवं आयुर्वेद के तुल्य वेदों का प्रामाण्य सिद्ध है, तो पूर्वोक्त कारणों से वेदों का अप्रा-माण्य नहीं कहा जा सकता। कारीरी आदि यागों के करने पर भी कर्म, कर्ता एवं साधनों में वैगुण्य (दोष) होने से फल का अनुत्पन्न होना बन सकता है। यथाविधि कर्मों को न करना कर्म-वैगुण्य है। मूर्णता आदि कर्ता आदि का वैगुण्य है। हिव आदि का वैगुण्य साधनवैगुण्य है। वायुयान आदि यन्त्रों या घटादि के निर्माण के जैसे कर्ता, कर्म साधनादि कहे गये हैं, वैसे न होने पर यन्त्र आदि नहीं वनते। एतावता यह नहीं कहा जा सकता कि 'योग्य कर्त्-कमें आदि होने पर भी वायुयान आदि नहीं बनेंगे। किसी सुप्त या मुच्छित कुम्भकार के घटनिर्माता न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि कुम्भकार घटनिर्माता नहीं होता। इसी तरह करें कर्भवैगुण्ययुक्त कारीरी ऋादि से वृष्टि ऋादि फल न होने पर भी वैगुण्यरहित कर्ता आदि से वृष्टि आदि फल होते ही हैं।

इसी तरह दूसरी बात का समाधान यह है कि निन्दा-बाक्यों का तात्पर्य होम की निन्दा या अनिष्ट-साधनता-बोधन में नहीं है, किन्तु उसका तात्पर्य यही है कि जिसने आधान के सङ्कल्प में उदित या अनुदित जो भी पक्ष ले लिया हो, उसी-हा पालन करना चाहिए। अर्थात् सङ्गल्पित या स्वीकृत पक्ष में निष्ठा स्थिर करने के लिए ही इतर पक्ष की निन्दा है। "नहि निन्दा निन्दां निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विषेयं स्तोतुम्"-अर्थात् निन्दा का तात्पर्य निन्दा की निन्दा में नहीं, किन्तु विधेय की स्तुति में ही होता है। अतएव अनिष्टसाधनता का बोधन कराना या निषेध करना आदि निन्दा का अभिप्राय न होकर विधेय की स्तुति ही निन्दा का लक्ष्य होता है। जिसने अम्याधानकाल में 'उदिते इवनीयाधानं करिष्ये' अर्थात् उदित में होम के लिए मैं अग्न्याधान करता हूँ, इस प्रकार का सङ्कल्प कर लिया, उसे उदित में ही होम करना चाहिए। यदि कदा-चित् उसने अपने सङ्कलप के विपरीत कभी अनुदित में होम किया, तो उसकी आहुति को शबल (यम-श्वान) भक्षण करता है, क्योंकि उसने प्रतिज्ञात काल-नियम का उलङ्घन करने का अपराध किया है। इसी तरह अनुदित आदि सङ्कल्प में भी समझना चाहिए।

इसी प्रकार पुनरुक्तिदूषण भी अकिञ्चित्कर ही है, जहाँ निष्प्रयोजन पुनरुक्ति होती है। वही वह दूषक होती है। समयोजन पुनरुक्ति तो भूषण ही होती है। यहाँ प्रथमा और अन्तिमा ऋचा को तीन बार पढ़कर, ११ सामिधेनी ऋचाओं को १४ बनाना ही अभीष्ट है, क्योंकि यही वेद में कहा गया है— को १४ बनाना ही अभीष्ट है, क्योंकि यही वेद में कहा गया है— के एक प्रतृत्वं पञ्चद्यावरेण वाग्वजेग च बाषे योऽस्मान देखि येच वयं दिष्मः। "अर्थात् में अपने शत्रु को सामिधेनी नामक

१४ ऋचारूपी वाग्वज से मारता हूँ'। यहाँ सामिधेनी को १४ कहा गया है, पर सामिधेनी हैं ११ ऋचाएँ ही। अतः प्रथम और अन्तिम का तीन-तीन बार उच्चारणकर ११ सामि-धेनियों में ही पञ्चदश सङ्खया बनाने के लिए यहाँ की पुनकक्ति साथक है।

नैयायिकों के मतानुसार भगवान् वेदकार ईश्वर हैं। वे सर्वज्ञ हैं। उन्हें त्याज्य, याह्य आदि समस्त पदार्थों का पूर्ण रूप में प्रत्यक्ष है। भूतानुकम्पा, यथार्थ ज्ञान कराने की इच्छा उनमें स्वाभाविक है। करणापाटव भी उनमें अत्यन्त अशङ्कनीय है। अतः वे अनाप्त-पुरुषों से सर्वथा विलक्षण और परम आप्त हैं। फिर उनसे विरचित वेदों का प्रामाण्य स्पष्ट है। अभिप्राय यह कि संसार में अनन्त सुख दुःख-विशेषवाले प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी यह विचित्रता स्वाभाविक नहीं कही जा सकती। साथ ही दृष्ट कारणमात्र से भी विचित्रता का समाधान नहीं हो पाता। एक सम्राट् के चार पुत्र होते हैं। समान उपचार और लालन-पालन तथा शिक्षण होने पर भी कोई हृष्ट-पुष्ट, प्रसन्न एवं दिव्यप्रतिभा-सम्पन्न होता है, तो कोई अनेक रोग-दोष-परिप्तुत होता है। इसके अतिरिक्त कोई पुरुषार्थ योग्य होता है, तो कोई इसके अयोग्य होता है। कोई अन्ध-बिधर, उन्मत्त तथा श्वान एवं शूकर बनता है, तो कोई इन्द्रिय और प्रतिभा से सम्पन्न होता है। इसलिए किसी अदृष्ट हेतु से ही विश्व-वैचित्र्य की ब्यवस्था माननी पड़ेगी।

वह अदृष्ट ही अपूर्व या धर्माधर्म कहा जाता है। वह यद्यपि सबको को प्रत्यक्ष नहीं, तथापि किसी पुरुषविशेष को अवश्य ही प्रत्यक्ष है। शरीर और भुवनादि कार्य में ही उनके कर्ताकी निर्माण-सामध्य और समस्त वस्तुतत्त्वज्ञता निहित हो जाती है। वह क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से असंस्पृष्ट एवं परम कारुणिक है। वे ही भगवान् जब देखते हैं कि प्राणी हित और अहित की प्राप्ति और परिहार के उपाय से अनिभज्ञ होकर अनेकविध दुःख-दावाग्नि से दन्दह्यमान हो रहे हैं, तब वे भी सन्तप्त हो उठते हैं। ऐसी स्थिति में हित एवं अहित की प्राप्ति एवं परिहार को जानकर भी उपदेश न करना या अन्यथा उपदेश करना उनके लिए असम्भव है। अतः परम कारुणिक भगवान् प्रपञ्च रचकर प्रजाओं के लिए हित एवं अहित की प्राप्ति तथा परिहार के लिए उपाय बतलाते हैं। पितृकल्प भगवान् के उपदेशों का चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों को आदर और धारण भी करना चाहिए। जो वर्णाश्रमाचार का व्यव-स्थापक महाजन परिगृहीत आगम है, वही परमेश्वर द्वारा निर्मित है। आप्तोक्त होने से वह मन्त्रायुर्वेद के समान प्रमाण है। कौन है वह आप्तोक्त आगम ? क्या शाक्य, भिक्षक, दिगम्बर का संसार-मोचक आगम अथवा वेद ? शाक्य आदि आगमों के बुद्ध, ऋषभ आदि प्रणेता हैं, यह स्फुटतर ही समरण है, ईश्वर उनका कर्ता नहीं। बुद्ध, ऋषभ आदि तनु, भुवन आदि के कर्ता नहीं हैं, जिससे कि 'वे सर्वज्ञ हैं' ऐसा निश्चय किया जाय। सर्वज्ञता के उपायानुष्ठान से उनकी सर्वज्ञता की सम्भावना की जा सकती है। यह बात उन भिन्न-भिन्न मतानुयायियों को सम्मत है। सम्भावना-मात्र से बुद्धादि-प्रणीत आगमों में बुद्धिमानों को विश्वास नहीं हो सकता। दूसरे इन आगमों में वणीश्रमाचार की व्यवस्था भी परिलक्षित नहीं होती। निषेक से लेकर श्मशान तक की समस्त कियाओं का भी इनमें विधान नहीं है। बौद्धादि-आगमों को प्रमाण माननेवाले भी श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराण-निर्पेक्ष

आगममात्र में प्रवृत्त नहीं होते, प्रत्युत मायिक व्यवहार करते हुए भी श्रुत्यादि में कथित वर्णाश्रम के आचारों को किसी न किसी रूप में मानते ही हैं। अतः जगन्निर्माता ईश्वर ही वेदों का कर्ता है।

उक्त स्थापना में यदि स्मृति आदि प्रमाण न भी हों, तो भी वेद ही परमेश्वर-निर्मित ठहरते हैं। 'स्वर्गकामश्रीत्यं वन्देत' इत्यादि वाक्य की तरह 'वेद अन्यकतृक हैं' इसमें कोई प्रमाण नहीं। वेद को छोड़कर दूसरा कोई भी आगम ऐसा नहीं है, जो लोक-यात्रा को चलाता हुआ वशिष्ठ, मन्वादि महाजनों से परिगृहीत ईश्वर-निर्मित रूप से स्मयमाण हो। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह बिना उपदेश किये नहीं रह सकता। सकल लोकयात्रा का संचालन करनेवाले, हिताहितप्राप्ति-परिहार का उपाय बतलानेवाले वेद ही ईश्वर-प्रणीत हैं-ऐसा निश्चय होता है। इसीलिए त्रैवर्णिक लोग आजतक बड़े प्रयत्न से वेदों का ग्रहण और धारण करते हैं। उसके अथे-पालन के लिए महर्षि-परम्पराओं ने अङ्ग, उपाङ्ग, इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्रों का निर्माण किया है। बुद्धादि-वाक्यों से न तो लोकयात्रा चल सकती है और न परलोक-यात्रा ही। लौकिकों का उनके विषय में ऐकमत्य भी नहीं है। मायिक कहकर भी तदर्थानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होती। इस तरह परस्पर विगान (मतभेद) से किन्हीं ही म्लेच्छादिकों से परिगृहीत होते के कारण उन आगमों को आप्तप्रोक्त नहीं कहा जा सकता। मन्वाद्वाक्य जैसे वेद्मूलक होने से प्रमाण समझे जाते हैं, वैसे ही बुद्धादि आगमों का प्रामाण्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि मन्वादि वेद एवं तद्थे के ज्ञाता और अनुष्ठाती थे। अतः उनके वाक्यों में वेदमूलकत्व का अनुमान किया

बा सकता है। इतर आगमों के कर्ता वेद्विरोधी थे। फिर इतके वाक्यों का वेद्मूलकत्व कैसे समझा जाय ? उन लोगों की सर्वज्ञता सन्दिग्ध होने से उनके आगमों को अनुभव-मूलक भी नहीं कहा जा सकता। मन्त्र एवं आयुर्वेद में प्रवृत्ति की सफलता से अर्थात् प्रत्यक्षफलोपलम्भ से उनका प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। उनमें भी वैदिक, शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों की अभ्यनुज्ञा, रसायनादि क्रियाओं के आरम्भमें वेदविहित चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त का उपदेश होने से आप्तप्रणीत आयुर्वेद से भी वेदों का प्रामाण्य निश्चित होता है। 'कारीरी' आदि यज्ञों की प्रत्यक्ष सफलता से भी स्थाली-पुलाक-न्याय से वेदों का प्रामाण्य निश्चित होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मन्त्र और आयुर्वेद का फल प्रत्यक्ष दृष्ट है, अतएव अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियों से ही उनका कार्य-कारणभाव नहीं जाना जा सकता । क्योंकि अपरिगणित औषधियों और उनके अपरिगणित संयोगों से उद्भूत एवं अभिभूत होनेवाले अपरि-गणित गुणों एवं दोषों का ज्ञान असवज्ञ को सहस्रों जन्मों में भी नहीं हो सकता। ऐसे ही इनका प्रथम अन्वय व्यतिरेक भी दुई य है। यही स्थित मन्त्रों की है। भिन्न-भिन्न अक्षरों के आवाप-उद्वाप भेद और उनकी शक्तियाँ भी दुर्जय हैं।

इस तरह नैयायिकों की दृष्टि से भी वेदार्थबाध आदि वैदों पर किये गये आक्षेपों का निराकरण और वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। इस तरह नैयायिक आदिकों की दृष्टि से परमाप्त सर्वज्ञ शिरोमणि परमेश्वरप्रोक्त होने से वैदों का प्रामाण्य है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'दृष्टान्त में जिन हेतु-साध्यों की ज्याप्ति गृहीत होती है, पक्ष में भी उसी प्रकार का साध्य सिद्ध

होता है। उक्त अनुमान के घर, शय्या, प्रासाद आदि दृष्टान्त-स्थलों में कुलालादि कर्ता अल्प्झ ही होते हैं, सर्वज्ञ नहीं। फिर तनु, भुवनादि के कर्ता में सर्वज्ञता किस प्रकार सिद्ध होगी ? कार्यत्वरूप हेतु से सर्वज्ञता के साथ कहीं पर व्याप्तिमह नहीं है। अतः सर्वज्ञता का अनुमान नहीं हो सकता। परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि पक्षधमता के बल पर अनुमान सामान्य की सिद्धि द्वारा विशेष का भी साधक होता ही है। जैसे शब्दादि की उपलब्धिरूप की क्रिया के द्वारा करण-सामान्य सिद्धि से श्रोत्रादि इन्द्रियों की सिद्धि होती है। यद्यपि किसी दृष्टान्त में श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ किया की व्याप्ति गृहोत नहीं है, तथापि छिदादि कियाओं में किया-सामान्य के साथ करण-सामान्य का व्याप्तिग्रह है ही। अतः उस अनुमान का पर्यव-सान श्रोत्रादि इन्द्रियरूप विशेष करण में ही होता है। इसी तरह घटादि कार्यों में बुद्धिमत्पूर्वकत्व सामान्य के साथ ही कार्यत्व या उत्पत्तिमत्त्व हेतु का ज्याप्तिप्रह है, तथापि सम्पूणे विश्वरूप कार्य का कर्ता यदि सम्पूर्ण विश्व का जानकार है, तो सुतरां उसकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। घटादि एक-एक कार्य के निर्माता घटादि एवं उनके उपादानादि की जानते ही हैं। इसी तरह परमेश्वर सम्पूर्ण विश्व का कर्ता है, तो वह सुतरां सम्पूर्ण विश्व, उसके उपादान, निमित्त आदि सबका ज्ञाता होने से सवज्ञ ही होगा। नास्तिक वृक्षादि को स्वतः उत्पन्न कहता है, परन्तु उसके मत में वादि-प्रतिवादिसम्मत कोई दृष्टान्त नहीं है।

आस्तिक के पक्ष में बुद्धियुक्त कुलालादि से घटादि कार्य उत्पन्न होते हैं, पर दृष्टान्त आस्तिक-नास्तिक उभयसम्मत है। अतः सर्वज्ञ चेतन से ही विश्व की उत्पत्ति मानना सर्वथा बुद्धिसङ्गत है। कुछ लोगों का कहना है कि 'इन्द्रियों की सिद्धि अनुमान

से नहीं होती, किन्तु शब्दादि की उपलब्धि श्रोत्रादि इन्द्रियरूप करण के बिना अनुपपन्न हो कर अर्थापत्ति द्वारा श्रोत्रादि इन्द्रियों की कल्पना का हेतु बनती है। अर्थापत्ति में दृष्टान्त और ज्याप्ति की अपेक्षा नहीं होती। अतः इन्द्रियानुमान के समान सर्वज्ञता का अनुमान नहीं हो सकता।' परन्तु ईश्वरवादी पक्ष के अनु-सार कहा जा सकता है कि इसी तरह सर्वज्ञ के बिना विश्व की उत्पत्ति अनुपपन्न होकर अर्थापत्ति के द्वारा सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि करा सकती है। कुछ लोग कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञ चेतन से अधिष्ठित अदृष्ट (शुभाशुभ कर्मजन्य अपूर्व) से ही विश्व की उत्पत्ति हो सकती है। अतः अनुपपत्ति न होने से अर्थापत्ति का उत्थान ही असम्भव है। फिर उसके द्वारा ईश्वर की सिद्धि असम्भव है। 'परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अदृष्ट जड़ है, क्षेत्रज्ञ अल्पज्ञ है, अतः उन दोनों के ही द्वारा विश्व की उत्पत्ति उपपन्न नहीं हो सकती। यह सर्वमान्य है कि कोई व्यक्ति 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' जानता है, इच्छा करता है फिर व्यापार द्वारा कार्य उत्पन्न करता है। जड़, अदृष्ट एवं अल्पज्ञ चेतन को विश्व का ज्ञान, भोक्ताओं का ज्ञान एवं प्राणियों के विभिन्न कर्मों का ज्ञान असम्भव ही है। अतः सर्वज्ञ चेतन से ही विश्व का निर्माण सम्भव है। जैसे लोक में सेवादि कमों का फल सेवादि कमों के ज्ञाता स्वामी से ही मिलता है, वैसे ही प्राणियों के शुभाशुभ कमों का फल भी सर्वज्ञ परमेश्वर से ही मिल सकता है। अतएव अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त जोवों, उनके अनन्त जन्मों, तत्तत् जन्म के विभिन्न कर्मों एवं कर्मफलों को जाननेवाले तथा कर्मफलों को देने की क्षमता रखनेवाले सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर के बिना विश्वोत्पत्ति एवं कमफल-व्यवस्था कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती। अतः अर्थापत्ति से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है।

सर्वकार्य का कारण होने से ही ज्ञान के लिए ईश्वर को देह तथा अन्तः करण आदि की अपेक्षा नहीं होती। यदि जन्य देह या अन्तः करण की अपेक्षा से ईश्वर का ज्ञान उत्पन्न हो, तब तो ईश्वरीय ज्ञान के निमित्तभूत देह, अन्तः करणादि के लिए भी कोई अन्य ज्ञान अपेक्षित होगा। फिर उसके लिए अन्य देहादि अपेक्षित होंगे। फिर तो अनवस्थाप्रसङ्ग अपरिहार्य ही हो जायगा। अतएव अन्यथानुपपत्ति से ईश्वर का ज्ञान देहादि निरपेक्ष ही मान्य होता है। नैयायिक ईश्वर के ज्ञानादि को नित्य मानते हैं। वेदान्ती ईश्वरीय ज्ञान को ईश्वर का स्वरूपही मानते हैं। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करती हैं।

मीमांसक इस पक्ष को इसलिए स्वीकार नहीं करते कि वेद अपौरुषेय होने से स्वतन्त्र प्रमाण है, परमेश्वर-प्रोक्त होने से नहीं। ऐसा न मानने पर ईश्वरसिद्धि में बेद प्रमाण उपिश्वत करने में अन्योन्याश्रय दोष उपिश्वत होता है। वेद-प्रामाण्य होने पर ही ईश्वरसिद्धि होगी तथा ईश्वरसिद्धि होने पर तत्प्रोक्त होने से वेद-प्रामाण्य सिद्ध होगा। यदि अन्योन्याश्रय दोष के वारणार्थ 'जित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' (पृथ्वी वृक्षादि सकर्तृक हैं, अर्थात् इनका कोई कर्ता है, क्योंकि सावयव होने से ये सब काय हैं। जैसे घटकार्य सकर्तृक हैं, उसका कुलाल कर्ता है, उसी तरह पृथ्वी, वृक्षादि का भी कोई कर्ता अवश्य है। पृथ्वी, वृक्षादि कार्य जीव के नहीं ही सकते। अतः सब्ज, सब्शक्तिमान् ईश्वर ही पृथित्यादि का कर्ता मानना उचित है) इत्यादि अनुमानों के आधार पर ईश्वर-सिद्धि करें और अनुमानसिद्ध ईश्वर से प्रोक्त होते से वेदों का प्रामाण्य माना जाय, तो भी अङ्चनं खड़ी होती हैं।

ईश्वर-सिद्धि की सारी अड़चनें दूर भी हो जायँ, सर्वज्ञता की विप्रतिपत्ति दूर भी हो जाय तो भी अनुमान द्वारा ईश्वर-सामान्य की ही सिद्धि हो सकती है। अनुमानसिद्ध ईश्वर वेदकार है, यह सिद्ध करना अनुमान के बूते के बाहर की बात है, क्योंकि वेदकार ईश्वर-सामान्य न होकर ईश्वरविशेष है; इसकी सिद्धि अनुमान से नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जिन-जिन युक्तियों से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेगा, उन्हीं-उन्हीं युक्तियों से यदि विभिन्न मतानुयायी, अपने अपने धमप्रनथकारों को ईश्वर सिद्ध करने लगेंगे, तो नैयायिकों के पास कौन-सी विशिष्ट वाची-युक्तियाँ हैं, जिनसे वेदकार ही ईश्वर सिद्ध हो, अन्य अन्थकार ईश्वर न सिद्ध हों। सभी ईश्वर हों, तो उनके अन्थों में परस्पर विरोध न होना चाहिए, अतः अपौरुषेय होने से ही वेदों का स्वतःप्रामाण्य मानना उचित है और वेदों के प्रमाण होने से ही धर्म, ब्रह्म दोनों की मान्यता निर्विदन सम्पन्न होती है। अतएव जैसे धमें शास्त्रक-गम्य है, वैसे ही ब्रह्म भी शास्त्रकगम्य होता है। अनुमानादि युक्तिरूप से सम्भावनामात्र से श्रुत्यर्थ बुद्ध्यारोहणार्थं उपयुक्त होते हैं।

समस्त वेद का प्रामाण्य

मनु ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादि वचनों से 'मन्त्रबाह्मणगोवेंदनामधेयम्' इस आपस्तम्बसूत्र के अनुसार मन्त्र-ब्राह्मणात्मक
वेद को ही धर्म में मूल नहीं कहा; अपि तु श्रुति-लिङ्ग-वाक्यपकरण-स्थान-समाख्या से अनुमित अतिदेशकल्प वेद भी धर्म
भूकरण-स्थान-समाख्या से अनुमित अतिदेशकल्प वेद भी धर्म
भूमाण माना है। अतएव अथववेद्योक्त, तुला-पुरुष-शान्त्यादि
सर्वसाधारण कम भी धर्म ही हैं। अर्थात् वेद के कम एवं उपासर्वसाधारण कम भी धर्म ही हैं। अर्थात् वेद के कम एवं उपासर्वसाधारण कम भी धर्म ही हैं। अर्थात् वेद के कम एवं उपा-

: 3:

क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य से 'स्वाध्याय' पदः वाच्य समस्त वेदराशि का अध्ययन विहित है। यद्यपि 'अधीयत इत्यध्यायः, स्वस्याध्यायः स्वाध्यायः' इस ठ्युत्पत्ति के अनुसार स्वशाखीय वेद ही स्वाध्याय पदार्थ है। फिर भी उसे उपलक्षण मानकर स्वशाखोपलक्षित समस्त वेदराशि के ही अध्ययन में विधि का तात्पर्य माना जाता है। 'वायुर्वा व गौतम अग्निः 'योषा वाव गौतम अग्नः, आदित्यो वै देवानाम् मधु' इन उपासना-काण्डगत वाक्यों से उपासना का विधान है। जैसे प्रतिमाओं में देवताओं की उपासना की जाती है, वैसे ही वायु, बी आदिकों में अग्निभावना से उपासना की जाती है। यद्यपि भेद में अभेदबुद्धि भ्रान्ति ही है और भ्रान्ति से फल की आशा भी दुराशा ही है ; तथापि भ्रान्ति संवादी-विसंवादी भेद से दो त्रकार की होती है। मणि और प्रदीप की प्रभा में मणिबुद्धि से दौड़नेवालों की भ्रान्तियाँ बराबर हैं। फिर भी फल में भेद प्रत्यक्ष ही है। सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदों का भी प्रामाण्य 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र-भाष्य में श्रीमच्छद्भर भगवत्पाद ने व्यक्त किया है। 'नहि ज्ञानेन सहशं पवित्रमिह विद्यते' इत्यादि वचनों से ज्ञानकाण्ड का महत्त्व गीता में भी प्रति-पादित है। अर्थवादों का विधि-निषेध की स्तुति में और मन्त्रों का द्रव्यदेवता-स्मरण करने में तात्पर्य है। किंबहुना 'हाबु' 'होयि' आदि स्तोत्रों की भी सामरूप गीति की पूरक होने से साथकता है, तो फिर मन्त्रों की सार्थकता में सन्देह ही नहीं हो सकता।

वेदों में मन्त्र, ब्राह्मण ये दो भेद एवं ऋक्, साम, यजु, अथवभेद वेद; उनमें भी मण्डल, अनुवाक् सूक्त, ज्यूच, प्रपाठक, अध्याय और ब्राह्मण भेद हैं। ब्राह्मणों में भी विधि, अर्थवाद और अनुवाद ये तीन भेद कहे गये हैं। अर्थवाद में भी स्तुति,

निन्दा, परकृति, पुराकल्प ये चार विभाग और अनुवाद में भी विध्यतुवाद, विहितानुवाद भेद से दो भाग कहे गये हैं। इष्टसाधना-बोधक लिङ्, लोट्, तव्यदादि प्रत्यययुक्त वाक्य विधिवाक्य हैं। त्रेसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि । विध्यर्थ-प्रशंसा-प्रक वाक्य अर्थवाद कहे जाते हैं। स्तुति द्वारा विध्यर्थ में अधिकारों की शोघ ही प्रवृत्ति होती है। निन्दा के द्वारा निषद्ध से निवृत्ति में सहायता मिलती है। ये ही दोनों स्तुति और निन्दारूप अर्थवाद हैं। 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्'-देवताओं ने सर्वजित् याग से सबपर विजय पायी है, अतः सबको जीतने के लिए सर्वजित् यज्ञ करना चाहिए। 'मोऽरोदीत्' इत्यादि निन्दार्थवाद है। किसी पुरुष-विशेष में अन्योन्य-विरुद्ध दो धर्म कहे जायँ, यह परप्रकृति है। जैसे 'हुत्वा वपा-मेवाग्रेऽभिघारयन्त्यथ पृषदाज्यम्'। तदुइ चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवा-में अर्थात् होमकर वपा ही को बघारते हैं, उसके बाद पृषदाज्य को बधारते हैं। यजुर्वेद के चरक नामक अध्वयु पृषदाज्य को हो बघारते हैं। यहाँ सन्देह से विलम्ब न करना और दो में से किसी एक के बघारने में लग जाना, बताया है, इसीलिए यह परकृति है। 'अमुक लोग प्रथम इस कार्य को करते थें, इस तरह के वाक्य को 'पुराकल्प' कहते हैं। जैसे-'तस्मादा एतेन पुरा ब्राह्मणा बहिष्यवमानं सामस्तोम स्तौषन्'। यज्ञविस्ताराथे ब्राह्मण लोग पूर्वकाल में बहिष्पवमान नामक सामस्तोत्र का प्रशंसन करते थे। शब्द का अनुवाद, विध्यनुवाद और अर्थ के अनुवाद को विह्तानुवाद कहा जाता है। यह विभाग नैयायिकों के मतानुसार है। भट्टपाद ने अनुवाद को अथवाद में अन्तर्भूत कर गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद आदि तीन भेद माने हैं।

'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तदानादर्थवादिष्ठधा मतः।' इसी तरह विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, उप-निषद् भेद से छः प्रकार का भी वेद परम्परा से प्रचालित है। मनु, ज्यास आदि शब्द प्राड्विवाक (जज) आदि के समान पदिवशेष के ही वाचक हैं। तथा च मनु, ज्यास आदि सर्वज्ञकल्प उक्त महर्षि गण अनादि काल से समय-समय पर आविभूत होते आये हैं। अतः उनके द्वारा प्रचलित भेद भी अनादि ही समझने चाहिए।

शास्त्रों के अर्थवाद की कल्पना लोक में भी बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु वस्तुदृष्टि से कौन वाक्य किस तरह का अथवाद है, इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है। जिसे जो वाक्य मान्य नहीं होता, वह उसे क्षेपक या अर्थवाद कह देता है। परिस्थिति यहाँतक बिगड़ गयी कि विकराल पापों के फलों, दारण नरक्यात्नाओं के वर्णन को भयानक (अर्थवाद), सत्क्रमों के स्वर्गादि दिव्यफलों के बोधक वाक्यों को रोचक (अर्थवाद) कह दिया जाता है। परन्तु पूर्वकथनानुसार यह समझना परमावश्यक है कि अर्थवाद क्या है? 'अर्थस्य प्रयोजनस्य वदनं विध्यर्थप्रशंक्षापरं वचनमर्थवादः। स च स्तुत्यादिद्वारा विध्यर्थप्रशंक्षापरं वचनमर्थवादः। स च स्तुत्यादिद्वारा विध्यर्थप्रशंक्षक वचनों को अर्थवाद कहा जाता है।

पूर्वमीमांसा के सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक आदि प्रन्थों में अर्थन वादों और मन्त्रों पर पर्याप्त विवेचन किया गया है। अर्थवाद वचनों के प्रामाण्य पर प्रथम पूर्वपक्ष किया गया है। 'आम्ना यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादिनत्यमुच्यते।' समस्त आम्नाय वेदादिशास्त्र का प्रवृत्तिरूप अथवा निवृत्तिरूप किसी किया के ही प्रतिपादन में तात्पर्य होता है।

अतः जिन वचनों का क्रिया अर्थ नहीं है, उनकी अन्थंकता है। अतएव उनका अप्रामाण्य ही समझना चाहिए। 'शिष्यते हित-मुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति से हित-उपदेश करनेवाले वाक्यसमूह को ही शास्त्र कहा जा सकता है। अनिष्ट-परि-जिहीषु प्राणी को अनिष्ट-परिहार का उपाय एवं इष्ट-प्रेप्स को इष्टप्राप्ति का उपाय उपदेश करना हा शास्त्र का काम है। 'न सर्पायाङ्गिल दद्यात्' (सप को अङ्गिल न दे) 'ज्वरितः प्रथम-श्नीयात्' (जबराक्रान्त को पथ्य ही खाना चाहिए) इस तरह के अनिष्ट से निवृत्ति बतलानेवाले निषेध और इष्ट में प्रवृत्ति का उपदेश करनेवाले विधि को ही मुख्यशास्त्रव होता है। इस दृष्टि से वेद के भी 'अररहः सन्ध्यामुपासीत, अग्निहोत्रं जुह्यात् स्वगंकामः' इत्यादि (इष्टसाधनाताबोधक या इष्टप्राप्ति में प्रव-त्तक) विधिवाक्यों का एवं 'सुर्ग न पिबेत्' 'ब्राह्मणा न इन्तव्यः इत्यादि निषेधवाक्यों का ही मुख्य शास्त्रत्व और प्रामाण्य सिद्ध होता है। अथवाद और मन्त्रों में प्रवत्तकता या निवर्तकता न होने से उनका किया में तात्पर्य नहीं है। अतः उनका प्रामाण्य दुर्घट है। अतएव 'चोदनालचणोऽथों धमः, तस्य ज्ञानमुपदेशः, तद्-मुतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इत्यादि सूत्रों से विधि और निषेध का ही प्रामाण्य कहा गया है। तद्भिन्न शब्दों से धर्माधर्म का ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता। अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराना ही शब्दों का काय है। अतः साध्य (स्वर्गादि फल), साधन (यज्ञादि किया) और उसकी इतिकत्तेव्यता (अनुष्ठान का प्रकार और अङ्ग-क्रियाओं) के बोधक जितने शब्द विधि-प्रतिषेध के अन्तर्गत हो जाते हैं, उन्हींका प्रामाण्य होता है। जिन वाक्यों का साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता अर्थ नहीं हैं, उन मन्त्र एवं नामघेय में आनेवाले 'सोऽरोदित् , इषेत्वोर्जे त्वा वह रोया, रोने से ही उसका नाम रुद्र पड़ गया, उसके आँसू

ही रजत बन गये, हे शाखे! अन्न या अभीष्टपूर्ति के लिए मैं तुझे काटता हूँ) इत्यादि अथवाद-वाक्यों का अपीरुषेय और स्वार्थप्रतिपादनक्षम होने पर भी धर्माधम में प्रामाण्य नहीं है, कारण उनके सरल और स्पष्ट अथ से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की प्रतीत नहीं होती।

क्लिष्ट कल्पना से तो विधि, निषेध दोनों ही बनाये जा सकते हैं। जैसे "जब रुद्र जैसे बड़े लोगों ने रोदन किया है, तब मुझे भी रोदन करना चाहिए", इस तरह विधि बन सकती है। दूसरे यह कि 'रोना' बड़े-बड़े लोगों को भी आकान्त कर लेता है, अतः उससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए' इस तरह निषेध भी निकल सकता है। ऐसी स्थिति में विधि-निषेध का निणय अशक्य हो जाता है। इसीलिए यथाश्रुत स्पष्ट अथ का ही प्रहण उचित है। उसमें विधि, निषेध का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

सभी अर्थवाद झूठी स्तुति यां झूठे (मिध्या) अर्थ को प्रतिपादन करते हों, यह बात नहीं। "धूम एवाग्नेदिवा दहरों" दिन में अग्नि का धूम ही दिखाई देता है। इन मिध्यार्थ प्रतिपादक अर्थवादों के अतिरिक्त "वायुवें क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि अर्थवाद सत्यार्थ के ही प्रतिपादक हैं। तथापि विधि-निषेध से बहिभूत होने से उनका प्रामाण्य नहीं है। किसी विधि-निषेध के भीतर लाने के लिए इनके अर्थ में परिवर्तन करना भी ठीक नहीं, कारण विधि-निषेधसम्बन्ध के बिना भी वे अपने सत्य या मिध्या अर्थ का प्रतिपादन कर ही सकते हैं। जो यह कही जाता है कि विधि-निषेधसम्बन्ध बिना किसी वृत्तान्त मात्र का प्रतिपादन व्यर्थ है, अतः अर्थवादों की सार्थकता के लिए विधि-निषेधसम्बन्धानुकूल स्तुति या निन्दारूप अर्थान्तर की

कल्पना युक्त ही है, जिससे प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप प्रयोजन के साधक होने से वाक्य में साथकता आ जायगी। यह कथन भी अनगल है; कारण जिस वाक्य का जो अर्थ है, उसका ही अर्थ है। निष्प्रयोजक होने मात्र से अर्थ का परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

क्या लोष्ठ या पाषाणादि का दर्शन निष्प्रयोजन है ? अतः लोष्ठ-दर्शन को सुवर्ण-दर्शन मान लिया जाय। वस्तुतः शब्द ही क्या, सभी प्रमाण अपने यथाभूत विषय का ही प्रकाश करते हैं। चाहे वह सप्रयोजन हो, चाहे निष्प्रयोजन, डसीसे हान, उपादन एवं उपेक्षाबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि प्रमाण सप्रयोजन विषय का हो बोध करायें, तब तो उनसे केवल उपादानबुद्धि का ही प्रादुर्भाव होगा; हान, उपेक्षाबुद्धि की क्या ही मिट जायगी। किन्न प्रमाण से अर्थज्ञान होने के उपरान्त हो अर्थ की सप्रयोजनता और निष्प्रयोजनता का निर्णय होगा। फिर सप्रयोजनता के अधीन प्रमाणोत्पत्ति की कल्पना केसे संगत हो सकती है ?

इसिलए जो अर्थ जिस रूप से प्रमाण द्वारा निश्चित होता है, इसे वैसा ही समझना चाहिए, चाहे वह सप्रयोजन हो या निष्प्रयोजन। सप्रयोजन वस्तु की ही प्रमिति हो, ऐसा कोई भी नियम नहीं है। फिर बुद्धिप्रयक्षनिरपेक्ष, नित्यसिष वेद-जिन्य-ज्ञान से प्राह्म अर्थ में तो सुत्तरां अर्थ बदलने की कोई जन्य-ज्ञान से प्राह्म अर्थ में तो सुत्तरां अर्थ बदलने की कोई जिन्य-ज्ञान से प्राह्म अर्थ में तो सुत्तरां अर्थ बदलने की कोई जिन्य-ज्ञान हीं। इसिलए जो अर्थवादों का सहज अर्थ हो, आवश्यकता नहीं। इसिलए जो अर्थवादों का सहज अर्थ हो, बहुण करना चाहिए। यदि प्रयोजनवत्ता के लिए अर्थ वही प्रहण करना चाहिए। यदि प्रयोजनवत्ता के लिए अर्थ वही प्रहण करना चाहिए। यदि प्रयोजनवत्ता अनिवार्थ हो बदला जायगा, तब तो शब्दों का भी बदलना अनिवार्थ हो बदला जायगा, तब तो शब्दों का भी बदलना अनिवार्थ हो बदली जायगा, क्योंकि स्तुति या निन्दारूप अर्थ उनके बास्तविक जियगा, क्योंकि सहज किया निक्त हो।

इस तरह शब्द और अर्थ दोनों ही बदल दिये जायँगे, तब तो उनकी मूल सत्ता ही मिट जायगी। फिर जो वाक्य किसी पुरुष द्वारा रचा गया हो, उसमें वक्ता का तात्पय निकालने के लिए खींच-खाँच करने का अवकाश भी रहता है, परन्तु जो किसीके द्वारा रचित नहीं हैं, ऐसे नित्य वेद के अर्थवाद-वाक्यों में तो तात्पर्यानुसार भी अर्थ बदलने का अवसर नहीं है। फिर यह तो अभी विचारणीय विषय है कि वेद सफल हो अर्थ का प्रतिपादन करते हैं या निष्फल का भी?

फिर वेद जैसे अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, हमलोग जान कर केवल उसके अनुष्ठान के ही अधिकारी हैं अथवा वेद क्यों निष्प्रयोजन अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा प्रश्न भी कर सकते हैं? यदि वेद निष्प्रयोजन अर्थ के प्रतिपादक हों, तो उनका आदरपुरस्सर क्यों अध्ययन किया जाता है? अध्ययन के अनन्तर वेदार्थज्ञान से तो सभीको वेद के परतन्त्र ही होना पड़ेगा। उसके पहले कोई परीक्षा भी कैसे कर सकता है। अध्ययन के अनन्तर मीमांसा द्वारा वेदों के सफल या निष्फल अर्थ पर विचार करने से यही निश्चय होगा कि जैसे विधि वाक्यों का सप्रयोजन होना उनके अर्थ से ही निश्चित है, वैसे ही अर्थवादों का सप्रयोजन होना उनके अर्थ से ही निश्चित नहीं होता। मीमांसा से परीक्षा करनेवालों का यही कार्य है कि प्रमाणसिद्ध वस्तु को स्वीकार करें, चाहे वह अपने प्रयोजन की हो अथवा न हो।

यदि क्लिष्ट-कल्पना से अर्थवादों का स्तुति या निन्दारूष अर्थ निकाल भी लिया जाय, तब भी वह साध्य, साधन, इति कर्राव्यता के बहिर्भूत होने से विधि-निषेध के भीतर नहीं अर सकता। विधि-निषेध-सम्बन्ध के बिना स्तुति न विहित कर्म

अं प्रवृत्ति करा सकती है, न निन्दा निषद्ध कर्म से निवृत्ति करा सकती है। इसके अतिरिक्त अर्थवादों की स्तृति एवं निन्दारूप अर्थकल्पना करने के उपरान्त उनका विधि-निषेध के साथ सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध के उपरान्त ही अर्थवादों का विधि-निषेध सम्बन्धोपयोगी स्तृति या निन्दारूप अर्थ कल्पित होगा। इस तरह सम्बन्धकल्पनाधीन स्तृतिनिन्दा-कल्पना से सम्बन्ध की कल्पना होगी। तथा च अन्योन्याश्रय होष अनिवाय होगा। तस्मात् अर्थवाद और मन्त्र का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

अथवाद व्यथं और असत्य अथं का ही बोधन करते हैं—
'स्तेनं मनोऽन्तवादिनी वाक' (मन चोर है, वाणी झूठी है) यह
अथवाद स्वतः पुरुष की प्रवृत्ति-निवृत्ति में कथमपि उपयोगी
नहीं है। यदि इसकी सफलता के लिए 'मनः स्तेनं वाचमन्तां
कुर्यात' (मन को चोर और वाक को झूठी बनायें) ऐसी विधि की
कल्पना की जाय, तो शास्त्र-विरोध उपस्थित होगा। क्योंकि
'नान्तं वदेत' यह शास्त्र अनृतवदन का निषेध करता है। इसके
अतिरक्त 'धूम एवाग्निर्दिवा दहशे' (अग्नि का धूम ही दिन को
दीखता है, अग्नि नहीं) यह अथवाद प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध अर्थ
का बोधक है, कारण प्रत्यक्षा ही दिन में भी अग्नि का दर्शन
होता है।

ऐसे ही प्रत्यक्ष ब्राह्मण में भी 'वयं ब्राह्मणा वा अब्राह्मणा वा' (हम लोग ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण) इत्यादि सन्देह प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। कहा जा सकता है कि ब्राह्मणत्वादि तो प्रत्यक्ष नहीं हैं, फिर प्रत्यक्ष-विरोध कैसे कहा जा सकता है ? परन्तु यह ठीक नहीं है, क्यों कि 'ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्ञातः' ब्राह्मणी में ब्राह्मण से उत्पन्न होने का औपदेशिक ज्ञान होने पर 'यह ब्राह्मण है'

यह प्रत्यक्ष ही होता है। जैसे मूल ब्राह्मणों में प्रजापतिमुख-जत्वज्ञान ब्राह्मणत्व का व्यञ्जक है, उसी तरह शास्त्राभूत ब्राह्मणी में ब्राह्मण माता-पिता से जन्य होने का ज्ञान ब्राह्मणत्व का न्यञ्जक होता है। उद्यनाचार्य के अनुसार यद्यपि सामान्य ब्राह्मण ब्राह्मण-ब्राह्मणी से ही उत्पन्न होते हैं, तथापि मूल ब्राह्मण प्रजापित की मुखशक्ति से ही उत्पन्न हुए थे। जैसे सामान्य बिच्छू बिच्छू से ही उत्पन्न होते हैं फिर भी प्रथम बिच्छू गोमय से होते हैं। सामान्य चौराई से चौराई उत्पन्न होती है, फिर भी प्रथम चौराई तण्डुलकण से उत्पन्न होती है। विह से विह्न की उत्पत्ति दृष्ट होने पर भी प्रथम अग्नि अरणि से उत्पन्न होती है। इसी तरह क्षीर, द्धि, घृत आदि अपने अवयव-भूत दुग्धादि से ही उत्पन्न होते हैं। परंतु प्रथम दुग्धादि निरवयव परमाणुओं से ही होते हैं। इसी तरह सामान्य मनुष्यादि मनुष्यादि से ही उत्पन्न होते हैं, तथापि प्रथम मनुष्यादि पूर्वजन्मकृत कर्मसापेक्ष भूतों से हो उत्पन्न होते हैं। जैसे गोव्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर गोत्व प्रत्यक्ष होता है, इसी तरह ब्राह्मण-जन्यताज्ञान से व्यक्ति में ब्राह्मणत्वादि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद ।'—गगित्ररात्र ब्राह्मण में कहा हैं, कि इस पूर्वोक्त विषय के जाननेवाले का मुख्न शाभित होता है, परन्तु जो कुमुख है, उसका मुख्न उस विषय के जानने पर भी मुन्दर नहीं होता। अतः ये वेदवचन झूठा ही अर्थ कहते हैं। ऐसे ही 'पूर्णां दुति मुत्तमां जु होति' (यज्ञान्त में पूर्णां दुति दें) इस विधि का अथवाद है—'धर्वमेवाप्नोति' (सभी फल पाता है)। यदि यह सत्य है कि पूर्णां दुति से ही सब फलों की प्राप्ति हो जाती है, तब तो पूर्व की कियाओं का विधान व्यर्थ ही हुआ।

वित्र प्राप्त का ही निषेध होता है, परन्तु 'नान्तरिक्षे चिन्वीत" काँ अत्यन्त अप्राप्त अन्तरिक्ष में अग्निचयन का निषेध है। क्षरः प्रावहणि इत्यादि में अनित्य पुरुषों का भी सम्बन्ध वेद अआता है, जिससे वेदों की अनित्यता भी सिद्ध होती है। वहाँ सिद्धान्ती कह सकता है कि अर्थवादों का अर्थ चाहे सत्य हो अथवा झ्ठ, स्तुति तो असत्य गुणों से भी हो ही जाती है। अर्थवादों का स्तुति में ही तात्पर्य है, वाच्यार्थ में इनका तात्पर्य ही नहीं है। फिर वाच्यार्थ के झुठे होने से क्या हानि है ? परन्तु उसका यह कथन सङ्गत नहीं, क्योंकि अर्थ-बादों का अपने वाच्य में तात्पय नहीं है, तो दूसरा भी उनका तालयं नहीं हो सकता। स्तुतिरूपी अर्थ उनके शब्दों से निकलता नहीं है, तब अवश्य ही वाच्यार्थ में उनका प्रामाण्य मानना पड़ेगा। फिर तो बर्बर आदि की अनित्यता उनमें अवश्य ही आयेगी। कथ ज्ञित् बर्बर का वायु आदि अर्थ मान भी लिया जाय, तो भी हर एक आख्यानों के शब्दों का अर्थ नहीं ग्रला जा सकता। यदि उन अंशों का अप्रामाण्य होगा ही, तब बर्बर आदि का ही अर्थ बदलने का क्यों आयास किया ग्य ? स्थिति तो यह है जैसे कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में शब्द और शब्दों में वेद का प्रामाण्य है, उसी तरह वेदों में भी विधि-निषेध-वाक्य ही प्रमाण हैं और सब अप्रमाण ही है। नो कहा जाता है कि 'स्वाध्यायो ऽध्येतन्यः' इस विधि से वेद का सभी अंश पुरुषार्थ का साधन है, वह भी 'कथिबत्' पाठ से बहु उत्पादन द्वारा हो सकता है, परन्तु उनका कुछ अर्थ ेएसा तो नहीं कहा जा सकता।

इस तरह पूर्वपक्ष करके मीमांसा में ही 'विधिना त्वेकवाक्य-

प्रामाण्य कहा गया है। अभिप्राय यह है कि विधि-वाक्य अपने विधेय यज्ञादि किया में पुरुषों को प्रवृत्ता करने के लिए विधेय की स्तृति चाहता है। इसलिए स्तृतिरूप अर्थ के द्वारा अर्थवाद की स्तृति चाहता है। इसलिए स्तृतिरूप अर्थ के द्वारा अर्थवाद वाक्य विधि-वाक्यों से मिलकर, विधि-वाक्यों में ही अन्तर्गत होने हो कर दोनों एक महावाक्य हो जाते हैं। अतः प्रवर्त्तक होने से, प्रमाणभूत विधि-वाक्य के अन्तर्गत होने से अर्थवादों का भी प्रामाण्य हो जाता है। नष्टाश्वद्रग्धरथन्याय से दोनों मिलकर, विधि-वाक्य अर्थवाद की प्रयोजनाकांक्षा और अर्थवाद कर, विधि-वाक्य अर्थवाद की प्रयोजनाकांक्षा और अर्थवाद कि प्रयोजनाकांक्षा और अर्थवाद कि प्रयोजनाकांक्षा और अर्थवाद कि प्रयोजनाकांक्षा और अर्थवाद कि प्रशंसाकांक्षा को पूरा कर दोनों हो सफल और कृतकार्य हो जाते हैं।

यद्यपि विधिवाक्य यज्ञादि में पुरुष को स्वयं ही प्रवृत्ता करते हैं, तथापि परिश्रम और धनव्यय के कारण यज्ञों से मन हटता है। ऐसी स्थिति में अथवाद प्रशंसा द्वारा मन को हटने न देकर प्रोत्साहन देते हैं। इसिल्ए विधि-वाक्यों के अक (सहायक) होकर अर्थवाद भी धम में प्रमाण होते हैं। जैसे लोक में 'यह गौ खरीदों' यह विधि होती है, तो 'यह गौ बिकाज और बहुत दूध देनेवाली है, इसके बच्चे जिया करते हैं' इत्यादि अर्थवाद भी होते हैं। विधि-वाक्य से पुरुष की क्रय में प्रवृत्ति होती है, परन्तु मृल्य ज्यादा होने से मन हटता है। तब अर्थावाद से गौ के गुण दिखाकर उसे खरीदने को प्रोत्साहत किया जाता है। वैसे ही 'वायव्यं इवेतमालमेत मूतिकामः' (ऐश्वयं चाहनेवाला श्वेत छाग द्वारा वायु का यजन करे।) इस विधि का अर्थवाद है— 'वायुर्वे क्षेपिष्ठा देवता, 'वायुमेव स्वेत मागवेयेनो प्रधावित', स एवैनं मृति गमयित।' वायु अतिशीघकारी देवता है। यज्ञकर्ता को शीघ ही ऐश्वयं देता है।

यहाँ शङ्का होती है कि 'इस विषय में लोक हष्टान्त नहीं चल

कता, क्योंकि लौकिक अर्थवादों के पदों का वाच्यार्थ विधि के साथ सम्बन्ध रखता है, परन्तु वैदिक अर्थवादों के तो कसी पद का यह अर्थ नहीं होता कि यह यज्ञ अच्छा है। ऐसी धित में विधि के साथ एकवाक्यता कैसे हो सकती है? इसका समाधान यह है कि पदों का अर्थ चाहे जो भी हो, परन्तु पूर्ण अर्थवाद का अर्थ स्तुति (ये यज्ञ आदि अच्छे हैं) ही है। यह अर्थ उनका वाच्यार्थ नहीं है, किन्तु लक्ष्यार्थ है। शब्दों का साक्षात् सम्बन्ध शक्ति और व्यवहित (परम्परा) सम्बन्ध लक्षणा कहलाता है। शिक्त सम्बन्ध से बोधित अर्थ शक्य और लक्षणा से बोधित अर्थ शक्य का शक्यार्थ लाठी है, परन्तु 'यष्टियों को खिलाओ' यहाँ यिद्धशब्द से लाठीवाले पुरुष लक्षणा से विवक्षित होते हैं। इसी तरह अर्थवाद भी लक्षणा से यज्ञ की प्रशंसा का बोध करायेंगे।

फिर भी कहा जाता है कि 'अर्थवाद के पद लक्षणा से सितिबोधक होते हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि विधियों है साथ एकवाक्यता की अनुपपित्त से शक्यार्थ छोड़कर क्षियार्थ प्रहण करने में एकवाक्यता को ही प्रमाण कहें, तो वह प्रश्न होगा कि एकवाक्यता ही क्यों हो? यदि लक्षणा हो स्तृति का विधि के साथ सम्बन्ध है, अतः लक्षणा ही किवाक्यता में प्रमाण है, तब तो अन्योन्याश्रय दोष अमिवाय किवाक्यता में प्रमाण है, तब तो अन्योन्याश्रय दोष अमिवाय किवाक्यता के लक्षणा नहीं और बिना उसके होगा। बिना एकवाक्यता के लक्षणा नहीं और बिना उसके किवाक्यता नहीं।' उसका उत्तर यह है कि अर्थवाद धर्म- किवाक्यता नहीं।' उसका उत्तर यह है कि अर्थवाद धर्म- किवाक्यता की उपपत्ति के लिए वे वाच्यार्थ को कि किता है। जैसे 'यह घट है' कि अर्थवाद धर्म- किवाक्यता से विधेय की स्तृति करते हैं। जैसे 'यह घट है' कि वाक्या से विधेय की स्तृति करते हैं। जैसे 'यह घट है' कि वाक्य से पुरुष की किसी किया में प्रवृत्ति नहीं होती, इसी

तरह सिद्ध अर्थ के बोध से यज्ञादि में पुरुष प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव लक्षणा से स्तुतिरूप अर्थ का विधि के अर्थ से सम्बन्ध होता है। तभी एकवाक्यता से अर्थवाद धम में प्रमाण होते हैं।

कहा जाता है कि 'यष्टियों को भोजन कराओ, यहाँ तो यष्टि और भोजन का सम्बन्ध स्पष्ट है, अतः लक्षणा से यष्टि का अर्थ यष्टिवाला होना ठीक ही है। परन्तु अर्थवाद का तो यज्ञ या यज्ञ कारण कोई भी अर्थ नहीं है, तब उनके अर्थ से किसी पुरुषार्थ की कल्पना ही नहीं हो सकती। ऐसी स्थित में अर्थवाद को पुरुषार्थ या धर्म का मूल भी कैसे माना जाय? फिर धर्ममूलता के उपपादन के लिए लक्षणा से उनका स्तुतिस्य अर्थ क्यों माना जाय? इसका समाधान यही है कि जैसे लोकिक अर्थवाद 'यह गौ अच्छो है' इत्यादि गोक्रयण द्वारा दुग्ध आदि पुरुषार्थप्राप्ति का मूल है, उसी तरह वैदिक अर्थवाद भी लक्षणा से यज्ञस्तुति द्वारा यज्ञ में प्रवृत्त कराकर यज्ञ फलरूप पुरुषार्थ का मूल होता है। अतः धर्म-मूलत्व अर्थवाद में स्पष्ट है। फिर उसकी उत्पत्ति के लिए अर्थवाद की स्तुति में लक्षणा क्यों न हो?

फिर भी कुछ लोगों का कहना है कि 'लौकिक अर्थावार' वाक्यों का निर्माता तो कोई पुरुष होता है और वह प्रमाणान्तर से अर्थों को समझता है। अतः लौकिक अर्थावारों की प्रमाणता अन्य प्रमाणों के अधीन है। इसीलिए वक्ता का तात्पर्य स्तृति में समझकर वाच्यार्था छोड़कर स्तृति में अर्थावारों की लक्षणा मानी जाती है। परन्तु वैदिक अर्थावाद तो अपौरुषेय वाक्य है। उनका अर्थ अन्य प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता। जैसे वायु का देवता होना, शीघ ही ऐश्वर्य का देना, आदि। इससे वक्ता के तात्पर्य और प्रत्यक्षादि प्रमाण के अनुसरण से

भी उनके वाच्यार्थ का भङ्ग नहीं हो सकता और न लक्षणा ही ही हो सकती है। अतः उनके अक्षरों से जो अर्थ निकले, वहीं अर्थ मानना चाहिए।

'कहा जाता है कि साधारण चिकित्सा-शास्त्र आदि के वाक्यों का भी मुख्य अर्था छोड़कर लक्षणा से मनमाना अर्थ नहीं किया जाता। शास्त्रकारों की सत्यवादिता पर विश्वास के कारण ही लोग उनके वाक्यों का अर्थ समझते हैं। फिर निर्दोष अपीरुषेय वैदिक अर्थवादों के वाच्यार्थ का त्याग कैसे किया जा सकता है? स्वतः वैदिक अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता झलकती नहीं। अर्थवाद पुरुषार्थ के सहकारी हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। फिर एकवाक्यता भी कैसे हो ?'

परन्तु यह सब कहना ठीक नहीं है। क्योंकि "तुल्यञ्च राणदायिकम्"। अनादि सम्प्रदाय-परम्परा से सिद्ध होना और अनध्याय में न पढ़ने आदि का नियम जैसे विधिमाग में पाला जाता है, वैसे ही अर्थवाद भागों में भी पाला जाता है। अतः अर्थवाद की ही कौन कहे, वेद का सभी अंश धर्म में प्रमाण है। धर्म के प्रति प्रमाण होना ही पुरुषार्थी का सहकारी कारण होना है। अर्थवाद यदि पुरुषार्थीपयोगी न होता, तो विचारशील पुरुष अनादिकाल से आदरपूर्वक उसका अध्ययन ही न करते। बिना प्रमाण के उन अध्येताओं को अज्ञानी कहना भी सिवा मोह के और क्या है? इस तरह पुरुषार्थी के उपकारक अर्थवादों की लक्षणा द्वारा अवश्य ही सुति-अर्थ मानकर विधि-वाक्यों से एकवाक्यता करनी साहिए।

यहाँ शङ्का की जाती है कि 'क्या अर्थवादों की पुरुषार्थसम्बन्धिता अपने आदर और परिश्रम की अन्यथानुपपत्ति से

मानी जायगी, अथवा अन्य लोगों के आदर आदि से १ पहले पक्ष में तो अन्योन्याश्रय होगा, क्योंकि पुरुषार्थसम्बन्धित ज्ञान से ही अध्ययनादि में आदर होगा और आदर से ही उनकी पुरुषार्थसम्बन्धिता मानी जायगी। यदि अन्य लोगों के आदर से ऐसी कल्पना करें, तो भी मूल प्रमाण के बिना वह भी अन्धपरम्परा ही समझी जायगी। जैसे किसी अन्धे ने कह दिया 'दूध काला होता है'। उसे सुनकर दूसरे-तीसरे एवं अनेक अन्धे कहने लग जायँ, तो क्या इतने से ही दूध काला हो जायगा ?

'परन्तु स्पष्ट है कि श्वेत या काले दूध के ज्ञान के मृत चक्षुप्रमाण के बिना यह कहना और मानना व्यर्थ ही है। इसी तरह किसकी अर्थवादों का आदर करते या पुरुषार्थ-मूल मानते देख या समझकर अन्यान्य लोग भी वैसा ही मानने लगते हैं, परन्तु जबतक कोई मूल प्रमाण न मिले, तब-तक उनकी पुरुषार्थमूलता मानना अन्धपरम्परा ही है। अनुमान या प्रत्यक्ष किसीसे भी मन्त्रार्थवादों में पुरुषार्थमूलता नहीं सिद्ध होती। ऐसा कोई वेदवाक्य भी नहीं है, जिससे अर्थवारों की पुरुषार्थमूलता सिद्ध हो। यदि हो, तो भी उसे पहले अपनी पुरुषार्थमूलता और प्रमाणता सिद्ध करनी होगी। क्योंकि जो स्वयं ही अप्रमाण है, उससे दूसरे की पुरुषायमूलता आदि कैसे सिद्ध होगी ? स्वयं अपने में प्रमाण का व्यापार नहीं होता, अतः उस वेदवाक्य से उसकी पुरुषार्थसम्बन्धिता या प्रमाणता भी सिद्ध नहीं हो सकती। अतः अथवादों की पुरुषार्थात बन्धिता स्तुति में लक्षणा, विधि के साथ एकवाक्यता आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता।'

इन शङ्काओं का समाधान यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतन्यः"

विधिवाक्य ही वेद के सभी अंशों की पुरुषार्थसाधनता में क्राण है। यह अपने सहित समस्त वेदवाक्यों को पुरुषार्थमूल ब्रिद्ध करता है। इसका अर्थ है—वेद का अध्ययन अवश्य ही हरे। अतः वेद में एक अक्षर या मात्रा की भी निर्थकता नहीं ही जा सकती। फिर शब्दसमूहरूप मन्त्र, अर्थवाद कैसे निर-क होंगे ? जिसकी निर्यकता होती है, उसके अध्ययन में विवे-कियों को विधिवाक्य प्रवृत्त नहीं करा सकता। जब वह समस्त वेद् के अध्ययन में विवेकियों को प्रवृत्त कराता है, तो किसी भी अंश की पुरुषार्थशून्यता नहीं हो सकती।

इस पर लोगों का कहना है कि 'इस तरह अर्थवाद आदि को साथकता मान लेने पर भी इस वाक्य से यह तो नहीं सिद्ध होता कि अथवाद आदि किस तरह पुरुषार्थ के साधक हैं। अतः यही मान लेना बहुत है कि उनके पाठ से कुछ अदृष्ट या शत-कुल्यादि फल प्राप्त होता है। परन्तु उनके अर्थज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। फिर स्तुति में लक्षणा, विधि के साथ एकवाक्यता आदि की बात तो दूर ही हो जाती है।'

इसका समाधान यह है कि जैसे इसी अध्ययनविधि से विधिवाक्यों की सफलता के लिए उनका अपने अर्थ का ज्ञान कराकर, उसीके द्वारा यज्ञादि कियाओं का अनुष्ठान कराकर, वर्गादि अलौकिक पुरुषार्थ का साधन करना आदि अर्थ निकाला जाता है। जैसे 'ब्रोहीन् अवहन्ति' (धान को कूटें) इस विध को नियमविधि इसलिए मानना पड़ता है कि पुरोडाश है लिए त्रीहि से तण्डुल बनाना आवश्यक है। वह जैसे कूटने है हो सकता है, वैसे ही नखविद्वनादि द्वारा भी हो सकता है। तण्डुल बनाने के ये दोनों ही उपाय लौकिक दृष्टि से ही भाम है। परन्तु विधि लोक से अप्राप्त में ही होती है—'विधिरत्यन्त-

मप्राप्ती'। जब यहाँ लोकदृष्टि से ही चात्रल के लिए त्रीहि का अवघात प्राप्त है, तब तो उसके विधान के लिए अपूर्वविध नहीं हो सकती। अतः 'नियमः पाक्षिके सति' पाक्षिक प्राप्ति है नियम होता है, इस दृष्टि से 'अवघातेनैव तण्डु विनष्पत्ति कुर्यात न तु नखिवदनादिना' इस नियमविधि से यह सिद्ध किया गया कि अवघात से ही निष्पन्न तण्डुल के द्वारा किये गये पुरोडाश से साध्य यज्ञादि से स्वर्ग होगा, नखविदलनादि से निष्पन्न तण्डुल द्वारा किये गये यज्ञ से नहीं। इसी तरह उक्त 'स्वाध्यायाऽ-ध्येतन्यः' यह अध्ययनविधि विधिवाक्यरूप वेद्भाग के विषय में नियमविधि रूप से लागू होती है, क्यों कि साधारण रूप से किसी भी ग्रंथ का अर्धज्ञान करने के लिए उसका अध्ययन अन्वय-व्यतिरेकादि लौकिक युक्तियों से ही प्राप्त होता है। इसके। लिए विधि निर्धाक है। फिर तो नियम से ही विधि की सार्थ-कता हो सकती है। वह नियम इस तरह का बनता है कि 'गुर-पूर्वक अध्ययन से ही वेदों को पढ़कर उनके अर्थों को जानकर, किये यज्ञों से स्वर्गीदिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। व्याकरण, निरुक्त आदि द्वारा उनका अपने-आप अर्थ जानकर किये गये यज्ञों से स्वर्गीदि नहीं होते। जैसे विधिवाक्य वेद हैं, वैसे ही अर्थावाद और मन्त्र भी वेद हैं। अतः उनके विषय में भी अध्ययनविधि को नियमविधि ही होना चाहिए। परन्तु यदि अक्षरपाठमात्र द्वारा उनकी पुरुषार्थासाधकता मानी जायगी, तब तो वह ज्याकरण, निरुक्तादि द्वारा अर्थाज्ञान को तरह मानान्तर से प्राप्त नहीं है। अतः ' स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' से ही अथवादादि की अक्षारपाठ द्वारा अहब्दसाधकता सिद्ध होगी। इस दृष्टि से अथवाद आदि अंशों में ''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' विधि अपूर्व-विधि समझी जायगी।

कहा जायगा कि 'तब क्या हानि है, विषयभेद से अध्ययनश्रिष्ठ को अपूर्व और नियम दोनों ही विधि मान लें' परन्तु यह
इता ठीक नहीं, क्योंकि 'सकृदुचिरतः शब्दः सकृदेवार्थं गमयित'
इतन्याय के अनुसार एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ का
श्रिष्ठ कराता है। अतः एक ही विधिवाक्य से विधि आदि के
अंश में नियमविधि और मन्त्र-अर्थवाद के विषय में अप्राप्तांश
श्रिवधान ये दोनों अर्थ बोधित होंगे, यह नहीं कहा जा सकता।

कहा जाता है कि जब विधिवाक्यों और अर्थवादादि गक्यों दोनों के ही अध्ययन का विधान 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' सी एक विधि से ही करना है तब विधि-अंश में नियम-विधि मानने का हो आग्रह क्यों किया जाय ? सर्वत्र ही पाठ-गात्र से पुरुषार्था प्राप्त है ही। विधि-सन्त्र अर्थवाद सभीके अध्ययन का विधान अपूर्व ही क्यों न मान लिया जाय ? गलयं यह कि वेद का अध्ययन-विधान उसके किसी भी गा के अर्थज्ञान द्वारा पुरुषार्थप्राप्ति के लिए न मानकर, णिठ द्वारा ही सभी भाग का फलप्राप्त्यर्थ क्यों न माना जाय ? स पर मीमांसकों का कहना है कि अध्ययन का अर्थज्ञानरूप छ (लोकसिद्ध) फल है, परन्तु अक्षरपाठ का कोई दृष्ट-कि लोकप्रसिद्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में दृष्टफल को छोड़कर किट फल की कल्पना करना अनुचित है। तस्मात् अध्ययन-विधि का अर्थाज्ञानरूप दृष्ट ही फल मानना उचित है। यथा — अध्यवित इष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।" परन्तु जब वह लोक से ही प्राप्त है, तब अध्ययनविधि को नियमविधि-गुरुपरम्परा के द्वारा अर्थ जाने बिना यज्ञादि का अनुष्ठान् कर्ना चाहिए' इस निषेध में अवश्य ही उसका तात्पय भानना चाहिए।

इस स्थित में विधि की तरह अर्थवाद-मन्त्र में अर्थवाद स्वर्गादि-साधकता माननी चाहिए। यदि अध्ययनिकि द्वारा ही स्वर्गादि-साधकता माननी चाहिए। यदि अध्ययनिकि का अर्थज्ञान ही मुख्य फल माना जाय। तब सन्देहिवरीषादि का अर्थज्ञान ही मुख्य फल माना जाय। तब सन्देहिवरीषादि मिटाने के लिए तत्प्रयुक्त वेदार्थिवचाररूप पूर्वोत्तरमीमांसा का उत्थान हो सकता है। अन्यथा पाठ से ही पुरुषार्थ सिद्ध हा जाने पर वेदार्थ-विचार के लिये मीमांसा की अपेक्षा ही क्या रह जाती है? अतः जैसे अध्ययनिविधि वेद के अध्ययनिकि विधान करती हुई वेद में प्रामाण्य सिद्ध करती है, वैसे ही वेदार्थ के विचार का विधान करती हुई वही अध्ययनिकि मीमांसादर्शन में भी प्रामाण्य सिद्ध करती है। इस तरह जब अध्ययनिविधि के बल पर ही समस्त वेद स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के साधक हैं, तब उसके ही भाग मन्त्र और अर्थवाद पुरुषार्थ साधक क्यों न होंगे ?

इसपर कहा जाता है कि 'अध्ययनिविधि से वेद के अध्ययन का विधान होता है। 'वेद पुरुषार्थ का साधन है' यह तो उसके किसी भी अक्षर से नहीं निकलता। स्वयं अध्ययन भी परिश्रम रूप दुःख से प्राप्त होने से 'पुरुषार्थ' नहीं कहा जा सकता। विधि या अर्थवाद के किसी भी वाक्य के अध्ययन में पुरुषार्थ रूपता या पुरुषार्थसाधकता नहीं कही जा सकती।" परन्तु विचार करने से विदित होगा कि उपयुक्त कथन ठीक नहीं है। 'अध्येतव्यः' शब्द में आये हुए 'तव्य' प्रत्यय का अर्थ 'भावना' (करना) है। उसमें क्या (किसे) करे ?—इस तरह भाव्य (किसी अभीष्ट) की आकाङ्क्षा होती है। 'अर्थे तव्यः' 'इस पद में 'तव्य' से भिन्न अधि' + इ (अधि उपर्या पूर्वक इङ्) धातु हो बचा रहता है, जिसका अर्थ अध्ययत (पदना) होता है। यदि उस अध्ययन से भाव्याकाङ्क्षा की

वृित हो, तब तो 'अध्येतव्यः' का 'अध्ययन करें' ऐसा अर्थ निककता है। परन्तु जब अध्ययन स्वयं कष्टरूप है, फलतः पुरुषाये
तहीं है, तब उसकी भावना में सहस्रों उपदेशों से भी पुरुष क्यों
प्रवृत्त होगा ? चूँकि उपदेशों का फल पुरुषप्रवृत्ति हो है, अतः
यदि 'अध्येतव्यः' इस उपदेश से पुरुष की अध्ययन में प्रवृत्ति
न हुई, तब तो यह उपदेश हो व्यर्थ होगा। अतः अध्ययन को
भाव्याकाङ्क्षा का पूरक न मानकर साधनाकाङ्क्षा का ही पूरक
मानना चाहिए। क्योंकि भावना (करने) को क्या (किसे)
करें ? किससे करें और कैसे करें ?—इस तरह साध्य, साधन
और इतिकतव्यताकाङ्क्षाएँ होती हैं।

जब अध्ययन का अन्वय 'साधनाकाङ्शाप्रकःवेन' हो गया, त्तव 'अध्येतव्यः' का ''अध्ययन से सिद्ध करें" ऐसा अर्था हुआ। फिर भी अभी साध्याकाङ्क्षा बनी ही है। यदि अध्ययन-साध्य अक्षरप्रहण से उसकी पूर्ति करें, तब अध्ययन से अक्षर प्रहण करे - 'अध्येतब्यः' का ऐसा अर्था होगा। परन्तु तो भी व्यर्थ होगा। क्यों कि अक्षरप्रहण भी स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। अक्षर-ग्रहण से भी, क्या करे ? -यह आकाङ्खा फिर भी बनी ही रहती है। यदि अध्ययन से अक्षरप्रहण और उससे स्वर्गादि अहब्ट फल मानें अर्थात् अध्ययन से अक्षरप्रहण द्वारा स्वर्गादि फल की प्राप्ति —ऐसा 'अध्येतन्यः" विधि का अये करें, तब भी अश्रुत एवं अदृष्ट फल की कल्पना और अक्षारप्रहण से उसकी सिद्धि'—ये दो कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। यदि अक्षारप्रइण से परे वाक्यज्ञान की कल्पना करें, तो वह भी स्वयं अपुरुषार्थ है। अतः वहाँ भी 'उससे क्या करें ?' ऐसी आकाङ्क्षा बनो हो रहेगी। इस तरह जबतक पुरुषार्थ से साध्याकाङ्क्षा को पूर्ति नहीं होगो, तबतक पुरुष की प्रवृत्ति न होगी और उपदेश भी

तब तक व्यर्थ ही रहेगा। अतः अन्त में अदृष्ट स्वर्गीह फल हे ही साध्याकाङ्क्षा की पूर्ति करनी होगी। वहींसे साध्याकाङ्क्षा की निवृत्ति होगी।

साधन में तो 'उससे क्या करें?' इस तरह साध्य की आकाङ्क्षा होती है। परन्तु 'फल या सुख से क्या करें?' ऐकी आकाङ्क्षा नहीं होती। इस तरह अध्ययनिविधि का अब यह आकार होगा कि 'अध्ययन से यथाक्रम अक्षरप्रहण, परज्ञान, वाक्यार्थज्ञान तथा यज्ञानुष्ठान के द्वारा स्वर्गरूपी पुरुषार्थ प्रक्ष करें।' यज्ञों से स्वर्ग का होना 'श्रुत' है। यज्ञादि के बिना केवल अध्ययन से ही स्वर्गकल्पना अयुक्त हैं। स्वर्ग सुख साधन होने से ही यज्ञों में भी पुरुषों की प्रवृत्ति होगी। इस रीति से यज्ञान मुखन के कारण वाक्यार्थज्ञान और उसके कारण परज्ञान, अक्षरप्रहण और अध्ययन में भी पुरुष की प्रवृत्ति हो सकेगी।

साक्षात् या परंपरा से जो पुरुषार्थ का कारण होता है, उसीमें पुरुष की प्रवृत्ति होती है। अतः एक ही पुरुषार्थह्य साध्य
या भाव्य अपने साक्षात् कारण यज्ञानुष्ठान और परम्परागत
कारण वाक्यार्थज्ञान, पर्ज्ञान, अक्षरप्रहण और अध्ययक्
सर्वत्र प्रवृत्ति करा देगा। अध्ययनविधि को सार्थकिता तभी
सिद्ध होती है। सम्पूर्ण विधिवाक्यों को यही रीति है। पुरुषार्थलाभ के विना किसी भी विधिवाक्य की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण
नहीं होती और उसके बिना विधि की चरितार्थता भी
नहीं। इस तरह जब अध्ययनविधि से यह सिद्ध
हो चुका कि समस्त वेद अर्थज्ञान द्वारा ही पुरुषार्थ के साधक
हो चुका कि समस्त वेद अर्थज्ञान द्वारा ही पुरुषार्थ के साधक
होते हैं, तब तो अर्थवादादि वाक्यों का भी ऐसा ही अर्थज्ञान
होना आवश्यक है, ताकि उनके ज्ञान द्वारा पराम्परया पुरुषार्थ
होना आवश्यक है, ताकि उनके ज्ञान द्वारा पराम्परया पुरुषार्थ
का लाभ हो। जब अर्थवादों का वाच्य अर्थ ऐसा नहीं है, तब

क्षिणा' से स्तुतिरूप अर्थ लेकर विधिवाक्य के साथ उनकी किवाक्यता समझनी चाहिये।

कहा जाता है कि 'जैसे 'वसन्ते ब्राह्मणोऽरनीनादघीत' (वसन्त ब्रुत में ब्राह्मण अरन्याधान करे) इस विधि की मान्याकाङ्खा ब्राह्मवनीय (होमयोग्य अग्निविशेष) से ही पूर्ण हो जाती है, जो कि स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। इसी तरह अपुरुषार्थरूप ब्रह्मरम्हण से ही 'अध्येतन्यः' इस विधिकी भान्याकाङ्खा क्यों न पूर्ण की जाय ?' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि आधानविधि तो अङ्गविधि है। 'अग्निहोत्रं जुदुयात् स्वर्गकामः' इस प्रधान विधि के भान्य स्वर्गफल से हो वह भी फलवान् है। अतः उसे पुरुषार्थ की आकाङ्क्षा नहीं है। अतएव वहाँ अपुरुषार्थ, किन्तु परम्परया पुरुषार्थ में उपयुक्त आहवनीय (अग्नि) से भी भान्याकाङ्क्षा की पूर्ति मानी जाती है। किन्तु 'स्वाध्यायोऽध्ये-तन्यः' यह अध्ययनविधि तो प्रधान विधि है। अतः इसकी भान्या-काङ्क्षा बिना पुरुषार्थ के पूर्ण नहीं हो सकती।

इसपर फिर भी शङ्का होती है कि 'यदि पुरुषार्थ से ही विधि की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण होती है, तब तो अध्ययनविधि का साक्षात् ही स्वर्गक्ष्य फल क्यों न मान लिया जाय? फिर वाक्याथज्ञान आदि की कल्पना क्यों की जातो है?' इसका उत्तर यही है कि जब अक्षरप्रहण, पदज्ञान, वाक्यार्थ-बान तथा यज्ञानुष्ठान के द्वारा अध्ययनविधि का स्वर्गक्ष प्रविधि में पर्यवसान हो ही जाता है, तब अध्ययन का स्वतंत्र लगफलमान कल्पना गौरव क्यों स्वीकार किया जाय? दृष्टफल के संभव होते अदृष्टफल की कल्पना करना अनुचित है। इसलिए लीकानुभवानुसार यज्ञ द्वारा ही अध्ययन को स्वर्ग का हेतु भानना उच्चत है।

जिस व्यापार के बाद जिसकी उत्पत्ति होती है। उसका वही फल होता है। जैसे कुठार चलाने का 'द्वैधीभाव' फल समझा जाता है। इसी तरह अध्ययन से अर्थज्ञान होता है, अतः वह दृष्टानुसारी अध्ययन का फल कहा जा सकता है। यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो होमविधि का भी अग्नि में हिव आदि काप्रक्षेप ही फल मानना चाहिए, फिर वहाँ भी अदृष्ट स्वर्गीद फल क्यों माना जाय ?' पर यह ठीक नहीं। क्योंकि जो साक्षात् स्वयं ही पुरुषार्थ हो या पुरुषार्थ का साधन हो, वहीं फल हो सकता है। जिस विधिवाक्य में भाव की आकाङ्क्षा को पूर्ण करने के लिए अनेक क्रमिक पदार्थों की कल्पना से पुरुवार्थ लाभ हो सकता है, वहाँ उसी पुरुषार्थ में मध्यवर्ती दृष्ट पदार्थी द्वारा अदृष्ट फल से विधि की सफलता होती है। इसी से वहाँ अदृष्ट पुरुषार्थ साक्षात् प्रयोजन नहीं माना जाता। जैसे अध्ययनविधि से दृष्ट अक्षरप्रहणादि द्वारा अदृष्ट स्वर्गफल का लाभ हो सकता है। परन्तु होमविधि में तो होम के अनन्तर हिव का अरिन में गिरना या जलना ही है। वह न स्वयं पुरुषार्थ ही है और न पुरुषार्थ का साधन। ऐसी स्थिति में वहाँ अगत्या होम का अदृष्ट ही साक्षात् पुरुषाथ फल माना जाता है। ऐसा बिना माने होम में किसीकी प्रवृत्त नहीं हो सकती।

कहा जाता है कि 'अध्ययनविधि' में अध्ययन का अक्षरप्रहणफल हो सकता है, क्यों कि वह अध्ययन का समीप्रवर्ती है।
पूर्वोक्त रीत्या उसका परम्परया पुरुषार्थ से सम्बन्ध भी है।
इसी तरह होमादि के समान अध्ययन का भी अहब्द स्वर्गीहि
भी साक्षात् फल हो सकता है। परन्तु वाक्यार्थज्ञान अध्ययन
का फल कैसे हो सकता है ? क्यों कि वह तो न अध्ययन के
अनन्तरभावी है, न स्वयं पुरुषार्थ ही है।

यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सभी विधिवाक्यों के विषय में मीमांसा में ऐसा विचार है कि 'ब्रीहीनवहन्ति'। इस विधिवाक्य में ब्रीहि का कूटना कहा गया है, जिसका फल भूसी मिटाना प्रत्यक्ष हो है। किन्तु वह पुरुषार्थ नहीं है अतः इसमें पुरुषप्रवृत्ति के लिए पुरुषार्थारूप भाव्य की आकांक्षा शान्त नहीं होती। उस आकांक्षा के पुरुषार्थपर्यवसान से पहले ही याग के लिए पुरोडाश का स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के लिए यज्ञों का अन्य विधिवाक्यों से विधान होता है। अतएव उक्त पुरो-डाशादि ही यज्ञ का और यज्ञादिक ही पुरुषार्थ का साधक होता है। अवघातादिक तो इन दोनों में से किसीका भी साधन नहीं है, इसीसे उसका पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं होता। किन्तु अवघातादि से पुरोडाश और यागादिरूपी'साधनों का ही उपकार होता है। अवघात से लेकर पुरोडाश निर्माण तक जिन कार्यों का विधान होता है, जैसे 'तण्डुलान् पिनष्टि' (तण्डुलपेषण आदि), वे सब पुरोडाशादि की सिद्धि के लिए अवघातादि के द्वार अर्थात् व्यापारमात्र हैं। क्योंकि बिना पेषणादि-ज्यापार के अवघातादि से पुरोडाश की सिद्धि हो नहीं हो सकती। इसी कारण पेषणादि का भी पुरुषाथे में पर्यवसान नहीं होता। यह भी नहीं कह सकते कि 'पेषणादि अवधान और पुरोडाश के फल हैं।' ऐसा तब हो सकता, जब अव-धातादि के विधान से प्रथम ही यह ज्ञात होता कि पेषणादि के फल पुरोडाशादि हैं।

यहाँ तो अवघातादि का ही विधान प्रथम है। पुरोडाश जिनसे बनता है, उन व्रीहियों के ही अवघात का विधान है। इससे प्रथम यही ज्ञात होता है कि अवघातादि पुरोडा-शादि के साधक हैं। तब यह जिज्ञासा होती है कि किस व्यापार से ? इसी जिज्ञासा को पेषणविधि पूर्ण करती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरोडाशादि पेषण का फल नहीं. किन्तु अवघातादिक का ही है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि अवघातादि रूप अङ्गविधियों में पुरुषार्थ का पर्यवसान नहीं है, तो होमविधियों में भी अदृष्ट पुरुषार्थ की कल्पना नहीं होनी चाहिए। क्योंकि हवन किये हुए द्रव्य के भस्मीभाव में लोग श्रद्धा करते हैं। उस श्रद्धा के अनुसार यह भी विधि बन सकती है, कि 'इतं द्रव्यं भस्मीकुर्यात्' (होम किये हुए द्रव्य को भस्म कर दें । भस्मीभाव में अदृष्टफल-साधनता अवगत है, अतः भस्मीभाव भी फलरूप है। ऐसी दशा में जब होम-विधि के समीप कोई अदृष्ट पुरुषार्थरूपी फल नहीं कहा गया है, तब इस भरमीभावरूप अदृष्टफल से ही होम की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण हो सकती है। अहब्ट पुरुषार्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हविदीह में श्रद्धा इसलिए होती है कि हिव के वैसे ही अदग्ध रहने पर अस्पृश्य-स्पशन आदि से यज्ञ में वैगुण्य दोष आ सकते हैं। ऐसी स्थिति में वैगुण्य-निवारणाथ उक्त विधि के बिना भी दाह-श्रद्धा की उपपत्ति हो सकती थी, तब श्रद्धा से 'हुतं द्रव्यं भरमीकुर्यात्' इस विधिवाक्य की कल्पना को कहाँ अवकाश रहता है ? कथंचित् उक्त विधिकल्पना मान भी लें, तो भी असम होना होम का फल नहीं कहा जा सकता। किन्तु अद्दरह्मपी पुरुषार्थ की उत्पत्ति में दाह की श्रद्धा को होम का व्यापारमात्र मान लेने से अनुमित विधि चारितार्थं हो सकती है। सारांश यही है कि 'स्वर्गकामी यजेत' इत्यादि प्रधान विधिवाक्यों की अध्ययनविधि उनके अर्थों के ज्ञान और अनुष्ठान के द्वारा पुरुषार्थपर्यन्त पहुँचाती है। उक्त न्याय से जैसे पुरोडाश की सिद्धि के लिए विहित बीहि के अवघात का फल पुरोडाश ही है, वैसे ही वाक्यार्थ ज्ञान क

तिए विहित वेदाध्ययन का फल वाक्यार्थज्ञान ही है। जैसे
पुरोडाश स्वयं पुरुषार्थ न होने पर भी यज्ञ द्वारा पुरुषार्थ का
साधक होने से अवधात का फल होता है, वैसे ही यज्ञ द्वारा
पुरुषार्थ का साधक होने से वाक्यार्थज्ञान वेदाध्ययन का फल
है। जैसे 'बीहीनवहन्ति' इस वाक्य के अर्थ से ही मालूम होता
है कि पुरोडाश ब्रीहि का फल है। वैसे ही अध्ययनविधि के
अर्थ से हो वेदार्थज्ञान अध्ययन का फल है—यह भी मालूम होता
है। जैसे अवधात और पुरोडाश के मध्य में पेषणादि अवधात
के फल नहीं हैं, किन्तु ज्यापारमात्र हैं; वैसे ही अध्ययन और
वाक्यार्थ-ज्ञान के बीच अक्षर्यहणादि अध्ययन के फल नहीं,
किन्तु अध्ययन के ज्यापारमात्र हैं। तथा च अध्ययनिविधि से
विधिवाक्यों का अध्ययन, उनसे अक्षर-यहण द्वारा वाक्यार्थज्ञान, उससे यज्ञ और यज्ञ से स्वर्गादि पुरुषार्थ प्राप्त होता है।

'यदेव विद्या करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'—ज्ञान से, श्रद्धा से किया गया कर्म ही वीर्यवान् होता है। सारांश यह कि समस्त वेद अपने ज्ञान के द्वारा हो पुरुषार्थ का साधक है। तस्मात् विधिवाक्यों से विहित यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा के लिए ही अर्थवाद वाक्य सार्थक होते हैं। यद्यपि प्रशंसा अर्थवादों का वाच्यार्थ नहीं है, तथापि लक्ष्यार्थ अवश्य है। लक्षणा में प्रमाण 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य ही है। इसका अर्थ है—अर्थज्ञान के द्वारा समस्त वेद पुरुषार्थ का साधक है। अर्थवाद-वाक्य भी वेद के ही अन्तर्गत हैं। अतः वे भी अर्थज्ञान हिरा पुरुषार्थ के साधक होने ही चाहिए। अर्थवादों का वाच्यार्थ सिद्धक्षप है। अतः उसके ज्ञान से यज्ञादि किया में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जिससे पुरुषार्थसिद्धि

हो सके। इसीलिए प्रवर्तक विधि-वाक्यों के साथ अर्थवाद-

एकवाक्यता से ही अर्थनादों में पुरुषार्थ-साधकता हो सकती है। वाच्यार्थ से एकवाक्यता सम्भव नहीं। अतः तक्षणा से प्रशंसा ही अर्थवादों का अर्थ होता है। "अतः प्रशस्तेनानेन यज्ञेन स्वर्ग भावयेत्।"—यह यज्ञ प्रशस्त है, इसके द्वारा स्वर्गभावन करना चाहिए, यह सारांश निकलता है।

फिर भी कहा जाता है। कि 'यद्यपि पूर्वोक्त रीति से अध्ययन विधि से अर्ज्ञानपर्यन्त अध्ययन निश्चित होता है, परन्तु उसके बाद अध्ययनविधि निःयीपार हो जायगी। 'यदेव विद्या करोति' इत्यादि श्रुति भी इतना हो बतलातो है कि वाक्यार्थ-ज्ञान यज्ञ का साधन है, इसके अनन्तर यह भी निर्वापार हो जायगी। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थज्ञान यज्ञ के द्वारा स्वर्गादि-रूप पुरुषायं का साधक है - यह किस प्रकार सिद्ध हो गया ? परन्तु इसका समाधान यहा है कि जैसे 'अध्ययनेन वाक्यार्थज्ञानं भावयेत्' - अध्ययन से वेदवाक्यों का अर्थज्ञान प्राप्त करें, यह अध्ययनविधि का व्यापार होता है और इससे वाक्यार्थज्ञान अध्ययन का फल सिद्ध होता है। इसी तरह 'यदेव विद्या करोति' इस श्रुति के द्वारा भी "ज्ञानेन कर्म भावयेत" (ज्ञान से कर्म सम्पादन करे।) इस विधि की कल्पना होगी, उससे वाक्यार्थ-ज्ञान की कत्वर्धता सिद्ध होगो। उसके अनन्तर "स्वर्गकामी यजेत्", आदि विधिवाक्यों से 'यागेनस्वर्ग भावयेत्' (याग से स्वर्ग की भावना करे) इस व्यापार द्वारा याग भावना-भाव्य होने से यज्ञादि का स्वर्गादि फल सिद्ध होता है। इस तरह यज्ञ

ही साक्षात् पुरुषार्थसाधकता एवं यागार्थं कर्मविधायक वैदिक वाक्यार्थज्ञान एवं ज्ञानार्थं वेदाध्ययन की भी परम्परा से पुरु-वार्थसाधकता सिद्ध हो जाती है।

यहाँ कहा जाता है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रधान विधिवाक्यों का तात्पर्य अपने अर्थज्ञान कराने ही में होने से अध्ययनविधि का उनके अर्थज्ञान कराने में पर्यवसान हो सकता है, परन्तु ''ब्रीहीनवहन्ति'' (धान कूटे) इत्यादि अङ्ग-विधियों के अर्धज्ञान में अध्ययनविधि का पर्यवसान नहीं हो सकता क्यों कि उनका तात्पर्य अपना अर्थज्ञान कराने में समाप्त नहीं होता। जैसे प्रधान विधियों के बल से मंत्रों के अर्थ और शब्द दोनों गृहीत होते हैं। अतएव कर्म के समय मंत्रों का पाठ होता है। इसी तरह प्रधान विधिवाक्यों के बल से अङ्ग-विधियों का भी स्वार्थ प्रतिपादनमात्र में तात्पर्य नहीं है, किन्तु स्वाक्षरपाठ में भी तात्पर्य होगा। इस दृष्टि स जैसे मन्त्रों के सम्बन्ध में ''अध्ययनेनार्थे ज्ञात्वा पाठं भावयेत्'' (अध्ययन से अर्थ जानकर पाठ करें) इस प्रकार अध्ययनविधि का समन्वय होता है, उसी प्रकार अङ्गविधियों से भी समन्वय होगा। निष्कर्ष यह कि अध्ययनविधियों का अर्थ-ज्ञानपर्यन्त ही व्या-पार होता है-यह नहीं कहा जा सकता।

पर इसका भी समाधान यही है कि मंत्रों का कर्म के समय
पाठ प्रधान-विधियों से नहीं ज्ञात होता । किंतु ''उरू प्रथस्वेति
पुरोडाशं प्रथयित ''उरू प्रथस्व" (इस मन्त्र से पुरोडाश की प्रथा
करे) इत्यादि अन्यान्य विधियों से ही मन्त्रों का पाठ प्राप्त होता
है, परन्तु अङ्ग विधियों के कर्मकाल में पाठ का विधायक कोई
विधिवाक्य नहीं है। अतः अंगविधियों के सम्बन्ध में भी अर्थ-

इत्यदि प्रयाजादि वाक्य प्रयाज आदि की प्रधान कर्माङ्गता मात्र बोशन कराते हैं, उनका पाठ विधान नहीं करते हैं। प्रधान विधिवाक्य भी अंगविधियों के अक्षरपाठ में प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रधान विधि-विहित यज्ञ स्वर्गरूप अट्टर के साथक हैं, अतः उसे अट्टर उपकार की ही अपेक्षा है। उसकी पूर्ति प्रयाज आदि अङ्ग-याग-साध्य अट्टर से हो जाती है। अक्षर-पाठ तो लोकट्टर ही है, उसमें प्रधान विधि का प्रामाण्य कथमिप नहीं है। अंगविधियों का उनके अथों के अनुष्ठान द्वारा यज्ञ में संबंध हो सकता है। तब बिना किसी प्रमाण के कर्म-काल में उनके पाठ की कल्पना कथमिप सङ्गत नहीं हो सकती। यदि बिना प्रमाण के भी पाठ-कल्पना हो सकती, तो "उरू प्रथस्वित प्रराहाशं प्रथयित" इत्यादि विधि-वाक्य व्यर्थ ही हो जाते।

इसपर भी कहा जाता है कि 'अध्ययनिविधि तो समस्त वैद के लिए है, परन्तु वेदान्त-वाक्यों की तो यज्ञों में उप-कारकता किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती।' पर यह तर्क भी युक्तियुक्त नहीं है। कारण जैसे अग्न्याधान-विधिवाक्य दूर से ही यज्ञोपकारी होता है, उसी प्रकार वेदान्त-वाक्य देह, इन्द्रियादि से भिन्न नित्य जीवात्मा का ज्ञान कराकर यज्ञी-पकारी होते हैं। बात यह है कि नित्यात्मबोध के बिना देहात्मवादी प्राणी की पारलोकिक यज्ञादि में प्रवृत्ता हो ही नहीं सकती। यद्यपि कहा जा सकता है कि 'आत्मा का ज्ञान यज्ञादि की तरह कियारूप नहीं है, अतः उसका विधान अध्ययन-विधि से कैसे हो सकेगा ?' पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'' इत्यादि विधिवाक्यों से आत्मा की उपासना प्रतीत होती है। तद्र्थ आत्मस्वरूप प्रतिपादन आवश्यक है और फिर उसके लिए वेदान्तवाक्य भी सार्थक हैं। अथवा सफल एवं निश्चित अर्थ का बोधक होने से समस्त वेदों का प्रामाण्य है। जैसे विधि-वाक्य फलवान् निश्चित अर्थ के बोधक हैं, वैसे ही वेदान्त भी। वेदान्त-जन्य ब्रह्म-साचात्कार सकल अनर्थों का निवर्तक एवं परमानन्द का प्रापक होने से वेदान्त भी सफल ही है। इस प्रकार सफल स्वार्थबोध के द्वारा वेद पुरुषार्थ का साधक है।

यद्यपि अर्थवादों के द्वारा किसी क्रिया का विधान नहीं होता, साथ ही स्वर्गादितुल्य किसी भाव्यांश क्रियाफल का भी प्रति-पादन अर्थवाद नहीं करते और न 'ब्रीहीनवहन्ति' के तुल्य अर्थवादों के द्वारा इतिकर्तव्यता का ही प्रतिपादन होता है, तथापि विधिवाक्यों से विहित यज्ञ आदि की प्रशंसा ही अर्थवाद-वाक्यों का लद्य अर्थ है। तभी विधि के साथ एकवाक्यता द्वारा 'प्रशस्तेनानेन यज्ञोन स्वर्ग भावयेत' यह अर्थ निष्पन्न होता है।

विध्यर्थ भावना-विचार

: 8:

कहा जाता है कि जैसे अध्ययनिवधि से यह नहीं सिद्ध होता कि अर्थवादों के वाच्यार्थ का ज्ञान उनके अध्ययन का फल है, क्योंकि वाच्यार्थ सिद्धक्प है, वह पुरुषार्थ का साधक नहीं हो सकता है, वैसे ही प्रशंसाक्ष्म लह्यार्थ का ज्ञान भी तब तक अर्थवादों के अध्ययन का फल नहीं हो सकता है जब तक प्राश-रियज्ञान की कर्तव्यता में कोई हद प्रमाण नहीं मिलता। राग-

वशात् या विधिवशात् जिस कार्य में कर्तेव्यता नहीं ज्ञात होती. वह किसी क्रिया का फल नहीं हुआ करता—यह लोकसिद्ध बात है। उसी कर्तव्यता को गौगा भाव्यता भी कहा जाता है। इसीलिए कर्तव्य, भाव्य, फल इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ होता है। अर्थवादों का अर्थ जब विध्यर्थ भावना के तीनों ही अंशों में से किसीमें नहीं आता, ऐसी स्थिति में अर्थवादों का प्रशंसारूप लच्यार्थ अध्ययनविधि का फल नहीं हो सकता। फिर अध्ययनविधि से उसकी कर्तव्यता भी कैसे सिद्ध होगी ? परन्तु यह ठीक नहीं है। क्यों कि यद्यपि प्रशंसारूपी अर्थवादों का लद्यार्थं आर्थी-भावना के साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता का इनमें से किसीमें नहीं आता, तथापि अध्ययनविधि की शाब्दी भावना में उसका निवेश हो जाता है। विधिवाक्यों में लिङ, लोट् या तव्य प्रत्यय अवश्य होते हैं। उनका भावना ही अर्थ होता है। वह भावना भी दो प्रकार की होती है-एक आर्थी भावना, दूसरी शाब्दी भावना। जैसे 'यजेत' से 'यज्' प्रकृति है, लिङ्-प्रत्यय है। लिङ् में लिङ्त्व और आख्यातत्व ये दो धर्म होते हैं। आख्यातत्व दसों लकारों में रहता है, किन्तु लिङ्त्वधर्म लिङ्में ही रहता है। आख्यात का अर्थ है—आर्थीभावना और लिङ्का शाब्दी भावना। "अर्थयते इत्यर्थः" इस व्युत्पत्ति से फलकामना-वाला पुरुष ही 'अर्थ' शब्द का वाच्य है। उसीकी भावना आर्थी-भावना कही जाती है। इस प्रकार भावयिता पुरुष में रहनेवाला वह यत्न-विशेष आर्थी-भावना कहा जाता है, जिससे फल-भावना पैदा होती है। उस आर्थी-भावना के तीन अंश होते हैं- कि भावे-येत्', 'कथं भावयेत्' एवं 'केन भावयेत्'। अर्थात् साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता (प्रक्रिया)। स्वर्ग आदि से साध्याकांचा पूरी होती है, याग से साधनविषयक आकांचा पूरी होती है। प्रयाज

ब्राहि रूप अङ्गों से इतिकर्तव्यता की आकांचा पूरी होती है।
'रथो गच्छिति'(रथ जाता है) इत्यादि स्थलों में अचेतन की
ब्रिल आख्यात का लाचि शिक अर्थ है। मुख्य आर्थी-भावना तो
व्रुष का आन्तरिक प्रयत्न ही है, और वही 'पचिति', 'खादिते'
ब्राहि सभी कियाओं के तिबादि आख्यातों का अर्थ है। आख्यातों
का कियासामान्य लच्यार्थ होता है, वह सचेतन, अचेतन-सबमें
रह सकता है। अतएव माधवाचार्य का यह कथन भी संगत होता
है—"सर्वधात्वर्थसम्बद्धः करोत्यर्थो हि भावना।" अर्थात् सब
शात्वर्थों से सम्बद्ध किया (करोत्यर्थ) ही भावना है।

नैयायिक भी यही मानते हैं—

'भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः। तया विवरणध्रौ व्यादान्नेपानुपपत्तितः॥"

ही सब आख्यातों का अविति हैं। "भोजनाय काष्टादिना पाको मवतु", "स्वर्गाय हिवरादिना यागो भवतु" (भोजन के लिए काष्टादि से पाक सम्पन्न हो, स्वर्ग के लिए हिव आदि से गाग सम्पन्न हो) इस तरह इच्छा के समान ही इस भावना का आकार होता है। इस प्रवृत्ति का भोजन एवं स्वर्ग आदि से जो सम्बन्ध है, उसीको फलता, भाव्यता या उद्देश्यता कहते हैं। इसीसे भोजन, स्वर्ग आदि फल उद्देश्य या भाव्य कहे जाते हैं। इसीसे भोजन, स्वर्ग आदि फल उद्देश्य या भाव्य कहे जाते हैं। इसीसे भोजन, स्वर्ग आदि फल उद्देश्य या भाव्य कहे जाते हैं। इसीसे भोजन, स्वर्ग आदि फल उद्देश्य या भाव्य कहे जाते हैं। इसीसे भोजनादि सुखादि - साधन होने से गौणाफल है। प्रवृत्ति, पाक गोगादि से जो सम्बन्ध है, उसीको साध्यता या विधेयता कहा जाता है। फलतः पाक एवं याग आदि साध्यता या विधेयता कहा जाता है। फलतः पाक एवं याग आदि साध्यता या विधेय या करण के जाते हैं। पाक, याग आदि कियाओं के साधन काष्ट, हिव

"सिद्धं साध्यं फलञ्चेति प्रवृत्तेर्विषयश्चिधा। तत्र सिद्धमुपादानं क्रिया साध्यं फलं सुखम्॥"

पार्थसार्थि मिश्र के अनुसार भावना व्यापार-विशेषस्य ही है, जिससे कि दूसरी कियाएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे पुरुष के आन्तरिक व्यापार से पाकिकया होती है, उसी तरह अन्यत्र भी समभना चाहिए। वह व्यापाररूप भावना प्रायः चेतन मं ही रहती है, परन्तु चेतन में ही रहने का सर्वथा नियम नहीं है। अतएव "रथो गच्छति" (रथ जाता है) इत्यादि वाक्योंमें चक्र-भ्रमग्रह्म भावना अचेतन की ही है, उसीसे अप्रिमदेश-प्राप्ति के लिए रथ में गमनिकया होती है। इसलिए "रथो गच्छति" के 'ति' आख्यान का भी भावनारूप मुख्य ही ऋर्थ है। लच्या की आवश्यकता नहीं है। लोक में जैसे 'पचति' क्रिया की आर्थी-भावना का पाक भाव्य है, काष्ठ आदि करण हैं, अनि-ध्मान [आग, फूकना] आदि इतिकर्तव्यता है, वैसे ही वैदिक वाक्यों में भी आर्थी भावना होती है। लोक में तीनों अंश लौकिक होते हैं, वेद में तीनों अंश वैदिक ही होते हैं, क्योंकि भावना वेदैकगम्य है। इस आर्थी - भावना का स्वर्ग आदि फल है, यागादि साध्य (अनुष्ठेय) है। स्वर्गादि के प्रति यागादि साधन भी है। प्रयाजादि इतिकर्तव्यता है। यागादि के प्रति हवि आदि साधन हैं। इनमें अर्थवाद के लच्यार्थ प्रशंसा का कुछ भी डपयोग नहीं है।

तथापि विधिक्षप लिङादि आख्यातों का असाधारण अर्थ दूसरी भावना है, उसीको शब्द - भावना और अभिधा-भावना कहा जाता है। उसमें भी भाव्य, करण एवं इतिकर्तव्यता होती है। इस शाब्दी भावना का भाव्य पूर्वोक्त यागसम्बन्धिनी पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थी भावना है। लिङादि सम्बन्ध का ज्ञान ही त्मका करण है, अर्थवादों की लह्यार्थभूत प्रशंसा इतिकर्तव्यता है। जैसे पिछली आर्थी भावना में 'किं भावयेत, केन भावयेत, क्यं भावयेत' इस प्रकार त्रिविध आकाङ चाएँ होती हैं, उनकी पूर्त भी 'स्वर्ग भावयेत, यागेन भावयेत प्रयाजादिभिरङ्गे रुपकृत्य भावयेत' इस तरह होती है, उसी तरह शाब्दी भावना में भी 'किं भावयेत, केन भावयेत, कथं भावयेत' यह साध्याकाङ्चा, साधना-काङ्चा तथा इतिकर्तव्यताकाङ्चा होती है और उनकी पूर्ति भी इस तरह होती है 'पुरुषप्रवृत्तिक्तपामंशत्रयवतीमार्थीभावनां भावयेत, लिङादिज्ञानेन भावयेत, अर्थवादैः प्राशास्त्यमवबोध्य भावयेत्।' यही बात भट्टपाद ने भावार्थाधिकरण में कही हैं :—

'श्रिभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः'। श्रिथार्थभावना स्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥"

है, यह लिङादि विधि ह्या खाल्यात का अर्थ अभिधा भावना है, यह लिङादि ह्या खाल्यात का ही अर्थ है। आर्थी भावना सभी आल्यातों का साधारण अर्थ है। लिङादि विधि आल्यात भी है, किन्तु उसमें आल्यातांश का अर्थ आर्थी भावना है, लिङांश का अर्थ शाब्दी या अभिधाभावना दे। 'पथ्यमहनीयात्' इत्यादि लेकिक विधिवाक्यों में भी आल्यातार्थ, लिङ्थ दोनों ही भावनाएँ होती हैं। पुरुषप्रवृत्तिह्या भावना आल्यातार्थ है, पुरुषप्रवृत्ति ह्या भावना लिङ्थ है। वेद अपीरुषेय है, अतः वहाँ प्रवर्तियता को भावना लिङ्थ है। वेद अपीरुषेय है, अतः वहाँ प्रवर्तियता कोई पुरुष नहीं है। अतः लोक में यद्यपि लिङ्थ भी प्रयोजक पुरुष की ही भावना है, किन्तु वेद में शब्द है। प्रवर्तक है, अतः आंशत्रयवती आर्थी भावना की प्रवर्तिका शाब्दी भावना कही जाती है। लिङ् के अवण से श्रोता सममता शाब्दी भावना कही जाती है। लिङ् के अवण से श्रोता सममता कि यह मुम्ने प्रवृत्त कर रहा है। लोक में पिता आदि पुत्रादि प्रवर्तक होते हैं, वैदिक व्यवहार में वेद ही प्रवर्तक सममा

जाता है। इसीलिए वैदिक विधिवाक्यों में आख्यातांश का अर्थ पौरुषेयी या आर्थी भावना होता है तथा लिङंश का अर्थ शाब्दी-

भावना होता है।

यहाँ यह आन्तेप होता है कि 'लिङादि विधिरूप आख्यातों में आर्थी भावना से अन्य कोई भावना सिद्ध नहीं होती, जो कि शाब्दी भावना कही जा सके। लिङादि शब्दों के अवणानन्तर जो यज्ञ, पाकादि क्रियाओं में श्रोता पुरुषों की प्रवृत्ति होती है, उसके हेतुभूत पदार्थ को ही शब्द-भावना कहा जाता है। परन्तु

वह कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता।

'कई लोग लिझादिरूप आख्यात से ही पुरुषों की प्रवृत्ति मानते हैं। कई लिडादि शब्दों की विलच्चण किया को ही प्रवृत्ति हेतु मानते हैं। कोई लिडादि आख्यातों की शक्ति को ही प्रवृत्ति का मानते हैं। कोई आज्ञा को तो कोई नियोग (अलोकिक व्यापार) को प्रवर्तक मानते हैं। कोई इच्छा को, कोई फलनिष्ठ प्रीति को, कोई साधनता को, कोई फलनिष्ठ साध्यता को, कोई कृतिसाध्यता को, कोई इष्टसाधनता को, कोई कृतिसाध्यता, इष्टसाधनता दोनों ही को, कोई इष्टसाधनता को, कोई कृतिसाध्यता और बलवदनिष्टान्तुवन्धिता (इष्ट की अपेना बलवान अनिष्ट का साधन के होना) तीनों को प्रवर्तक मानते हैं। कोई प्रवर्तना रूप से लिडादि वाच्य इष्ट साधनता को ही प्रवर्तक मानते हैं। कोई आप्रों के अभिप्राय को प्रवर्तक मानते हैं।

किन्तु लिङ़ादि आख्यात ही पुरुष का प्रवर्तक है, यह प्रथम पर्स सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे वायु साज्ञात् तृगादि में व्यापार उत्पन्न करता है, वैसे लिङादि शब्दस्वरूप से पुरुष में प्रवृत्ति। उत्पन्न नहीं करते। क्योंकि शब्द अपने अर्थबोधन द्वारा ही प्रमाण कहलाता है। लिङादि शब्द यदि अपने अर्थबोध के बिना वायु की तह प्रवृत्ति करायेंगे, तो वे प्रमाण नहीं हो सकेंगे। इसके अति-ति घटादि शब्द तभी अपने अर्थों का बोध कराते हैं, जब जका पूर्व से ही अपने अर्थ के साथ श्रोता को सम्बन्धज्ञान हता है। इसी तरह लिङादि भी सम्बन्ध (शक्ति)- ज्ञानपूर्वक ही श्रोता को स्वार्थ का बोध करायेंगे। परन्तु यदि लिङादि बायु के समान प्रवर्तक हों, तो उन्हें सम्बन्धज्ञान की आवश्यकता

ही क्यों होगी ?

साथ ही 'यजेत्' आदि क्रिया गत 'एत्' रूप आख्यात बिना 'यजि' के स्वार्थवोध नहीं कराते। किन्तु यदि लिङादि वायु के समान प्रवर्तक हैं, तो वे यजि आदि की अपेचा क्यों रखेंगे ? यदि लिङादि शब्द वायुवत् प्रवृत्ति कराते हैं, तब तो फलानुसन्धान के बिना भी तृगादिवत् पुरुषों की प्रवृत्ति होनी चाहिए। जिस विधिवाक्य में फल श्रत नहीं होता, उसमें भी लिङादि बल-मे फल की कल्पना की जाती है। जैसे 'विश्वजिता यजेत' इस विधि में फलश्रत नहीं है, तो भी स्वर्ग की कल्पना की जाती है। 'स हि स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्' अर्थात् विश्वजित् गा से साध्य फल स्वर्ग ही है, क्योंकि वह सबके प्रति समान ल्प से अभीष्ट होता है। यदि लिङादि शब्द वायु के समान भवर्तक हों, तब तो फलानुसन्धान के बिना ही उनसे प्रवृत्ति हो ही जाती। फिर स्वर्गादि की कल्पना क्यों की जाय ? यदि कहा गय कि लिङादि शब्द ऐसे व्यापार का बोध कराते हैं, जिससे विज्ञादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् यज्ञादि कर्मों में एक ऐसी शक्ति होती है, जिसके कारण उनमें पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। वही शक्ति लिङादि का अर्थ है। उसी शक्ति का बोध लिङादि कराते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि 'कारीय्या वृष्टि-कीमो यजेत्' (वृष्टि की कामना से कारीरी नामक यज्ञ करे)

इत्यादि वैदिक विधियों में लिङादि शब्द व्यर्थ हो जायँगे, क्योंकि जलवृष्टि आदि प्रत्यच पदार्थ हैं, उनके सिद्ध करने की शक्ति भी 'कारीरी' आदि यक्षों में आपके अनुसार लोकसिद्ध ही है। तथाच 'कारीरी' आदि वैदिक विधियों में लिङादि शब्द व्यर्थ हो जायँगे। जैसे भोजन से तृप्ति लोकसिद्ध है, वैसे ही कारारी में वृष्टि सिद्ध करने की शक्ति लोकसिद्ध है। अतः वह शक्ति वैदिक लिङादि शब्दों का अर्थ नहीं हो सकती। क्योंकि वैदिक लिङादि शब्दों से उसी अर्थ का बोध होता है, जो कि प्रमाण-नन्तर से प्राप्त नहीं होता। तभी वैदिक वाक्य सार्थक होते हैं। अन्यथा 'तृप्तिकामो सुञ्जीत' इत्यादि वाक्यों के तुल्य 'कारीरी' वाक्य भी व्यर्थ ही होगा।

इसी तरह कोई विलद्दाण किया ही लिङादि का अर्थ है, यह दूसरा पद्य भी ठीक नहीं है। क्योंकि अलीकिक प्रेरणास्पा किया में लिङादि का शक्ति-श्रह ही सम्भव न होगा। फिर बह प्रवर्तक कैसे होगी? घटादि शब्द का लोकप्रसिद्ध घटादि पदार्थ में ही शक्तिश्रह होता है। फिर जिस अलौकिक प्रेरणा को लोग जानते ही नहीं, उससे लिङादि का शक्तिश्रह तथा उसके द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ता सर्वथा ही असम्भव है। यदि किसी तरह अलौकिक प्रेरणा के साथ लिङादि का सम्बन्धज्ञान हो भी जाय, तो भी उससे पुरुषप्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि लोक में राजा आदि की प्रेरणा से उन्हीं लोगों की प्रवृत्ति होती है, जो यह जानते हैं कि राजा स्वतन्त्र रूप से फल दे सकता है। परन्तु लिङादि शब्द तो स्वतन्त्र रूप से फल दे नहीं सकते, फिर उनकी प्रेरणा से पुरुषप्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? फिर यह भी प्रश्न होगा कि पुरुषप्रवृत्ति मानने में लिङादि शब्द प्रधान हैं या प्रेरणा? पहला पद्य ठीक नहीं, क्योंकि लिङादि शब्दों से किसी फल की

कल्पना नहीं की जा सकती है, कारण वे किसी पुरुषार्थ को हाजात सिद्ध नहीं करते हैं। प्रेरणा प्रधान है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रेरणामात्र के ज्ञान से किसी विवेकी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कारण सभी प्रेरणाएँ उचित नहीं होतीं। त्रातः यह कहना पड़ेगा कि वेद स्वतःप्रमाण है। त्रातप्य वैदिक लिङादि की प्रेरणा के ज्ञान से पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। ब्रतः वैदिक लिङादि शब्दों की प्रेरणा ही प्रवृत्ति का कारण हो सकती है, केवल प्रेरणा नहीं। ऐसी स्थित में वैदिक लिङादि शब्द भी प्रवृत्ति के कारण में त्रान्तभूत हुए। त्रार्थात् लिङादि शब्दिविशिष्ट प्रवृत्तिकारण लिङादि का अर्थ है, यह कहना पड़ेगा, जो कि सर्वथा विरुद्ध है।

यमिधा (लिङादि की शक्ति) लिङादि का अर्थ है, यह तीसरा पद्म भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'अभिधा' शब्द की उसी शक्ति को कहते हैं, जिससे अर्थबोध होता है। यह शक्ति लोक में प्रसिद्ध ही होती है। लिङादि भी शब्द ही हैं अतः उनमें शक्ति है ही। उसकी करूपना अनावश्यक ही है। वही शक्ति प्रवृत्तिरूप आर्थों भावना का बोध कराकर पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करेगी, अतः उसीको प्रवर्तना कहा जाता है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही उसीको प्रवर्तना कहा जाता है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। परन्तु इस पद्म में दोष यह है कि प्रवृत्तिरूप आर्थों भावना का बोध तो लिङादिभिन्न अन्य आख्यातों से भी होता है, फिर को बोध तो लिङादिभिन्न अन्य आख्यातों से भी होता है, फिर को बोध तो लिङादिभिन्न अन्य आख्यातों से भी होता है, फिर को बाध तो लिङादिभिन्न अन्य आख्यातों से किसी पुरुष की नहीं। 'पचिति' 'पद्मित' आदि आख्यातों से किसी पुरुष की महीं। 'पचिति' 'पद्मित' आदि कहा जाय कि लिङादि के अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि लिङादि के अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि लिङादि होती है। वह कोई ऐसा विशेष है, अत्रयव लिङादि से प्रवृत्ति होती है। वह कोई एसा विशेष है, अत्रयव लिङादि से प्रवृत्ति होती है। वह कोई एसा विशेष है, अत्रयव लिङादि से प्रवृत्ति होती है। वह कोई एसा विशेष अन्य आख्यातों में नहीं होता, अतः उनसे प्रवृत्ति नहीं

होती। तब तो उसी विशेष की प्रवर्तना और लिङादि का अर्थ

मानना चाहिए अभिधा को नहीं।

यदि कहा जाय कि अभिधा का यह स्वभाव है कि वह अन्य आख्यातों से उक्त होकर प्रवृत्ति नहीं कराती, पर लिङादि से अभि-हित अभिधा प्रवृत्ति कराती है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो अभिधा को लिङ्थ मानना व्यर्थ ही है। कारण लिङाह शब्दों की अभिधा प्रवृत्ति कराती है, यह प्रसिद्ध ही है। फिर भी यदि अभिधा लिङ का अर्थ माना जाय, तब तो फिर अन्य त्राख्यातों से भी पुरुषप्रवृत्ति होनी चाहिए। यदि कहा जाय कि दूसरे आख्यात अभिधा को प्रवृत्ति के कारगारूप से नहीं बतलाते, क्योंकि अभिधा उनका अर्थ नहीं है। लिङादि शब्दों का तो अभिधा अर्थ है, इसी से लिङादि अभिधा को प्रवृत्ति का कारण बतलाते हैं, इसीसे प्रवृत्ति होती है। इसीलिए अभिधा को लिङादि का अर्थ कहा जाता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, कारगा यहाँ यह प्रश्न होगा कि अभिधा प्रवृत्ति का कारण है, ऐसा बतलाने के पूर्व अभिधा में प्रवृत्ति कराने की शक्ति है या नहीं ? यदि है, तो ऐसा बतलाने का प्रयोजन ही क्या है, शक्ति से ही प्रवृत्ति हो जायगी। श्रतः श्रभिधा को लिङ्थं मानना व्यर्थ है। यदि श्रभिधा प्रवृत्ति का कारण है, यह बतलाने के पूर्व लिङादि शब्दों में प्रवृत्ति कराने की शक्ति नहीं है, तब तो बतलाने के अनन्तर भी उससे प्रवृत्ति की उत्पत्ति संभव नहीं है। फिर प्रवृत्ति कैसे होगी।

आज्ञादि लिङ्थे है, यह चौथा पत्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि छोटों के प्रति बड़ों की प्रेरणा ही आज्ञा या प्रेषणा कहलाती है। बड़ों के प्रति छोटों की प्रेरणा प्रार्थना या अध्येषणा कही जाती है। समान पुरुषों को अपने समान पुरुषों के प्रति प्रेरणा को अनुमति या अनुज्ञा कहा जाता है—ये तीनों ज्ञानविशेष होने से

क्रतन के ही धर्म हैं। वेद अपीरुषेय हैं। उनके लिङादि भी अवे-तन ही हैं। अतः वैदिक लिङादि का आज्ञा, प्रार्थना, अनुज्ञा, होई भी अर्थ नहीं हो सकता।

नियोग लिङादि का अर्थ है। यह पाँचवाँ पच भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस कार्यक्ष वस्तु को मीमांसक नियोग कहते हैं, वह अत्यन्त अप्रसिद्ध है तथा किसी प्रमाण का गोचर नहीं है। फिर ऐसी वस्तु में वैदिक लिङादि शब्दों का शक्ति (सम्बन्ध) प्रह ही असम्भव है, फिर ऐसी वस्तु से प्रवृत्ति कैसे संभव होगी ?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि नियोगरूपी कार्य में लोक-प्रसिद्ध तथा दृढ़ प्रमागा यह है कि जब बालक के सामने प्रयोज्य वृद्ध प्रयोजकवृद्ध के गामानय (गो लात्रो) इस वाक्य को सुनकर गाय लाता है, तब प्रयोज्य एवं प्रयोजक पुरुषों के इन व्यवहारों को रेलकर बालक यह अनुमान करता है कि जैसे मेरी स्तनपानरूप वेष्टा मेरी आन्तरिक प्रवृत्ति से होती है, वैसे ही नियोज्य पुरुष भी गौ ले आने की चेष्टा भी उसकी आन्तरिक चेष्टा से ही हुई है। वालक दूसरा अनुमान यह भी करता है कि जैसे मुक्ते स्तनपान करना चाहिए, इस प्रकार के ज्ञान से मेरी स्तनपान में प्रवृत्ति रोती है, वैसे ही मुक्ते गौ लाना चाहिये—इस प्रकार के ज्ञान से ी नियोज्य पुरुष की गौ ले आने में प्रवृत्ति हुई है। इसी ज्ञान को कार्यता-ज्ञान कहा जाता है। पुनश्च बालक तीसरा अनुमान पह करता है कि जैसे मेरी तृप्ति का स्तनपान कारण है, बैसे ही रुमे गो ले आना चाहिए, इस प्रयोज्य वृद्धनिष्ठ कार्यताज्ञान को कोई विशेष कारण अवश्य है। किर बालक सोचता है कि नियोज्य पुरुष के उक्त कार्यताज्ञान का कारण क्या है। यहाँ कोई भेन्य कारण उपलब्ध नहीं है। प्रयोजक वृद्ध का 'गामानय' भी ले आत्रा) यह वाक्य ही उपस्थित है, अतः नियोज्य के

कार्यताज्ञान (मुक्ते गो ले आना चाहिए) का कारण उस वाक्य को ही बालक सममता है। अनन्तर 'गां बधान' (गाय को बाँधो), अश्वमानय (घोड़ा को लाओ) इत्यादि प्रयोजक वाक्यों को सुनकर प्रयोज्य पुरुष के कामों को देखकर बालक समम लेता है कि गाम्-अश्वम्, ये शब्द गो एवं घोड़े के बोधक हैं, आनय एवं बधान ये शब्द ले आना और बाँधना आदि क्रियाओं के बोधक हैं।

पूर्वमीमांसा के षष्ठाध्याय के प्रथमाधिकरण में कहा गया है कि नियोज्य पुरुष यागादिकिया को अपना कार्य सममता है। 'याग मेरा कार्य हैं इस बोध को ही नियोग कहा जाता है। अभीष्ट स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ का उपाय ही ऐसा कार्य हो सकता है। परन्तु यागादि किया प्रतिच्या नष्ट होनेवाली है, अतः वह काला-न्तरभावी स्वर्गादि का उपाय नहीं हो सकती। इसलिए यागादि क्रिया से उत्पन्न स्वर्ग पर्यन्त रहनेवाला त्र्यात्मनिष्ठ, ऋपूर्वे या अदृष्ट माना गया है। उसीको कार्य कहते हैं। वही वैदिक लिङादि शब्दों का अर्थ है और वही शाब्दी भावना है। उक्त नियोग ही यागादि किया में पुरुषों की प्रवृत्ति कराता है। इस तरह जैसे लोक में लिङादि शब्दों का ले आना आदि कार्य अर्थ है, उसी तरह वेद के लिङादि शब्दों का अपूर्वरूपी कार्य अर्थ है। जैसे, लौकिक गाय को ले आने आदि कार्य में उक्त कार्यता (मुक्ते गौ ले आना चाहिए) ज्ञान से नियोज्य पुरुषों की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही वैदिक यागादि क्रियात्रों में भी नियोग (याग मेरा कार्य है, यज्ञ ज्ञान) रूपी शाब्दी भावना से नियोज्य पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। यह प्रभाकर (गुरु) का मत है। तथा च कार्यताविषयक नियोगरूप बोध या विषयभूत कार्य ही प्रवर्तक है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रश्न उठता है कि अपूर्व में कार्यत्व क्या है, कृति (आन्तरिक प्रवृत्ति) की उद्देश्यता (जो कि क्रियाओं

का फल अर्थात् पुरुषार्थ में रहती है) है अथवा कृति की विषयता अर्थात अनुष्ठेयतारूप (जो कि किया में रहती है) है ? अपूर्व में दोनों ही नहीं बन सकती, क्योंकि अपूर्व न तो पुरुषार्थ है और न क्रियारूप ही। नियोग स्वयं ज्यापाररूप नहीं है, अतः वह नियोग विषय नहीं हो सकता।

सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों के विधिवाक्यों में और ब्रह्म-हत्यादि के निषेधवाक्यों में उक्त अपूर्वरूपी कार्य की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि सन्ध्यादि करने तथा ब्रह्महत्यादि न करने से कोई फल नहीं होता (जिस कर्म के करने से कोई फल नहीं होता है, परन्तु न करने से पाप होता है, उसे नित्य कर्म कहते हैं)। अतः ऐसे स्थलों में अपूर्व की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वर्गादिरूप फल ही कार्य है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदापि उसमें कृति की उद्देश्यता है, तथापि यदि से ही कार्य माना जाय, तब तो उसीके ज्ञान से प्रवृत्ति भी माननी पड़ेगी। और यदि इसीको प्रवर्तक मान लिया जाय, तब गे लिङादि के अर्थज्ञान से प्रवृत्ति होती है -यह सिद्धान्त भन हो जायगा, क्योंकि स्वर्गादि कार्य लिङादि शब्द का अर्थ नहीं है। इच्छा लिङादि का अर्थ है, यह छठा पच भी ठीक नहीं है, म्योंकि यद्यपि इच्छा प्रवृत्ति का कारण है। जिस विषय में इच्छा होती है, उसमें प्रवृत्ति होती हैं, यह सर्वसम्मत है। उसीके प्रभाव में इच्छाजनक अन्यों में भी प्रवर्तकता होती है। तथापि इच्छा लिङादि का अर्थ नहीं हो सकती। क्योंकि जैसे 'गामानय' इत्यादि लोकिक लिङादि का वक्ता पुरुष ही प्रवर्तक होता है, वैसे ही वैदिक लिङादिस्थल में भी इच्छा करनेवाला पुरुष ही प्रवर्तक सममा जायगा। परन्तु यह वैदिकों को सम्मत नहीं है। वैदिकों मिद्धान्त यही है कि वैदिक लिङादि शब्द ही प्रवर्तक है, इच्छा करनेवाला पुरुष तो उनका प्रवक्ता ही है (आज्ञाकारी ही है)। साथ ही यह भी दोष है कि शब्द अर्थज्ञान के लिए ही प्रयुक्त होता है। इच्छा का भी स्वभाव यह है कि वह स्वरूप से ही प्रवृत्ति कराती है, ज्ञान से नहीं। ऐसी स्थिति में लिडादि शब्द से इच्छा का ज्ञान कराये बिना भी प्रवृत्ति हो ही सकती है। फिर इच्छा को लिडादि का अर्थ मानना व्यर्थ ही है। इस पन्न में यह भी एक दोष है कि यदि मान भी लिया जाय कि इच्छा के स्वरूप से प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इच्छा के ज्ञान से प्रवृत्ति होती है; तो भी जैसे ज्ञान, सुख आदि का मन ही से ज्ञान होता है, उसी तरह इच्छा का भी मन से ही ज्ञान हो सकता है। फिर उसके ज्ञान के लिए लिडादि का प्रयोग व्यर्थ ही है।

फलनिष्ठ प्रीतिरूपता यह सातवाँ पत्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस पत्त में प्रीतिरूप लिङादि अर्थ ही प्रवर्तना होगी। अतः प्रवर्तना के आश्रय स्वर्गादिरूप फल में ही प्रवृत्ति हो जायगी। यदि कहा जाय कि प्रवृत्ति रूप कृति किया में ही होती है, फल में नहीं; क्योंकि फल कृति का विषय नहीं होता। अमुक किया अमुक फल का साधक है, इस ज्ञान से ही क्रिया में प्रवृत्ति होती है। स्वर्गादि फल तो किसी अन्य फल का साधक नहीं होता, अतः उसमें प्रवृत्ति असम्भव है। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि फिर तो लाघवात यही कहना चाहिए कि यागादि कियाओं में जो स्वर्गादि फलों के प्रति साधकता है, वही लिङादि शब्दों का अर्थ है। क्योंकि उसीके ज्ञान से कियाओं में प्रवृत्तीं की प्रवृत्ति होती है। यदि यह मान लिया जाय, तब तो सातवाँ पत्त आठवें पत्त में ही अन्तभू त हो जाता है।

फलसाधनता लिङादि अर्थ है, यह आठवाँ पत्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि साधकता (फल का कारण होना) लिङादि

वहों का अर्थ है, तो वह तो यागादि किया में ही रहती है, अतः क्रिया ही प्रवृत्ति का कारण हो जायगी। परन्तु यह इष्ट नहीं है, क्रिया तो प्रवृत्ति के पूर्वकाल में न रहकर प्रवृत्ति के उत्तर काल में ही रहती है, फिर वह प्रवतंक कैसे होगी ?

फल में रहनेवाली साध्यता लिङादि अर्थ है, यह नवम पन भी ठीक नहीं। क्योंकि फल भी प्रवृत्ति के पहले नहीं होता। इसरा दोष यह भी होगा कि इससे फल में ही प्रवृत्ति का प्रसङ्ग होगा।

कृतिसाध्यता लिङादि अर्थ है यह दसवाँ पच भी ठीक नहीं है। क्योंकि क्रिया में जो कृतिसाध्यता है वह तो पूर्वोक्त श्रार्थी भावना में ही अन्तभूत हो जाती है। आर्थी भावना सामान्य रूप से सभी आख्यातों का अर्थ है। कृति, प्रवृत्ति तथा श्रार्थी भावना एक ही वस्तु है। इसके अतिरिक्त कृतिसाध्यता के ज्ञान से यदि प्रवृत्ति हो, तब तो वह सभी आख्यातों से होता ही है। फिर सभी आख्यातों से प्रवृत्ति होनी चाहिए। अथवा जैसे अन्य त्राख्यातों से प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही लिङादि से भी शृति नहीं होगी । कहा जाता है कि 'अपचत् (आज के पहले पकाया), पचित (पकाता है), पच्यति (पकायेगा) इत्यादि-स्यादि आख्यातों में भूतादि कालों का सम्बन्ध भी बोधित होता है। इसीलिए वहाँ कृतिसाध्यता का बोध नहीं होता, अतएव उनसे म्युत्ति नहीं होती। किन्तु लिङादि स्थलों में काल का बोध न होने से कृतिसाध्यता का बोध होता है। अतः उससे प्रवृत्ति होती है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि कृतिसाध्यता क्रिया में ही हिंगी। कृतिरूप प्रवृत्ति के पूर्व कृतिसाध्यता भी नहीं रह सकती। अतः जैसे किया और फल प्रवृत्ति के कारण नहीं होते, वैसे हैं। कृतिसाध्यता भी प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यदि कृतिसाध्यता का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण हो, तब तो विषभन्तणादि में भी प्रवृत्ति होगी, क्योंकि कृतिसाध्यता का

ज्ञान वहाँ भी हो सकता है।

इष्ट्रसाधनता लिङादि का अर्थ है, ग्यारहवाँ पन्न भी संगत नहीं है। क्योंकि इष्ट्रसाधनता का ज्ञान तो चन्द्रमण्डलादि के आनयन में भी होता है, फिर तो चन्द्रमण्डल के लाने में भी प्रवृत्ति होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि लिङादि से किसी किया की कर्तव्यता का बोध न होगा, केवल इष्ट्रसाधनता का ही बोध होगा, तब तो सन्ध्यावन्द्रनादि नित्यकर्मों की विधियों से पुरुषों की सन्ध्यावन्द्रनादि नित्यकर्मों की विधियों से पुरुषों की सन्ध्यावन्द्रनादि में प्रवृत्ति न होने से भी पाप न होगा। क्योंकि 'अहरहः सन्ध्यासुपासीत' इत्यादि विधियों का इष्ट्रसाधनता ही अर्थ है, कर्तव्यता नहीं। साथ ही एक दोष यह भी होगा कि व्याकरण के अनुसार लिङादि प्रत्यय हैं, अतः वे अपनी यज् आदि प्रकृति के अर्थ से अन्वित ही अपने अर्थ का बोध करायेंगे। अतः इष्ट्रसाध्यनातारूप प्रत्ययोंके अर्थ का सम्बयन यजि आदि (यागादि किया) में ही रहेगा। इस कारण केवल किया ही इष्ट्रसाधन होगी, द्रव्यों में इष्ट्र साधनता न रहेगी।

यहाँ कहा जाता है कि 'इष्ट्रसाधनता लिर्ङ्थ है, तो आर्थी भावना के अनुसार कर्ता का ही इष्ट लिया जायगा। कर्ता भी वहीं होता है, जो किया में प्रवृत्त होता है। क्रिया आन्तरिक प्रवृत्ति का विषय होती है, यही क्रिया की कर्तन्यता है। इस रीति से कर्तन्यता का बोध हो जाता है। चन्द्रमण्डल के ले आने में कृति साध्यता न होने से कर्तन्यता बोध नहीं होता, इससे वहाँ प्रवृत्ति भी नहीं होती। द्रन्यादि में भी प्रवृत्ति का पूर्वोक्त डपादानता कप सम्बन्ध रहता है, अतः उससे भी इष्ट्रसाधनता का बोध हो ही सकता है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो

ब्रार्थी भावना के बल से इष्टसाधनता का भी बोध अर्थात् ही हो जायगा, तब तो अन्य आख्यातों के समान ही लिङादि का भी इष्ट्रसाधनता अर्थ क्यों किया जाय ? 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' ब्रनन्यलभ्य ही शब्द का अर्थ होता है। जिसका बोध अन्य प्रकार से हो सकता है, वह शब्दार्थ नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक इष्ट के साधन भी अनेक होते हैं। यदि इष्ट्रसाधन से प्रवृत्ति हो, तो कोई विशेष न होने से एक ही पुरुष की सब साधनों में युगपत् प्रवृत्ति हो जायगी। अतः यह कहना पड़ेगा कि जिसमें इच्छा होती है, उसीमें प्रवृत्ति होती है। अतः इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं होता।

कृतिसाध्यता और इष्टसाधनता दोनों ही लिङादि अर्थ है। यह बारहवाँ पद्म भी उपयुक्त दोनों ही पद्म के खण्डन से ही

खिण्डत हो जाता है।

इष्टमाधनत्वकृतिसाध्यत्व एवं बलवदनिष्टाननुबन्धित्व (इष्ट-की अपेदा अधिक अनिष्ट का साधन न होना) यह तीनों ही लिङादि के अर्थ हैं, यह तेरहवाँ पत्त भी ठीक नहीं है। नव्य नैयादिकों के अनुसार आन्तरिक प्रवृत्ति के तीन कारण होते हैं—पहला, इष्ट्रसाधनताज्ञान; जैसे भोजन तृप्ति का साधन है, इस ज्ञान से पुरुष की भोजन में प्रवृत्ति होती है। दूसरा, कृति-साध्यताज्ञान; जैसे में भोजन कर सकता हूँ, इस ज्ञान से भोजन में भवृत्ति होती है। इसी ज्ञान के न रहने से चन्द्रमण्डल के आनयन में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। चन्द्रमण्डल का आनयन इष्ट-साधन होने पर भी उसका लाना अशक्य होने से उसमें कृति-साध्यता का ज्ञान नहीं है; अतः प्रवृत्ति नहीं होती।

तीसरा, बलवदनिष्टाननुबन्धकत्वज्ञान प्रवृत्ति का कारण होता है। जैसे, भोजन करने में मुखादि का व्यापाररूप परिश्रम थोड़ा है, उसकी अपेना तृप्तिसुख अधिक है—इस ज्ञान से भोजन में प्रवृत्ति होती है। इसी ज्ञान के न होने से विष-मिश्रित मधुरान्न-भोजन में प्रवृत्ति नहीं होती। क्यों कि पुरुष सममता है कि 'यद्यपि इस अन्न के भोजन से तत्काल तृप्ति हो जायगी और मैं इस अन्न को खा भी सकता हूँ, तथापि इससे इष्ट की अपेना मरणक्षी बलवान अनिष्ठ होता है।' अतः जैसे लौकिक वाक्यों में लिङादि के ये तीनों ही अर्थ होते हैं, उसी तरह वैदिक वाक्यों में भी लिङादि के ये ही अर्थ होते हैं। शाब्दी-भावना इससे भिन्न और

कुछ नहीं है।

परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि शाब्दी-भावना, प्रवर्तना या प्रेरगा की अपेदा विधि के ये तीन अर्थ मानने में गौरव दोष है। /दूसरा दोष यह होगा कि कृतिसाध्यत्व, इष्टसाधनत्व त्रादि त्रार्थीभावना में अन्तर्भूत हैं, जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है। इसी तरह बलवदनिष्टासाधनत्व का भी अर्थान् लाभ हो सकता है। ऐसी स्थिति में जो अर्थ सभी आख्यातों से निकल सकता है, उसीको लिङादि का विशेष अर्थ मानना व्यर्थ ही है। तीसरा दोष यह है कि 'मैं भोजन करता हूँ' इत्यादि वाक्यों में भी तीनों अर्थों का अर्थतः बोध होता ही है, तथापि उन वाक्यों से किसी-की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः उक्त तीनों ज्ञान प्रवृत्ति के कारण नहीं हो सकते। चौथा दोष यह है कि जब इष्ट के बोधक स्वर्गादि शब्द वैदिक वाक्यों में वर्तमान ही हैं, तब लिङादि शब्द के इष्ट-रूपी अर्थ का वाक्यार्थ में सम्बन्ध ही नहीं होगा। पाँचवाँ दोष यह है कि शाब्दी-भावना जब लिङादि का अर्थ होता है, तब इति-कर्तव्यता आकाङ्चा के पूरक रूप से अर्थवादों की विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता हो जाती है। 'कि भावयेत्' इस साध्या-काङ्चा के पूरणार्थ अंशत्रयवती आर्थीभावना उपस्थित होती

है। साधनाकाङ्चा के पूरणार्थ लिङादि-ज्ञान उपस्थित होता है। इतिकर्त्तव्यताकाङ्चा के पूरणार्थ अर्थवाद उपस्थित होता है। यथा —

'ब्रार्थीभावनां (पुरुषप्रवृत्तिं) भावयेत्, जिङादिशानेन भावयेत्, ऋर्थवादैः प्राशस्त्यमवबोध्य भावयेत्।

अर्थात् पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे। लिङादिज्ञान से पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे। अर्थवाद द्वारा स्तुति करके पुरुषप्रवृत्ति उत्पन्न करे। इसी तरह अर्थवाद धर्म में प्रमाण होता है। परन्तु यदि शाब्दी-भावना को लिङादि का अर्थ न माना जायगा, तो अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता होने का कोई मार्ग ही न रह जायगा। फलतः नैयायिकसम्मत अर्थ करने पर अर्थवाद अप्रमाण ही उहरेंगे।

इसी तरह प्रवर्तनारूप इष्टसाधनता लिङादि का अर्थ है, यह बौदहवाँ पत्त भी संगत नहीं है। यह मण्डनाचार्यसम्मत पत्त है। अका कहना है—

"पुँसां नेष्टाम्युपायत्वात् क्रियास्वन्यप्रवर्तकः । प्रवृत्तिहेतुं धर्मञ्च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥"

अर्थात् प्रवर्तना ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। उसीके ज्ञान में पुरुष की प्रवृत्ति होती है। इष्ट्रसाधनता से भिन्न अन्य कोई श्वर्तक नहीं हो सकता, अतः प्रवृत्तिहेतु इष्ट्रसाधनतारूप प्रवर्तना विल्डादि का अर्थ मान्य होना चाहिए, नैयायिकों के समान स्ट्रिसाधनता नहीं। कृतिसाध्यता तो लोक से ही लभ्य होती है, काः उसे लिङादि का अर्थ मानना ठीक नहीं। बलवदनिष्टाजनकाः उसे लिङादि का अर्थ मानना ठीक नहीं। बलवदनिष्टाजनकाः उसे लिङादि का अर्थ मानना ठीक नहीं। परन्तु इस अवृत्तिबाधक द्वेष के अभाव में ही कारण है। परन्तु इस अवृत्तिबाधक द्वेष के समह का कोई प्रकार नहीं है।

आप्तों का अभिप्राय लिङादि का अर्थ है, यह पंद्रहवाँ पत्त भी ठीक नहीं। यह उदयनाचार्य का मत है—

'विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्यादो लिङादिभिः। श्रभिधेयोऽनुमेयात्तु कर्तु रिष्टाभ्युपायता।।'

—(न्यायकुसुमाञ्जलि)। अर्थात् आप्त (सत्यनिष्ठ) पुरुष की इच्छा ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। 'पाकं कुर्याः', 'पाकं कुर्याम्' (तुम भोजन बनात्रों, में भोजन बनाऊँ) इत्यादि रूप से मध्यम एवं उत्तम पुरुष में लिङादि शब्दों की इच्छाविशेषहपी त्राज्ञा (भयजनक इच्छा) ही अर्थ होता है। इसी तरह अध्ये-षणा (नियोजक की नियोज्य के शति अनुमहरूपा इच्छा), अनुज्ञा (निषेधाभावद्योतिका इच्छा), प्रश्न (उत्तरवाक्य की प्रयोजिका इच्छा), प्रार्थना (प्राप्ति की इच्छा) भी लिङादि का है। इसी तरह 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रथम पुरुष के वाक्यों में भी त्राप्त पुरुष की इच्छा ही लिङादि का अर्थ है। अर्थान् त्राप्त पुरुष की यह इच्छा है कि स्वर्ग की कामनावाला पुरुष यज्ञ करे या स्वर्गकामी को यज्ञ करना चाहिए। इस तरह आप्त का अभिप्राय ही लिङादि का अर्थ है। इसीसे याग में इष्ट-साधनता का अनुमान होता है—"स्वर्गकामस्य मम यागः इष्ट साधनम्" (मुक्त स्वर्ग चाहनेवाले के लिए याग इष्ट्रसाधन है) "कर्तव्यत्वेनाप्तोक्तलिङ्पद्वाच्येच्छाविषयत्वात्" (कत्तंव्यरूप से याग श्राप्तीक वाक्यगत, लिङादिबोध्य इच्छा का विषयक होने से), जैसे मेरे पिता की इच्छा का विषय मेरा भोजन होता है। अर्थात् जो-जो किया आप्त के कहे हुए लिङ।दिशब्दों से बोध्य इच्छा का विषय होती है, वह अवश्य इष्टफल की साधक होती है। जैसे मेरे पिता के कहे हुए 'त्वं खाद' (तुम खाद्या) इत्यादि

बाक्यगत लिङादिबोध्य इच्छा का विषय मेरा भोजन आदि है श्रीर वह तृप्ति आदि का साधक हुआ करता है। यागादि वैदिक क्रियामें भी आप्तपुरुष के कहे हुए 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि बाक्यगत लिङादिबोध्य इच्छा के विषय हैं, अतः ये भी स्वर्गादि-ह्य इष्ट के साधक हैं।

विष-भोजनादि किसीके लिए कृतिसाध्य है तथा ईरवररूप ब्राप्त की इच्छा का विषय भी होता है, तो भी वह इष्ट का साधक नहीं है। क्यों कि 'स्वर्गकामो यजेत' के समान 'विषं भुझीत' इत्यादि लिड़ शब्द ईश्वर ने नहीं कहा है। अतः उसका इष्ट्रसाधक न होना अचित ही है। वैदिक विधिवाक्यों के स्थल में परमेश्वर ही आप्त-पुरुष है। अतः जैसे कुमारी का गर्भ उसके पुरुषसंयोग में दृद्ध-प्रमाण है, वैसे ही वैदिक श्रुतियों के लिङादि शब्द ही उन श्रुतियों के परमेश्वर रचित होने में दृढ-प्रमाण हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्यों कि वेद अपीरुषेय है, अतः पुरुष का अभिप्राय विक लिङादि का अर्थ कथमपि नहीं है।

वस्तुतः वेद चाहे पौरुषेय हो या अपौरुषेय, फिर भी
विदेश विधिवाक्यों से अर्थबोध होता ही है। अतः वैदिश्व
किडादि का ऐसा ही अर्थ करना चाहिए, जो उभयपत्त से
पान्य हो। इस तरह पन्द्रह पत्त उपस्थित करके पूर्वपत्ती
सभी पत्तों का निराकरण किया है। किन्तु सिद्धान्त
किने है कि लोकप्रवृत्ति-हेतुरूप से प्रवर्तना सर्वलोक के
विश्व से सिद्ध है।

ऐसी स्थित में लौकिक कर्मी के राजा आदि प्रेरक न कहला भेरी। यदि ईश्वर को साधारण प्रेरक और राजादि को भाधारण प्रेरक माना जाय, तब तो किर वैदिक कर्मी में भी राजा आदि के समान वेदों को ही प्ररेक मानना चाहिए। जैसे
राजादि की असाधारण प्ररेगा। के बिना ईश्वर की प्ररेगा। लोगों
को लौकिक कार्यों में प्रवृत्त नहीं करती, वैसे ही वेद की
असाधारण प्ररेगा। के बिना ईश्वर-प्ररेगामात्र से वैदिक कर्मों
में पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वेद की वह असाधारण
प्ररेगा। ही उक्त शाब्दी-भावना है। यह बात पौरुषेयत्ववादी को
भी माननी होगी।

यद वेद में ईरवर-प्रेरणा मानी जाय, तब तो वेदविदित कर्मों को सभी करेंगे ही, उनका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। अज्ञानी प्राणी स्वयं सुख-दुःख में परतंत्र है, वह तो ईरवर की प्रेरणा से ही कभी स्वर्ग, तो कभी नरक जाता है।

> "श्रशो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्ग वाश्वभ्रमेव वा॥"

ऐसी स्थित में निषद्ध कर्म भी विहित ही सममे जाया। अतः जैसे राजा आदि प्रवतनज्ञान कराकर, इच्छा उत्पन्नकर कर्मों में प्रवृत्त कराता है, वैसे ही वेद भी कराता है। अतः लोकवेद दोनों में प्रवृत्ति कराने की व्यवस्था एक ही है। वेद पूर्वमीमांसकों के मत में अत्यन्त स्वतंत्र हैं, पर उत्तर भीमांसक वेदान्तियों के मत से वे ईश्वर द्वारा प्रतिकल्प में आविभूत होते हैं, तो भी परब्रह्म के श्वास-तुल्य स्वाभाविक हैं। अतः अपीरुषेयता दोनों ही मतों में मान्य है। जैसे जीव, ईश्वर आदि ब्रह्म के अनेक विवत्ते अनादि माने गये हैं, वैसे वेद भी अनादि ही हैं।

निवृत्ति का कारण और निवृत्तिवाले में रहनेवाली निवारण-रूपी शाब्दी-भावना है। उसीको 'निवर्तना' भी कहते हैं। जैसे प्रवर्तना का मानस प्रत्यंच भी होता है, वैसे ही भी इस पुरुष को इस काम से निवृत्त करता हूँ, यह निवारणा भी मानस प्रत्यंच से ज्ञात होता है। लौकिकी प्रवर्तना से विल्वण वैदिकी प्रवर्तना के समान ही निवर्त्तना भी लौकिकी, वैदिकी दो प्रकार की है। प्रवर्तना के समान निवर्तना भी यद्यपि चेतन का ही धर्म है, तथापि वेद का कर्त्ता कोई पुरुष नहीं है। इसीलिए वैदिक लिङादि की निवर्तना भी विल्वण है। यही निवर्तना 'निषेध' आदि शब्दों से व्यवहृत होती है। यहाँ निवृत्ति भाव्य है, शक्तिज्ञान या शक्तिविशिष्ट ज्ञान करण है।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि का यह अर्थ है कि गुरुमुख से अधीत वेदात्तरों को यथाशक्ति पुरुष का उपकार करना
चाहिए। इसी अर्थ के अनुसार अध्ययनिविधि अपने और अपने से
अन्य वैदिक वाक्यों को अत्तरशः पुरुष के उपकार में लगाती है।
एक अत्तर को भी व्यर्थ नहीं होने देती। अतएव वैदिक वाक्यों के
सभी लिङादि शब्दों को यही अध्ययनिविधि 'ये पुरुषों की प्रवृत्ति
करायें' इस रीति से प्रवृत्ति कराने में नियुक्त करती है। इसी दृष्टि
से वैदिक लिङादि शब्द ही यज्ञादि कर्मों में पुरुषों को प्रवृत्त
कराते हैं। अतः वे प्रयोजक कर्ता हैं और पुरुष प्रयोज्य कर्ता हैं।
इस तरह पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थों-भावना के अनुकूल शाब्दीभावना लिङ।दि शब्दों से ही सम्पन्न होती है।

शाब्दी-भावना क्या है ? इस विषय पर पूर्वभीमांसकों के बहुत शास्त्रार्थ हैं। संत्रेप में यों समक्त सकते हैं कि एक पुरुष की आन्तरिक प्रवृत्ति का कारण अन्य पुरुष का आन्तरिक व्यापार असिद्ध है। उसे ही प्रवर्त्तना या प्ररेणा कहा जाता है। 'मैं राजा से प्रेरित हूँ, बालक या ब्राह्मण से प्रेरित हूँ, इत्यादि बक्तियाँ बसी

प्रवर्तना को लेकर होती हैं। प्रवर्तक राजा आदि में यह प्रवर्तना रहती है। बड़ों की छोटों के प्रति प्रवर्तना को आजा प्रेषणा' आदि भी कहा जाता है। बड़ों के प्रति छोटों की प्रव-र्तना को 'याक्रा' और 'अध्येषणा' कहते हैं। तुल्य की प्रवर्तना को 'अनुज्ञां और 'अनुमिति' कहा जाता है। आज्ञादिहर प्रवर्तनाएँ चाहे ज्ञानरूप हों, चाहे इच्छारूप, परन्तु चेतन का ही धर्म है, अचेतन का नहीं। वेद में भी विधिवाक्यों से प्रवृत्त होकर 'मैं यज्ञ करता हूँ' इत्यादि व्यवहार प्रसिद्ध ही है। परन्तु वेद स्वयं अचेतन है, इससे उसमें आज्ञारूप प्रवर्तना नहीं बन सकती। वेद का कोई कर्ता नहीं, अतएव कर्ता के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से भी त्राज्ञादि नहीं बन सकते । फिर भी 'मैं वेदविधि की प्ररेगा से यज्ञ करता हूँ' इत्याकारक व्यवहार होने से वैदिक लिङादि शब्दों में उक्त आजादि से भिन्न प्रवर्तनारूप धर्म सिद्ध होता है। वही 'चोदना, प्रवर्तना, प्ररेगा, विधि, उपदेश शब्द-भावना' ऋादि शब्दों से कहा जाता है। पूर्वोक्त व्यवहार और शब्द-भावना में रहनेवाला प्रवर्तनात्व धर्म, जो कि आजादिरूप प्रवर्तनाओं में भी रहता है, दोनों ही प्रत्यद्व है। यह शाब्दी-भावना ज्ञान-इच्छादिरूप चेतन-धर्मों से भिन्न है। वह अलौकिक किया है। प्रवर्तना प्रवर्तक पुरुष में ही रहती है, यह लोकप्रसिद्ध है। अन्यथा 'अमुक ही मुक्ते प्रवृत्त करा रहा है, ऐसी व्यवस्था ही न बन सकेगी।

कहा जाता है कि 'प्रवर्त्तना का ज्ञान करानेवाला ही प्रवर्तक होता है। प्रवर्तना उसमें रहे, यह आवश्यक नहीं किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसी स्थिति में तो 'देवदत्त तुम्हें प्रवृत्त कराता है' यह कहनेवाला यज्ञदत्त भी प्रवर्त्तक समक्षा जायगा, कारण प्रवर्त्तना का ज्ञान करानेवाला वही है। इसीलिए न्यायसुधाकार ने प्रवर्तक पुरुष में रहनेवाले प्रवृत्तिकारण को ही प्रवर्तना कहा है—"प्रवृत्तिहेतुः प्रवर्तयितुर्धर्मः प्रवर्तना ।" "में इसे प्रवृत्त करा हा हूँ" इस तरह प्रवर्त्तियता का मानस-प्रत्यच्च ही इसमें प्रमाण है।

लिङादि शब्दों की शाब्दी-भावना का निश्चय इस क्रम से होता है कि बालक के रोदन से माता 'बालक भूखा है, मुक्ते दूध पिलाने के लिए प्रवृत्त करता है' यह जानकर प्रवृत्त होती है। तब बालक भी जानता है कि इसकी प्रवृत्ति का कारण मेरी प्रवर्तना ही है। इसी तरह प्रयोजक वृद्ध के "गामानय" (गौ लात्र्यो) इस वाक्य से प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति देख, माता की प्रवृत्ति के दृष्टान्त से, बालक जानता है कि इस प्रवृत्ति का भी कारण प्रवर्तना का ज्ञान ही है। फिर वह विचार करता है कि प्रयोज्य पुरुष को प्रयोजक पुरुष ही प्रवर्तना का ज्ञान कैसे हुआ ? जब उसे 'आनय' लाश्रो) इत्यादि लिङादि शब्द के अतिरिक्त श्रोर किसी कारण का पता नहीं लगता, तो उसे ही प्रवर्तनाज्ञान का कारण समम लेता है। इसी प्रवर्तना में लिङादि शब्दों का शक्तिपह है। भवर्तनारूप होने से आज्ञादि भी लिङ।दि के ही अर्थ हैं। वैदिक लिङादिकों में अचेतन होने के कारण आज्ञादि प्रवर्तनाओं का होना सम्भव नहीं है। इसीसे उनसे विलच्चण एक नये प्रकार की श्वर्तना वेद में मानी जाती है, जिसे 'विधि-प्ररेगा' या 'नियोग' कहा जाता है। विशेषरूप से ज्ञात घटादि अर्थ में ही घटादि शब्दों की शक्ति का ज्ञान होता है। अतएव यद्यपि इस अलौकिक नियोग में लिङ् का शक्तिप्रह सम्भव नहीं, तो भी प्रवर्तना भामान्य वस्तु में ही लिङादि की शक्ति का ज्ञान होता है। भवतंना सामान्य में अन्तभूत होने के कारण वैदिक लिङादि शब्दों का अमुख्य (लद्य) अर्थ नियोग भी होता है। अतएव

अलौकिक वैदिक प्ररेगा में विशेष रूप से लिङादि शब्दों की शक्ति का निश्चय न होने पर भी वैदिक लिङादि शब्दों से प्ररेगा का बोध होता है।

यद्यपि राजा आदि के समान लिङादि शब्द साद्यान् फल-दाता नहीं है, तथापि इष्टफलसाधनता के विना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः इष्टफलसाधक होने से लिङादि शब्दों से यज्ञादि में प्रवृत्ति होती है। अतएव वैदिक लिङादि शब्द प्रवर्तक होते हैं, क्योंकि प्रवर्तक पुरुष की प्रवर्तनारूपी भावना का प्रवर्त्य पुरुष की प्रवृत्तिरूप आथीं-भावना होती है। यह देखा जाता है कि 'गामानय' (गों लात्रों) इस त्राज्ञा के अनन्तर प्रयोख्य पुरुष ने गों को दूँढ़ा, परन्तु गों के न मिलने से गवानयन न होने पर भी आज्ञा देनेवाला यही मानता है कि इसने सेरी आझा मानी। 'मेरे सामने से हटो' ऐसी आजा से, स्वयं अयत्नशील न होने पर एवं किसी दुसरे द्वारा हटाये जाने पर भी, प्रयोजक यह समभता है कि इसने मेरी आज्ञा नहीं मानी। यह प्रवर्तना चेतन की ही होती है। इसीलिए प्रवृत्तिरूपी अर्थभावना ही प्रवर्तना का विषय होती है। प्रवृत्ति आन्तरिक प्रयत्नरूप है, वह इच्छा के बिना नहीं होती। परन्तु यागादिरूप श्रमसाध्य उपायों के बिना स्वर्गादि पुरुषार्थप्राप्ति असम्भव होती है। अतएव यदि यागादि पुरुषार्थ साधक न ही, तो उनमें किसीकी भी इच्छा नहीं हा सकती। एवं बिना प्रकृति के लिङादि शब्द प्रवर्तक नहीं होते। ये सब बातें लोक ही सिद्ध हैं। त्रातः वैदिक वाक्य लिङादि द्वारा ही यागादि पुरुषार्थं के साधक हैं, यह करूपना होती है।

कहा जा सकता है कि 'यागादि पुरुषार्थ के साधक हैं' इस ज्ञान से ही इच्छा और उससे प्रवृत्ति बन जायगी। फिर लिडादि म्यों प्रवर्तक माने जायें ? परन्तु यह तो तब सम्भव था, जब ब्रोहिक प्रत्यच्च से ही यागादि को स्वर्गादि के प्रति साधनता सिद्ध होती। तब तो भोजनादि के सामान यागादि में इच्छा श्रौर ख़ित हो सकती। जब यहाँ लिङ।दि शब्दों को प्रवर्तक बनाने के लिए ही यागादि को स्वर्गादिसाधक होने की करूपना की जा रही है, तब तो लिङ।दि के बिना यह कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता। ब्रतएव वैदिक शब्दों में रहनेवाली प्रवर्तना प्रत्यच्च से बोध्य नहीं है। इसीसे वैदिक लिङ।दि शब्दों से ही उसकी करूपना की जाती है। श्रतः वही शाब्दी-भावना है। यह सोमेश्वर म्ह का मत है।

शास्त्रदीपिकाकार का कहना है कि 'साध्य, साधन, इतिकर्तगता इन तीनों अशों से युक्त आर्थी-भावना का ज्ञान कराना ही
गैरिक लिङादि शब्दों का व्यापार है। यही व्यापार प्रवृत्ति का
करण है। अतएव प्रवर्त्त नारूप भी है। इस दृष्टि से अभिधा
है भावना है— "अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।" सारांश
गह है कि अभिधा उस शक्ति का नाम है, जिससे अर्थ का बोध
होता है। वह शक्ति और लिङादि शब्द दोनों ही लोकप्रसिद्ध
है। अतः वह शक्ति प्रवृत्तिरूपा आर्थी-भावना का बोध कराकर
प्रभा की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। इसी से वह प्रवर्त्त ना
किलाती है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। इस पत्त में
किलाती है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। इस पत्त में
किलाती है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। इस पत्त में
किलाती है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। इस पत्त में
किलाती है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। इस पत्त में
किलाती है। लिङादि शब्द का अर्थ भी वही है। इस पत्त में
कि प्रवृत्ति को उत्पन्त का कोध तो
कि से अन्य लहादि, पचित, गच्छित (पकाता है, जाता है)
भादि आख्यातों से होता है, परन्तु उनसे प्रवृत्ति नहीं होती।
भादि आख्यातों की अपेद्या लिङादि का कोई विशेष अर्थ
भी, जिससे प्रवृत्ति सिद्ध होती हो—अन्य से नहीं, तब तो उसी
हो, जिससे प्रवृत्ति सिद्ध होती हो—अन्य से नहीं, तब तो उसी

विशेष अर्थ को प्रवर्तना और लिङादि का अर्थ मानना चाहिए।
फिर तो अभिधा को प्रवर्तना या लिङ का अर्थ मानना व्यर्थ है।
यदि कहा जाय कि 'अन्य आख्यातों से कही गयी अभिधा से
प्रवृत्ति नहीं होती, लिङादि से कहीं जाकर वह प्रवृत्ति कराती है।
इस तरह की विशेषता अभिधा में रहती है।'तो वह भी उचित नहीं,
क्योंकि वैसी स्थिति में उस विशेष से ही काम चल जायगा,
अभिधा को लिङ का अर्थ मानना व्यर्थ होगा।

फिर प्रश्न होगा कि 'अभिधा लिङादि द्वारा प्रवृत्ति का कारण है यह बतलाने के पहले भी उनमें प्रवृत्ति कराने की शक्ति है या नहीं ? यदि है, तो बतलाने का प्रयोजन ही क्या ? यदि नहीं, तो बतलाने के अनन्तर भी वह असम्भव ही है। जैसे राजा और आचार्य अभिधाज्ञान कराये बिना ही प्रवर्तक होते हैं, वैसे ही वैदिक लिङादि भी अभिधा का ज्ञान कराये बिना ही प्रवर्तक होंगे। फिर अभिधा को लिङादि का अर्थ मानना ठयर्थ ही है।' परन्तु इन दोषों का निराकरण इस तरह हो जाता है कि वैदिक लिङादि शब्द प्रवृत्ति के कारण हैं। अभिधा तो उनका व्यापारमात्र है। यह वात प्रथम पत्त-पोषक को भी माननी होगी कि अगिनहोत्रादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति देखकर वैदिक लिङादि में एक अली-किक व्यापार मानना चाहिए और वही लिङादि शब्दों का अर्थ त्रीर प्रवर्तनारूप है। प्रवृत्ति की कारणभूत इच्छा श्रीर इसके भी मूल इष्टसाधकता का अनुमान भी इसी प्रवतना से होता है। ये ही सब बात इस पत्त में भी हैं। भेद इतना ही है कि वहाँ अलौकिक व्यापार की कल्पना होती है, पर यहाँ वह गौरव नहीं है; क्योंकि प्रवृत्ति के कारगीभूत व्यापार को ही प्रवर्तना कहा जाता है। प्रवृत्तिरूप आर्थीभावना सभी आख्यातों का अर्थ है। लिङादि भी उन्हींमें हैं। प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना का ज्ञान लिङादि शब्द

ति हैं, इसीसे वे उसके वाचक हैं। लिङादि शब्दों के द्वारा वित्त को बिना जाने पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। इसीसे प्रवृत्ति के वादा लिङादि शब्द प्रवृत्ति के कारण होते हैं। 'लिङादि शब्द वृत्ति के वाचक हैं' यह श्रोतात्रों का ज्ञान ही लिङादि शब्दों का ह ज्यापार है, जो प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना के ज्ञान का जनक है। सीसे इसको प्रवर्तना भी कहते हैं। क्योंकि शब्द ज्ञान के द्वारा विप्रवृत्ति का कारण होता है, इसी से ज्ञान का जनक ज्यापार ही शब्द का ज्यापार हो सकता है।

श्रार्थीभावनारूप प्रवृत्ति के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला लिङादि गड्दों का व्यापार तीन प्रकार का होता है—'एक लिङादि गड्दों का श्रवण; दूसरा प्रवृत्ति का ज्ञान कराने की शक्ति का ज्ञान श्रोर तीसरा 'प्रवृत्ति' बोध कराने की शक्ति लिङादि राड्दों में है—इसका ज्ञान। प्रथम दो में से किसीको भावना कहा जा सकता है। तीसरा ज्ञान इस शाब्दी-भावना का कारण है। लिङादि गड्दों के श्रवण द्वारा उन्होंसे उक्त शक्ति का ज्ञान होता है श्रोर यही ज्ञान उनका अर्थ है। अतः उसी ज्ञान को प्रवर्तनारूप से भी बोध कराते हैं। जैसे श्रार्थी-भावना के साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता में नीन श्रंश होते हैं, वैसे ही शाब्दी-भावना में भी तीन श्रंश होते हैं। इस भावना का प्रवृत्तिरूपा श्रार्थी-भावना ही भाव्य है, प्रवृत्ति गिक लिङादि का ज्ञान साधन श्रोर श्रथवादों से बोधित स्तृति गिकर्तव्यता है।

किसीका यह भी मत है कि तृतीय ज्ञान ही शाब्दी-भावना और द्वितीय ज्ञान उसका कारण है। यहाँ कहा जा सकता है 'पिघला मत अर्थात् प्रथम दो में से एक ज्ञान शाब्दी-भावना तीसरा ज्ञान उसका कारण है, यह ठीक नहीं; क्योंकि बाणादि- ह्रिप करण मरण आदिह्रप क्रिया के अव्यवहित पूर्वकाल में रहते हैं। किन्तु यहाँ तो हृतीय पन्न उक्त दो ज्ञानों के पश्चान होता है। फिर वह पूर्व में होनेवाली शाब्दी-भावना का करण कैंवे हो सकता है ?' समाधान यह है कि जैसे "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्योंमें याग प्रवृत्तिह्रपा आर्थी-भावना का करण होता है, वैसे ही हृतीय ज्ञान भी पूर्वज्ञानरूपा शाब्दी-भावना का करण होता है, वैसे ही हृतीय ज्ञान भी पूर्वज्ञानरूपा शाब्दी-भावना का करण होता है।

परन्तु यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'यागादि किया आर्थी-भावना का करण है, यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि अर्थी-भावना आन्तरिक प्रवृत्तिको ही कहा जाता है। वहीं सब क्रियाओं का कारण होती है। इसीसे वह सब क्रियात्रों के पूर्व में ही रहती है। ऐसी स्थिति में जब यागादि क्रिया आर्थी-भावना के पूर्व में नहीं रहती, तो फिर वह उसका कारण कैसे हो सकती है ? फिर इस दृष्टान्त के बल पर यह कैसे कहा जा सकता है कि तृतीय ज्ञान शाब्दी-भावना का कारण है। प्रत्युत यही कहना ठीक है कि 'तृतीय ज्ञान शाब्दी-भावना है, द्वितीय ज्ञान उसका करण है।" विचार करने पर उक्त कथन भी संगत नहीं जान पड़ता यद्यपि प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना याग के पूर्व में रहती है, परनु स्वर्ग अविरूप पुरुषार्थ, जो कि आर्थी-भावना का भाव्य (फल) है, वह याग से उत्तर काल ही में होता है। याग स्वर्ग आदि का करण भी है, अतएव यद्यपि यागादि केवल आर्थी-भावना का करण नहीं है, तथापि फल का करण होने से याग स्वर्ग आहि फलयुक्त भावना का करण है। आर्थी-भावना के सम्बन्ध में सभी भीमांसकों का यही मत है। शाब्दी-भावना भी भावना ही

ब्रतः इसमें भी वैसा मानना अनुचित नहीं। यद्यपि तृतीय कि उक्त दो अन्य ज्ञानरूप शाब्दी-भावना के पूर्व में नहीं रहता, व्याप उस शाब्दी-भावना के भाव्य आन्तरिक प्रवृत्तिरूप वर्षी-भावना के पूर्वकाल में अवश्य रहता है और उसका कारण है। अतः प्रवृत्तिरूप फल से युक्त पूर्वज्ञानरूप शाब्दी-भावना ज्ञा तृतीय ज्ञान ही कारण हो सकता है। आर्थी-भावना याग-क्या का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कोई व्यापार हीं है। याग का तो अपूर्वरूप व्यापार है। अतः वह करण हो सकता है।

यहाँ यह भी आहोप किया जाता है कि 'पदों से जो अर्थ उपस्थित होते हैं, उन्हीं के अन्योन्य सम्बन्ध का बोध पदसमूहरूप
गक्यों से होता है। इस रीति से शाब्दी-भावना के साथ प्रवृत्तिरूप आर्थी-भावना के सम्बन्ध का बोध बैदिक विधिवाक्यों से
हो सकता है, क्योंकि आर्थी-भावना आख्यातरूप लिङादि
शब्दों से उपस्थित होती है। परन्तु तृतीय ज्ञानरूपी करण के
सम्बन्ध का बोध वैदिक विधिवाक्यों से नहीं हो सकता,
न्योंकि वह किसी पद से उपस्थित नहीं है।

'इसी प्रकार जिस मत में तृतीय ज्ञान ही शाब्दी-भावना है, अस मत से वह यद्यपि शब्द से उपस्थित है, तथापि द्वितीय ज्ञानप्रमुख्य सम्बन्धज्ञान, जो कि करण है, किसी शब्द से उपस्थित नहीं होता। अतः तृतीय ज्ञानरूप शाब्दी-भावना से उसके सम्बन्ध की ज्ञान विधिवाक्य से नहीं हो सकेगा।'

इसका भी समाधान यह है कि लिङादि प्रत्ययहूप शब्द तो अविगिन्द्रिय से उपस्थित होता है। आर्थी-भावना का बोध कराने शिक्त भी समरण से उपस्थित है। इस रीति से उन दोनों का

परस्पर सम्बन्ध और उस सम्बन्ध का ज्ञानरूप तृतीय ज्ञान भी श्रोताओं के अन्तःकरण में उपस्थित है। इस रीति से तृतीय ज्ञान का कोई अंश ऐसा नहीं है, जो उपस्थित न हो। अतः सर्वांशपूर्ण तृतीय ज्ञान उपस्थित ही है। इसीसे पूर्वज्ञानरूप शाब्द-भावना के साथ उसका सम्बन्ध-बोध वैदिक लिङादि शब्दों से सहज ही हो जाता है। लिङादि शब्दों का अवण्रूप पहला ज्ञान है। प्रवृत्ति का बोध कराने की शक्ति का ज्ञान दुसरा ज्ञान है। प्रवृत्ति का बोध कराने की शक्ति लिङादि शब्दों में है—यह ज्ञान तीसरा ज्ञान है।

जिस मत में द्वितीय ज्ञान शाब्दी-भावना का करण है, उसमें भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि द्वितीय ज्ञान भी श्रोतात्रों के श्रंता करण में उपस्थित रहता है। अतः उसका सम्बन्ध-बोध भी लिङादि शब्दों से हो ही सकता है। अर्थात् विधि शब्द श्रवण से उपस्थित है। उसमें पुरुषप्रवृत्ति-वाचकता की शक्ति स्मरण से उपस्थित है। उन दोनों का वैशिष्ट्य एवं उसकी ज्ञातता मन में उपस्थित है। इस तरह वाचकता-शक्तियुक्तरूप से ज्ञान विधिश्वद से उपस्थित है।

फिर भी यहाँ कहा जाता है कि 'जो अर्थ पदों से उपस्थित होता है, वाक्य से उसीके सम्बन्ध का बोध होता है। अतएव श्रोता के अन्तःकरण में अरव के उपस्थित होने पर भी "गामानय" (गाय लाओ) इस वाक्य से "स्वर्व लाओ" का बोध नहीं होता। इसीलिए कि अश्व भले ही अन्तःकरण में उपस्थित हो, परन्तु वह शब्द से उपस्थित नहीं है। अतः उक्त नृतीय या द्वितीय ज्ञान यदि शब्द से उपस्थित नहीं है, तो बन्तःकरण में उपस्थित होने पर भी उनका सम्बन्ध वाक्यार्थं

पर उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह पहले कहा जा कुला है कि प्रत्येक विधिशान्दों के विषय में "स्वाध्यायोऽध्येन्तराः" इस सर्वव्यापी वैदिक विधिवाक्य का यही तात्पर्य है कि इस शन्द से जो हो सकता है, सो करे। इसके अनुसार शब्द के अतिरिक्त करण द्वारा भी जो अर्थ उपस्थित होता है, वह भी शान्दवोध में भासित होता है। अतएव "उद्भिद्ध यजेत पशुकामः" इस वाक्य से अवणेन्द्रिय द्वारा उपस्थित उद्भिद्ध शब्द के सम्बन्ध का भी वोध होता है। अतः उद्भिद् अधिकरण में यह कहा गया है कि "अनुपस्थितविशेषणविशिष्ट बुद्धने भवति, न त्वनभिहितविशेषणेति।" अर्थात् यदि विशेषण उपस्थित ही न हो, तब तो विशिष्ट बुद्धि नहीं होती, परन्तु यदि शब्द द्वारा विशेषण उपस्थित न हो, तो विशिष्ट बुद्धि नहीं होती, परन्तु यदि शब्द द्वारा विशेषण उपस्थित न हो, तो विशिष्ट बुद्धि न होने का नियम नहीं है। अर्थात् यह नियम नहीं कि शब्द द्वारा ही उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का वैदिक शब्दों से वोध होता है। किन्तु अन्य प्रकार से उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का मी उनसे बोध होता है।

वस्तुतः लिङादि शब्दों की आज्ञादि पृथक-पृथक अर्थों में शिक्त मानने से गौरव होगा। अतः सामान्य रूप से प्ररेणा ही लिङादि शब्दों का अर्थ है। उसीमें आज्ञा आदि सभी विशेष कार अन्तर्गत हो जाते हैं। प्ररेणा भी एक प्रकार का व्यापार ही है, जो कि चेतन, अचेतन सभीमें सम्भव है। इस दृष्टि से शाब्दी-भावना भी वैदिक लिङादि का अर्थ है, क्योंकि वह भी शब्दी-भावना भी वैदिक लिङादि का आर्थ है, क्योंकि वह भी शब्दी-भावना भी वैदिक लिङादि का आर्थ है, क्योंकि वह भी शब्दी-भावना भी वैदिक लिङादि का आर्थ है, क्योंकि वह भी शब्दी-भावना भी वैदिक लिङादि का आदि पुरुषों के प्रवतंक होते हैं। जैसे हो वेद में लिङादि शब्द ही यज्ञादि में पुरुषों के होते हैं, वैसे ही वेद में लिङादि शब्द ही यज्ञादि में पुरुषों के प्रवतंक होते हैं। नैयायिक आदि लिङादि शब्दों को ही देखकर

आज्ञा देनेवाले ईश्वर से वेदों का निर्माण मानते हैं। परन्तु इस पन्न में अपीरुषेयता-सिद्धान्त का हनन हो जाता है। फिर तो बुद्धवाक्य भी ईश्वरोक्त होने से प्रामाण्य हो जायगा, कई लोग

बुद्ध को भी ईश्वरावतार मानते ही हैं।

यदि कहा जाय कि 'महापुरुषों से अस्वीकृत होने से उसका अप्रामाण्य हैं, तो वह भी ठीक नहीं । क्योंकि कौन महापुरुष है स्रोर कौन नहीं, इसका निर्णय ही कठिन हो जायगा। फिर यदि वैदिक कर्मों में ईश्वर को प्रेरक माना जायगा, वैसे ही लौकिक कर्मों में भी उसे प्रेरक मानना पड़ेगा। फिर लौकिक कर्मों में साधारण प्रोरक ईरवर के होते हुए भी राजादि असाधारण प्रोरक होते हैं। तब तो वैदिक कर्मों में भी साधारण प्रेरक ईश्वर के रहने पर भी राजादितुलय वेद को ही असाधारण प्रोरक मान लेना होगा। वेदपौरुषेयत्ववादी को यह मान लेना पड़ेगा कि राजादि की असाधारण प्ररेणा बिना ईश्वर की प्ररेगा लौकिक कार्यों में पुरुष को प्रवृत्त नहीं कराती, वैसे ही वेद की असाधारण प्रेरणा के बिना यज्ञादिरूप वैदिक कार्यों में भी ईश्वरप्रेरणा किसीकी प्रवृत्ति नहीं करा सकती। वेद की असाधारण प्ररेगा पूर्वोक्त शब्द-भावना ही है। ऐसी स्थिति में शाब्दी-भावना वेद माननेवालों के लिए गले पतित है। साथ ही यदि ईश्वरप्रेरणा मानी जाय, तो वैदिक कर्मी के सभी अधिकारी होंगे ही, कोई भी कदापि उनका उल्लंघन न कर सकेगा। जैसे, सन्ध्यादि वेदविहित कार्यों में ईश्वर की प्ररेगा से प्रवृत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्महत्यारूप निषिद्ध कमों में ईश्वरप्रेरणा से निवृत्ति होगी। अथवा तो किसीकी भी उक्त कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार फिर निषिद्ध कमें भी ईश्वरप्र रित होने से विहित ही समका जायगा। इस पीछे कह ही आये हैं-

"श्रहो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा॥"

अर्थात् अज्ञानी प्राणी अपने सुख, दुःख में पराधीन होता है, तरक को प्राप्त होता रहता है। अतः यही सिद्धान्त ठीक है कि राजा आदि के तुल्य अपनी प्रवर्तना का बोध कराता हुआ वेद भी पुरुषों में इच्छा उत्पन्न कर कमों में उनकी प्रवृत्ति कराता है। लोक, वेद दोनों में प्रवृत्ति कराने की व्यवस्था एक ही है। इस तरह इस पच्च में किसी अलौकिक अर्थ की कल्पना नहीं करनी पड़ती।

पूर्वोत्तर मीमांसा, दोनों के अनुसार वेद अपौरुषेय एवं ब्रनादि हैं। उत्तर मीमांसा में वेद ब्रह्म विवर्त है। दोनों मतों में प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार ही प्रवर्तना है। यदि प्रवर्तनात्व ही लिङादि पदों का शक्य है, तो प्रवर्तनात्व के आश्रयभूत प्रवर्तना-विशेषों की उपस्थिति उसी तरह होगी, जैसे गोत्व के गोपद्-शक्य होने पर भी गोव्यक्तियों की उपस्थिति होती है। यही विधिरूप शब्द-भावना निवृत्ति का कारण (निवृत्ति करनेवाले में रहनेवाली निवर्तना) निवारग्ररूप शाब्दी-भावना होती है। जैसे "मैं इसे पृक्त करता हूँ" इस तरह प्रवर्तक पुरुष के मानस प्रत्यन्त के श्रनुसार प्रवर्तनारूपी शाब्दी-भावना सिद्ध है, उसी तरह "मैं रेस पुरुष को इस कर्म से निवृत्त कराता हूँ" इस मानस प्रत्यत्त में निवर्तक पुरुष की निवर्तनारूपी शाब्दी भावना भी सिद्ध है। जैसे वितंक पुरुष की अपेद्धा प्रवर्त्य पुरुष के हीन, समान और उत्तम-सि भाँति तीन भेद होते हैं, वैसे ही निवर्तक की अपेदा निवर्द्य भी तीन भेद होते हैं। जैसे लोक में प्रवर्तनाएँ प्रवर्तक की इच्छा-विशेष हैं, अतएव चेतन के ही धर्म हैं, उसी तरह निवर्तनाएँ भी

चेतनधर्म ही है। वेद में निर्माता पुरुष न होने से लिङ।दि शब्दों में रहनेवाली चतुर्थी प्रवर्तना होती है। वैसे ही "न हिंसात्" इत्यादि निषेधों में रहनेवाली निवर्तना भी चौथे प्रकार की होती है। "न हिंस्यात्" के "यात्" इस लिङंश में ही निवर्तनाह्मप शाब्दी-भावना रहती है और उसीका अर्थ भी है। मारने से पुरुषों की निवृत्ति ही उस निवर्तना का भाव है। यदि "यात्" शब्द की शक्ति का ज्ञान ही निवर्तना है, तो शक्ति के सहित "यात्" शब्द का ज्ञान ही निवर्तना है, तो उस शक्ति का ज्ञान

ही निवतना है।

वहा जाता है कि 'निवृत्ति तो किया के विरुद्ध होती है। जैसे प्रवृत्ति से किया होती है, उसी तरह प्रवृत्ति के विरुद्ध निवृत्ति रूप यत्न से किया का अभाव होता है। ऐसी अवस्था में "यात्" आदि आख्यातों का निवृत्ति अर्था नहीं हो सकता। क्यों कि वह धात्वर्था "हिंसा" आदि के प्रतिकृत ही है। आख्यात का अर्था वही होता है, जो धात्वर्थ के अनुकृत हो। इस रीति से जब आख्यात से निवृत्ति उपस्थित नहीं होती, तब वह कैसे निवर्तना का भाव्य हो सकती है ? निवृत्ति का बोध करानेवाली शक्ति यदि आख्यात में नहीं है, तो उसके सहित किस शब्द का आनि निवर्तना का कारण होगा ? इसके अतिरिक्त प्रवर्तना विधित्प है, इससे वह लिङादि शब्द का अर्था है—"विधिनमन्त्रणामन्त्रणामीष्टमम्प्रविष्ठा लिङ्"—इस पाणिनीय सूत्र से विधि मन्त्रणामीष्टमम्प्रवर्गार्थनेषु लिङ्"—इस पाणिनीय सूत्र से विधि मन्त्रणामिङ का विधान है, परन्तु निवतना में उसका विधान अप्राप्त है। अतः निवर्तनाकृती शाब्दी भावना कैसे संभव होगी ?

परन्तु इसका समाधान यह है कि अनादि लोक-ज्यवहार के अनुसार निवर्तना भी लिङादि शब्दों का अर्थ है। "न क्ये ति" (कूप में न पड़ें) इत्यादि वृद्धवाक्यों से प्रयोज्य पुरुषों कूपपतन से निवृत्ति चौर प्रवर्तक वाक्य से "मैं कूपपतन से कृष्त होता हूँ" इत्यादि व्यवहार से यह समभा जाता है के प्रयोजक वृद्ध का निवर्तनारूप व्यापार नव्ययुक्त लिङादि का क्य है। इस रीति से निवृत्तिरूप भाव्य भी लिङादि शब्द मिन्न चिभावना के समान ही निषेधभावना के भी क्री श्रंश प्रामाणिक हैं।

अन्य लोग उपर्युक्त शंका का समाधान इस प्रकार करते हैं के निवर्तना नव्य का ही अर्थ है, किन्तु जहाँ नव्य के समीप लिङादि विधिशब्द रहते हैं—जैसे 'न हन्यात्, न पिबेत्'—वहीं नेष्टित होती है। जहाँ लिङ्गादि शब्द नहीं रहते, वहाँ 'न" शब्द रे पुरुषों की निवृत्ति नहीं होती। जैसे—''न पिबति" इत्यादि लट् समीप होने से भी निवर्तना अर्थ नहीं होता। निवर्तना को लिङादि का अर्थ साननेवालों के समान ही भाव्य, करण आदि को उपपत्ति इस पन्न में भी हो जायगी। प्रथम पन्न में लिङ्, लोट, तव्य, अनीयर आदि शब्दों का निवर्तना अथ मानना एता है। दूसरे में 'अ, मा, नो, न'—चार ही का अर्थ निवर्तना मानना होता है, अतः लाघव है।

अब अर्थवादों का किस प्रकार शाब्दी भावना की इति-जिंग्यता कोटि में समावेश होता है—यह समम्म लेना चाहिए। इस तरह अध्ययनविधि से शाब्दी-भावना की कार्यता का ज्ञान ता है। "स्वाध्यायोऽध्येतन्यः" के अनुसार वेद लिङादि शब्दों की किसे पुरुषों की प्रवृत्ति को तभी उत्पन्न कर सकते हैं, जब कि से पुरुषों की प्रवृत्ति को तभी उत्पन्न कर सकते हैं, जब कि विषय यागादि के गुणों का ज्ञान कराया जाय। अतः विषय यागादि के गुणों का ज्ञान कराया जाय। अतः प्रशंसा भी करनी चाहिए। किन शब्दों से प्रशंसा की जाय, ऐसी आशंका होने पर स्वाध्यायपदवाच्य वंद के अन्तर्गत अर्थवादों हारा प्रशंसा की जाय, यह निश्चय होता है। तथा च शाब्दी-भावना की इतिकर्तव्यतारूप से अर्थवादों का उपयोग होता है। तथा च सार यह निकलता है कि अर्थवादों से प्राशस्त्यवोध करा-कर लिङादि शब्द शक्तिज्ञान द्वारा पुरुष को प्रवृत्त करें। कहा जाता है कि 'यद्यपि अन्यान्य विधिवाक्यों का अध्ययनविधि से नियुक्त होकर पुरुषोपकार में प्रवृत्त होना युक्त है, परन्तु अध्ययनविधि का नियोजक कौन हैं? अपौरुषेय वेद में पुरुष तो नियोजक हो नहीं सकता। यह वाक्य ही स्वयं अपना नियोजक हो, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अपने पर अपना नियोज कहें। तहीं होता, वह परस्पर भिनन में होता है। कोई अन्य वैदिक वाक्य भी नहीं है, जो कि अध्ययनविधि को नियुक्त करे।

'ऐसी स्थिति में ''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' इत्याकारक वचन अध्ययनविधि के तव्य-शब्दार्श भावना में कार्यता का ज्ञान किसी तरह भी नहीं हो सकेगा। फिर अध्ययनविधि किस तरह प्रवर्तक होगी? वेदाध्ययन की पुरुषार्श-साधकता भी अध्ययन के ही बल से सिद्ध होती थी। क्योंकि जब अध्ययनविधि किसी-की नियोज्य ही नहीं है एवं अपनी शाब्दी-भावना में कार्यता का ज्ञान ही नहीं करा सकती, तब किस तरह केवल अम के लिए ही अध्ययन में प्रवृत्ति सम्पादित हो सकती है। फिर तो वेदों का प्रामाण्य ही व्याहत हो जायगा।'

इसका उत्तर यही है कि लिङादि शब्दों में लौकिक नियो-ज्यत्व से विलक्षण ही नियोज्यत्व है। स्वामी की प्रेरणा सममनेवाला लौकिक नियोज्य होता है, परन्तु वैदिक लिङादि

बढ़ तो स्वयं अचेतन हैं, उन्हें अपनी प्रेरणा का ज्ञान असंभव है। किन्तु उनकी शक्ति के अनुसार ही अध्ययनविधि ह बतलाती है कि लिङादि शब्द यागादि कमों में पुरुष की ब्रिना के लिए आग्रह करें। बोध कराने से ही पुरुष यह समक नेता है कि यागादि कर्म अवश्य ही पुरुषार्थ के साधक है, ब्रन्यथा वैदिक लिङादि उनके करने का आग्रह ही न करते। जैसे तौकिक नियोज्य को अपने आप से कर्म करने की इच्छा नहीं होती, किन्तु वह नियोजक का आदर करता है, उसके अनुसार ही कर्मों में इच्छा और प्रवृत्ति होती है। ठीक इसी तरह वैदिक तिङादि शब्द भी अध्ययनविधि का आदर करते हैं, अर्थात् उसके अनुसार बोध कराते हैं। इस दृष्टि से लिङादि भी नियोज्य कहे जाते हैं। जैसे पुरुष में श्रीपचारिक भाव से सिंह पद का प्रयोग होता है, वैसे ही अचेतन लिङ् आदि शब्दों को भी नियोज्य कहा जाता है। इसीके अनुसार शाब्दी-भावना में कार्यता का ज्ञांन होता है। अर्थावादवाक्य लच्चणा द्वारा विध्यर्थ के स्तावक होते हैं, इसलिए विधिवाक्यों के साथ अर्थवादों की एकवाक्यता भी होती है। ऋध्ययनविधि के नियोज्य सभी वैदिक लिङादि शब्द हैं, अतएव वह स्वयं भी नियोज्य है। गद्यपि लोक में एक ही नियोज्य और नियोजक नहीं हो सकता, मो भी अध्ययनविधि सब वेदों पर नियोग करती हुई अपने पर भी करेगी। अर्थात् सब वेदों के पढ़ने का विधान करती हैं, वेदों में स्वयं भी होने से, अपने भी अध्ययन का विधान भिगी ही। जैसे, 'सर्वे मिथ्या' यह वाक्य घट आदि सबको मध्या बतलाता हुआ अपने आप को भी मिध्या बतलाता ठीक ऐसे ही अध्ययनविधि के नियोग के विषय में भी

सममना चाहिए। अतः अध्ययनविधि सब वेद की नियोजक होती हुई अपनी भी नियोजक है।

पूर्वमीमांसा के अनुसार अध्ययनविधि में दो रीतियाँ हैं. जिनसे शाब्दी-भावना की इतिकर्तव्यता में अर्थावादों का अन्त-भीव होता है। पहली रीति यह है कि वैदिक लिङादि शब्द के अर्था का यज्ञादि के साथ अन्वय (सम्बन्ध) होकर पश्चात नियोज्य के साथ अन्वय होता है। इस पक्ष के अनुसार अध्ययन-विधि का अर्थ करने की रीति यह है कि प्रथम तो वैदिक लिङादि-रूप नियोज्य के साथ तव्यरूप विधिशब्द का अन्वय ही नहीं होता। अतः वैदिक लिङादि शब्दों के शाब्दी-भावना आदि व्यापारों का विशेष रूप से उस समय ज्ञान ही नहीं हो सकता। अतएव पहले अध्ययनविधि का सामान्य रूपसे 'भावयेत' नियोग (कराये) अर्था होता है। पश्चात् 'को भावयेत्' "कि भावयेत्" (कौन कराये, किससे कराये) यह जिज्ञासा होती है। तब वैदिक लिङादि करायें और पुरुष से करायें, इस रूप से जिज्ञासा शान्त होती है। तब भाव्य की आकांचा होती है-किं भावयेत्, तो उस दृष्ट शक्ति के अनुसार "यच्छक्यते तद्भावयेत्" (जो कार्य करा सके, वह कराये) इस प्रकार उस आकांचा की पूर्त होती है। इस तरह अध्ययनविधि का पहले यही अर्थ होता है। इसके अनन्तर तव्यशब्द के अर्थ का वैदिक लिङादि हप नियोज्य के साथ सम्बन्ध होता है। उसके अनुसार 'वैदिक लिङ क्या करा सकता है' इस तरह भाव्यिवशेष की आकांचा डत्पन्न होती है। तब उसकी पति 'पुरुषप्रवृति कराये' इस तरह होती है। अन्त में अध्ययनविधि का यह अर्थ सम्पन्न होता है कि 'वैदिक लिङादि शब्द यज्ञादिरूप कमों में पुरुषों की

कृति करायें।' इस रीति में वेदों की अनर्थकता का परिहार क्रिम्निलिखित ढंग से होता है—प्रवृत्ति प्रयोज्य पुरुष का व्यापार है। इसीसे वह शाब्दी भावना का फल है। अध्ययनिविधि भी ब्रन्य विधिवाक्यों द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति कराती है—'लिङादिः कुषेण प्रवृत्ति भावयेत'। परन्तु पुरुषों की यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति तबतक नहीं होती, जबतक कि उसे कर्मों के पुरुषार्थ-साधक होने का निरुचय नहीं होता। अतः 'स्वर्गकामो यजेत' आदि बाक्य यज्ञादि के पुरुषार्थ-साधकत्व का ही निर्णय कराते हैं।

दूसरी रीति यह है कि लौकिक लिङादि अर्थ का नियोज्य के साथ सम्बन्ध होकर यज्ञादि विषयों से सम्बन्ध होता है। लौकिक लिङादि का प्रवर्तनरूप व्यापार-विशेष में पहले से ही शक्तियह होता है। अध्ययनविधि के द्वारा वही विधेय होती है। अतः पहले से ही 'प्रवर्तयेत्' (प्रवृत्ति करायें) इस प्रकार का अर्थ होता है और लिङादि प्रवृत्ति करायें, इस प्रकार का लिङादि के प्रयोजक कर्त्व का निश्चय होता है। पश्चात् किसकी प्रवृत्ति करायें, इस प्रकार प्रयोज्यकर्ता की अपेत्ता होती है। परन्तु इसकी 'लिङादिः पुरुषं प्रवत्येत्' (लिङादि पुरुष की प्रवृत्तिकरायें) इस प्रकार पूर्ति होती है। दोनों ही रीतियों में वैदिक लिङादि को प्रयोजक कर्ता माना जाता है तथा प्रयोज्य कर्ता पुरुष की प्रवृत्ति वैदिक लिङादि शब्द के प्रवर्तनारूप व्यापार का फल होता है। यद्यपि वैदिक लिङादि अचेतन हैं, अतः उनमें प्रयोजक-कर्तृत्व नहीं बन सकता। तथापि इसकी उपपत्ति इस तरह होती है—''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' यह अध्ययनविधि वैदिक लिङादि शब्दों के अध्ययन में पुरुषों को नियुक्त करती है। नियुक्त पुरुष यह जानना चाइता है कि 'वैदिक लिङादि मेरा क्या उपकार करेंगे ?' पश्चात् लिङादि शब्दों की शक्ति का विचारकर यह निश्चय करता है कि प्रवर्तना रूप शाब्दी-भावना के बोध द्वारा लिखादि शब्द पुरुषार्थ-सार्थक कर्मों का बोध कराकर पुरुष के खपकारक होते हैं। परन्तु इतने से भी पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती है। क्यों कि यज्ञों में श्रम श्रीर व्यय का बाहुल्य होने से पुरुष-प्रवृत्ति शिथिल हो जाती है। उसी समय श्रध्ययनविधि के श्रमुसार यह निश्चय करता है कि ये वैदिक लिखादि शब्द यज्ञादि कर्मों में मेरी प्रवृत्ति का ज्ञान ही कराते हैं उन्हों से प्ररेणा पाकर वह उसमें प्रवृत्त होता है। श्रतः लिखादि में प्रयोजक कर्न ख

अथवादों का प्रामार्य

: 4:

श्रनादि काल से यह व्यवहार प्रचलित है कि वैदिक लिङादि शब्द "यज्ञविधान के प्रयोजक हैं, फिर भी 'वैदिक लिङादि पुरुष को प्रवृत्त करें' इस अध्ययनविधि के अर्थ की तबतक पृति नहीं होती, जबतक कि 'किसके द्वारा' इस करणाकाङ्चा की पृति नहीं होती। अवश्य ही लिङादि शब्दों की शक्तिके अनुसार 'प्रेरणा-ज्ञान' द्वारा, इस अर्थ से उसकी पृति होती है। फिर भी 'प्रेरणा-ज्ञान के द्वारा किस प्रकार से प्रवृत्ति करें' ऐसी इतिकर्त व्यता की आकाङ्चा बनी ही रहती है। अतः उसकी पृति के लिए "याग से स्वर्गसुख लाभ करें" इस पृत्रों के आर्थभावना की अर्थवादों से प्रशंसाकर प्रवृत्ति करें। इस प्रकार अध्ययति विधि का सारांश यह निकलता है कि लिङादि शब्द प्रेरणा के ज्ञान और अर्थवाद से आर्थभावना की प्रशंसा द्वारा यज्ञादि कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति करायें। वैदिक लिङादि शब्द पुरुष को प्रराणामात्र का ज्ञान कराकर उसकी प्रवृत्ति नहीं करा सकते, क्योंकि प्रराणा का ज्ञान होने पर भी इच्छा के बिना कर्म करने

में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। प्रेरणाज्ञान से इच्छा होने पर ही प्रवृत्ति सम्भव है। किन्तु वैदिक कमों में बहुत परिश्रम और ज्यय देखकर आलस्य और लोभ के कारण यज्ञादि कमों से द्वेष भी हो सकता है, जो निवृत्ति का कारण और प्रवृत्ति का बाधक है। उस द्वेष से वैदिक विधिशाब्द से उत्पन्न इच्छा दबकर पुरुषप्रवृत्ति में विध्न भी उत्पन्न हो सकता है। लोक में भी लाभप्रद, किन्तु ज्यय-श्रमसाध्य ज्यापारों में उत्पन्न हुई इच्छा लोभ, आलस्य एवं द्वेष से दब ही जाती है। अतः वैदिक लिङादि शब्द पूर्वोक्त द्वेष को मिटानेवाले की अपेचा अवस्य करते हैं। यदि पुरुष की प्रवृत्ति न हो तो विधिवाक्य ही स्वयं ज्यर्थ हो सकते हैं। उस द्वेष को मिटाने के लिए यज्ञादि-भावना की प्रशंसा से अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं।

अतएव जैसे लोक में भी 'यह गाय बहुत दूध देती है' आदि प्रशंसा बहुवित्तसाध्य गों के खरीदने में उपयुक्त होती हैं, वैसे ही अर्थवाद भो प्रशंसा द्वारा पुरुष का उक्त देष मिटाकर यज्ञादि कमों में उसकी प्रवृत्ति करा देते हैं। जैसे, लोकिक प्रशंसा-वाक्यों में देष मिटाकर इच्छा उत्पन्नकर प्रवृत्ति कराने की सामध्ये हैं, वैसे ही वह अर्थवादों में भी है। अतः अर्थवादों में प्रवृत्ति कराने की सहकारिणी शक्ति सिद्ध है। प्रशंसा का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रशंसनीय पदार्थ से द्वेष को मिटा देता है।

अर्थवादों का इष्टफलसाधनतारूप प्रशंसा-अर्थ विविच्तित नहीं, क्योंकि "यागेन स्वर्ग भावयेत्" (याग से स्वर्गसुख प्राप्त करें) इस आर्थी भावना द्वारा लिङादि शब्द से ही वह सिद्ध है। अन्य भी कोई अर्थ यहाँ विविच्तित नहीं, क्योंकि उसका

प्रवृत्ति में उपयोग नहीं है। किन्तु बलवान अनिष्ट का कारण न होना भी प्रवृत्ति में आवश्यक है। ''यागेन स्वर्ग भावयेत्' इस आर्थीभावना से यद्यपि इष्टसाधनता का ज्ञान होता है, तथापि उतने से ही बलवद्निष्टाननुबन्धित्व (प्रबल अनिष्ट का साधन न होना) निश्चित नहीं होता। क्योंकि तृप्ति आदि इष्ट का हेतु होने पर भी कलञ्ज-भन्तर्ण (जहरीले बाणों से मारे हुए मृग का मांस खाना) पापादि अनिष्ट का भी साधन होता है। यही स्थिति विषमिश्रित अन्न की भी है। वह तृप्ति का हेतु होने पर भी भरणरूप बलवान् अनिष्ट का अनुबन्धी (कारण) है। ऐसे ही वेदविहित इयेनयाग से शत्रुमरणजन्य सुख होता है श्रीर इसका स्वरूप किसी प्रवल अनिष्ट का साधन नहीं। फिर भी इयेनयाग का फल शब्रुहिसा" "न हिंस्यात्" से निषद्ध होने ं के कारण प्रवल दुःख का कारण है। इस तरह उपयुक्त उदाहरणों में इष्टसाधनता होने पर भी बलवद्निष्टाननुबन्धित्व नहीं है। अर्थात् इष्टसाधन होते हुए भी वे बलवान् अनिष्ट के साधन हैं।

अतएव मीमांसा के आचार्यों ने कहा है:—
"फलतोऽपि च यत्कर्म नानथेंनानुबध्यते।
केवलं प्रीतिहेतुत्वात् तद्धर्म इति कथ्यते॥"

अर्थात् जिस कर्म का फल भी दुःखदायी न हो, जो अपने स्वरूप और फल से केवल सुखदायक ही हो, वही धर्म कहलाता है। लाभ की अपेदा इयेनयाग के फल द्वारा हानि अधिक है। इससे इयेनयाग भी धर्म नहीं है। अतएव विवेकियों की इसमें प्रवृत्ति नहीं होती। जिसे फलकृत हानि स्वीकारकर शत्रुवध का लाभ उठाना है, उसीके लिए इयेनयाग का विधान है। विधान का यह अर्थ नहीं कि हर किसीको वह करना चाहिए।

सारांश, वैदिक लिङादि शब्द यद्यपि अपनी प्रवर्तना के ज्ञान से ही यागादि में सुखसाधनता बतलाकर इच्छा उत्पन्न कर सकते हैं, तथापि अर्थवादों के बिना विषमिश्रित मिष्टान्न भोजन या रथेनयाग के समान अनिष्टहेतुत्व की सम्भावना से डत्पन्न होष से इच्छा दब सकती है। फिर तो विधिशक्ति का शिथिल हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में अर्थवाद ही प्रशंसा द्वारा यह बतलाते हैं कि इन यागों के स्वरूप तथा फल सभी सुख के साधक हैं। इनमें किसीके भी प्रवल अनिष्ट-हेतु होने की सम्भावना नहीं है। यागादि स्वतः या फलतः अनर्थ का कारण नहीं। इस तरह बोध कराने से ही अर्थवाद विधि-शक्ति का उत्तरभन करते हैं, जिससे पुरुषों की यज्ञादि में प्रवृत्ति हो जाती है। इस तरह प्रशंसारूप अपने लद्यार्थे द्वारा सभी अर्थवाद शाब्दी-भावना की इतिकत्तंव्यता में अन्तभूत हो विधिवाक्यों के अङ्ग होकर प्रमाण होते हैं। अर्थवादों के बिना प्रवृत्ति में विद्न पड़ने के कारण विधिवाक्य अकिञ्चित्कर हो सकते हैं।

कुछ लोग सन्देह करते हैं कि 'यदि द्वेषनाश के लिए अथे-वादों से प्रशंसा अपेक्तित है, तब तो स्वर्गादि फलों की भी प्रशंसा आवश्यक होगी। ऐसी स्थिति में स्वर्गादि फलबोधक वाक्यों का भी प्रशंसा में ही तात्पर्य समक्ता जायगा। किर स्वर्गादि के तात्त्विक होने में कुछ भी प्रमाण न रह जायगा।' स्वर्गादि के तात्त्विक होने में कुछ भी प्रमाण न रह जायगा।' इसका समाधान यही है कि अङ्ग एवं प्रधानकृप यज्ञादि कर्मों इसका समाधान यही है कि अङ्ग एवं प्रधानकृप यज्ञादि कर्मों में ही विधि की प्रेरणा होती है। इसीलिए अध्ययनविधि उन में ही विधि की प्रेरणा होती है। इसीलिए अध्ययनविधि उन में ही विधि की प्रेरणा को ज्ञान कराती है ही क्योंकि वही अम कर्मों की प्रशंसा में-कार्यता का ज्ञान कराती है ही क्योंकि वही अम एवं ठयय से साध्य होने के कारण स्वतःपुरुषार्थकृप नहीं हैं, एवं ठयय से साध्य होने के कारण स्वतःपुरुषार्थकृप नहीं हैं, स्वर्गादि फल तो स्वयं पुरुषार्थरूप हैं, अतः स्वर्गादि की प्रशंसा के बिना भी केवल उनके स्वरूप ज्ञान से ही पुरुषों की यागादि कभी में इच्छा और प्रवृत्ति हो सकती है। इसीलिए अध्ययन-विधि फल की प्रशंसा में कार्यता का ज्ञान नहीं कराती। अतएव स्वर्गादिस्वरूप-बोधक वाक्यों का मुख्य तात्पर्य फलबोध में ही है। अतएव स्वर्गादि का अस्तित्व निश्चित होता है। आर्थी-भावना के यागादि रूप कारणांश एवं अवधातादि इतिकत्तेव्यतांश में ही प्रशंसा अपेन्तित है। स्वर्गादि फलरूप साध्यांश में

प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है।

फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि 'यदि प्रशंसा आवश्यक है. तो स्वर्गादि फलबोधक वाक्यों से ही यागादि की प्रशंसा की जा सकती है, पृथक् अथवादों की क्या आवश्यकता है।' किन्त यहाँ यह परन होगा कि क्या फलवाचक स्वर्गादि शब्दों से ही प्रशंसा की जाय या 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामनावाला यज्ञ करे) आदि विधिवाक्यों से ? यदि अन्तिम पन्न मान्य हो, तब भी वे किस तरह प्रशंसा करेंगे ? क्या याग निर्दोष वेद से विहित होने के कारण प्रशस्त है या द्रव्य-देवता, इति-कर्त्तव्यता आदि अङ्गों के प्रशस्त होने से प्रशस्त है ? दोनों ही पत्त ठीक नहीं, क्योंकि साध्य, साधन और इतिकतंव्यता का बोध कराकर कुतकृत्य वाक्य प्रशंसाबोधन में प्रवृत्त न होंगे। 'केवल स्वर्गादि पद ही अथवादों के समान स्वार्थ को छोड़कर लच्या द्वारा प्रशंता का बोध करायेंगे यह प्रथम पच भी उचित नहीं। क्योंकि जब फलरूप अपने अर्थ का बोध कराकर स्वर्गादि शब्द चरितार्थ हो जाते हैं, तो फिर उनमें वाच्यार्थ-त्याग कर लच्या क्यों होगी ? इसके अतिरिक्त यदि पहले से ही वाच्यार्थ को छोड़कर स्वर्गादिपद प्रशंसा ही बोध करायेंगे, तो स्वर्गादि

फलों का बोध न होने से पुरुषों की यज्ञादि में प्रवृत्ति ही न होगी। वाच्यार्थ और लह्यार्थ दोनों अर्थी का बोध एक ही बार के उच्चारण से नहीं हो सकता। अतः यह भी नहीं कह सकते कि दोनों अर्थी का बोध हो जायगा।

इसपर कहा जाता है कि 'स्वर्गादि पदों का फल में तात्पर्य न होने पर भी शब्दशक्ति के अनुसार उनसे फलों का बोध ब्रीर प्रवृत्ति हो ही जायगी। ऐसी स्थिति में स्वर्गादि शब्दों का प्रशंसारूप लच्यार्थ मानने में क्या हानि है ?' किन्तु वेद इस बात पर ध्यान नहीं देते। जब विधि-वाक्यों में स्वर्गादि पद से अन्य कोई पद फल का बाधक है ही नहीं, तब स्वर्गाद शब्द ही उसका बोधक और फलबोध में ही उसका तात्पय क्यों न माना जाय, प्रशंसारूप लच्यार्थ में तात्पर्य क्यों हों ?

फिर भी कहा जाता है कि "यागादि कमें प्रशस्त हैं, क्योंकि उनके स्वर्गादि फल हैं, इत्यादि अनुमान से ही प्रशंसा निकल सकती है।" किन्तु इस आनुमानिक अर्थ में विधिवाक्यों का अर्थे नहीं हो सकता। तात्पर्य के बिना वह शाब्द नहीं हो सकता। आनुमानिक आर्थिक अर्थशास्त्र का अर्थ नहीं कहा जा सकता, जिससे फल के निश्चय द्वारा पुरुष की प्रवृत्ति हो सके।

जैसे 'पूर्वो धावति' (पहला दौड़ता है) यह कहने से दूसरे के होने का ज्ञान होता है, किन्तु दौड़ने में दूसरे के सम्बन्ध का बोध इस वाक्य से नहीं होता; वैसे ही विधिवाक्यों से भी आर्थिक अर्थ का आर्थीभावना में सम्बन्ध कदापि ज्ञात नहीं हो सकता। कहा जाता है कि 'जैसे 'प्रतितिष्ठन्ति इ वा य एता रात्रि-भ्पयन्ति" (जो इस रात्रि-सत्र यज्ञ को करते हैं, वे अवस्य मितिष्ठा पाते हैं) ऐसे अर्थवाद वाक्यों से यह की प्रशंसा और

फल का निश्चय भी होता है—यह मीमांसकों को मान्य है। अतएव इसी अर्थवाद से "प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रं कुर्वीरन्" (प्रतिष्ठा चाहनेवाले लोग रात्रिसत्र करें) ऐसी विधि की भी कल्पना होती है। एवळ्च इस अर्थवाद से जैसे फलबोध और प्रशंसारूप अर्थ दोनों अवगत होते हैं, वैसे ही "स्वर्गकामः" आदि पदों से भी फलबोध और यज्ञ की प्रशंसा दोनों हो, तो क्या हानि हैं ?' किन्तु जरा-सा ध्यान देने पर हच्टान्त और दार्घान्त की विषमता स्पष्ट हो जायगी है। 'प्रतितिष्ठन्ति' इस अर्थवाद्वाक्य से प्रतिष्ठारूप फलबोध के बिना विधि की कल्पना ही नहीं हो सकती। फिर विधिकल्पना के बिना अर्थवाद किस वाक्य से विहित 'रात्रिसत्र' की स्तुति करेगा ? ऐसी स्थिति में यह अर्थवाद व्यर्थ ही हो जाता। अतः इक्त अर्थवाद की अञ्चर्थता के लिए अगत्या प्रशंसा और फल के बोध में उसकी शिक्त माननी पड़ती है। किन्तु 'स्वर्गकामः' आदि पदों में ऐसी कोई स्थित नहीं है।

इसके सिवा उपर्युक्त अर्थवाद से वाक्य की ही कल्पना होती है। वे ही प्रत्यच्च वेदवाक्यों के समान अपने अर्थों का बोध कराते हैं। किन्तु 'वायव्यं श्वेतमालमेत मृतिकामः' इत्यादि वाक्यों में तो भृति आदि पदों से फलस्वरूप का 'बोध होता है। प्रशंसा का बोध तो 'वायुवें चेपिष्ठा देवता...' (वायु शीघ्रगामी देवता है। वह शीघ्र ही उसे ऐश्वर्य देती है, जो उसके भागधेय श्वेत पशु से उसका आराधन करते हैं) इस अर्थवाद से होता है। इस तरह जब दोनों ही कार्य प्रत्यच्च पठित विधि और अर्थवाद से हो सकता है, तब 'भृति' आदि शब्दों से आर्थिकरीत्या प्रशंसाक्ष्म अर्थ निकालने का क्लेश क्यों उठाया जाय ?

यदि 'भूति' आदि शब्दों से किसी वाक्य की कल्पना न कर प्रशंसा-अर्थ ही निकालना है, तो उस पद्म में भी 'पूर्वों घावति' के समान आथिक अर्थ का आर्थों भावना से सम्बन्ध न होगा। यदि कहा जाय कि 'भूति', 'स्वर्ग आदि शब्दों से प्रशंसा-वाक्य की कल्पना कर ली जायगी', तो वह भी ठीक नहीं। क्यों कि प्रत्यच प्रशंसा-वाक्य न होने पर ही कल्पना आवश्यक होती है। जब अर्थवाद विद्यमान ही हैं, तब कल्पना की निरर्थकता स्पष्ट ही है। प्रसिद्ध का त्यागकर अप्रसिद्ध की कल्पना अन्याय्य भी है। अर्थवादों का भी बाच्यार्थ प्रशंसा नहीं है, तथापि लच्चणा से प्रशंसा अर्थ निकलता ही है। 'भूति' आदि शब्दों से तो वायव्य-याग प्रशस्त है। इसी तरह प्रशंसावाधक वाक्य की कल्पना करनी पढ़ेगी। यहाँ प्रत्यत्त अर्थवाद विद्यमान रहने के कारण इससे 'रात्रिसत्र' की तुक्यता भी नहीं है, जिससे इसी न्याय से वाक्य की कल्पना की ला सके।

इस तरह स्पष्ट है कि अम और व्यय के कारण कमों में द्वेष उत्पन्न हा जाता है, जिससे विधिवाक्य से प्रवर्तनाज्ञान द्वारा उत्पन्न हुई इच्छा भी शिथिल हो जाती है। इसलिए विधिवाक्य पुरुषप्रवृत्ति के लिए अर्थवाद का मुँह ताकते रहते हैं। उधर अर्थवादों को भी अपनी सफलता के लिए विधि का मुखा-पेन्नी होना पड़ता है। इन्हीं परस्पर आकांनाओं को देख अध्ययनिविध यह बतलाती है कि उक्त अर्थवादवाक्य लच्चणावृत्ति से प्रशंसा का बोध कराकर, उसके द्वारा उक्त विधि-वाक्यों से मिलकर प्रवप्यवृत्ति के सम्पादन द्वारा स्वर्गादिक्ष्प पुरुषाथ लाभ में सफल होते हैं। अतएव अह्टार्थक पाठ में अर्थवादों का उपने से सफल होते हैं। अतएव अह्टार्थक पाठ में अर्थवादों का उपने से एक क्षेत्र के सम्पादन द्वारा लिङादि विधिबोधक योग है, यह कथन भी असंगत है। कारण लिङादि विधिबोधक परियय न होने से अर्थवाद विधायक नहीं होते। यदि वहाँ विधि-

वाक्यों की कल्पना करेंगे, तो भी प्रवृत्ति के लिए प्रशंसा की आवश्यकता रहेगी ही। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अर्थ-वाद से ही विधिकल्पना और लच्चणा से प्रशंसा का बोध कराया जायगा, क्योंकि जब अर्थ वादवाक्य अपने वाच्यार्थ द्वारा विधि की कल्पना करा चुके, तो उनकी सामर्थ्य का व्यय हो चुका। फिर वे किस सामर्थ्य से प्रशंसा का बोध करायेंगे? कर्याञ्चन् यह मान भी लिया जाय, तो भी अन्ततः वादी को जब अर्थवादों की लच्चणा करनी ही है, तो पहले ही उन्हींसे प्रसंशा का बोध क्यों न माना जाय और प्रत्यच्च श्रुत विधिवाक्यों के साथ उनकी एकवाक्यता ही क्यों न हो और नवीन विधिवाक्य की कल्पना क्यों की जाय?

कहा जाता है कि 'अर्थवादों का आर्थीभावना रूप साचात् ही अर्थ क्या ज मान लिया जाय ?' किन्तु "तैर्थ च्छुक्यते तर्कतं व्यम्" इस उक्ति के अनुसार लौकिक शक्ति से जा किया जा सके, वही करना चाहिए। लिङादि विधिशाब्द अर्थवादों में नहीं हैं, अतः उनमें आर्थीभावना का बांध कराने की शक्ति नहीं है। कहा जाता है कि जैसे "वसन्ताय किपञ्जलानालमेत" (वसन्त देवता के प्रीत्यर्थ किपञ्जल नामक पिज्ञविशेष से होम करना चाहिए) इस विधिवाक्य में विधान करने और प्रशंसा करने की शक्ति मानी जाती है, वैसे ही "वाक्यं श्वेतनालमेत भूतिकामः" इत्यादि विधियों में भी विधान और प्रशंसा क्यों न मानी जाय ? ऐसी स्थिति दोनों शक्तियों में अर्थवादों का क्या प्रयोजन रह जाता है ?' किन्तु इसका उत्तर यही है कि इस विधि के समीप में कोई अर्थवाद पठित नहीं है, इसलिए अगत्या उसमें प्रशंसा करने की भी शक्ति माननी पड़ती है। यह भी शंका होती है कि 'यदि विधिशक्ति न रहने से

अर्थवाद आर्थीभावना का बोध नहीं करा सकते, तो अचरों के अर्थ का ही बोध करायेंगे। फिर भी उनका प्रशंसा अर्थ क्यों माना जाय ?' किन्तु इसका समाधान यह है कि यदि अर्थवाद अपने अत्रों के अनुसार सिद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन करेंगे, तो उससे पुरुषों की प्रवृत्ति में कुछ भी उपकार नहीं होगा। इसी कारण जिससे पुरुषों की प्रवृत्ति हो सके, ऐसे अर्थ का बोध कराकर अर्थवाद अपनी सफलता सम्पादन कर सकते हैं। पुरुषार्थरूपी अर्थ के बोधन से ही सफलता सम्भव है। श्रचर तो परिश्रममात्र देनेवाला है। इस दृष्टि से अर्थवाद अनन्यगति होकर पुरुषों की प्रवृत्ति के लिए प्रशंसा-बोधन द्वारा अपनी सफलता सम्पादन करता है। विधिवाक्यों को भी यागादि की प्रशंसा ही अपेद्यित होती है। इस तरह 'नष्टा-रवद्गध-रथ' न्याय से विधि और अर्थवाद दोनों एकवाक्यता-पन्न होकर (मिलकर) परस्पर की आकाङ्चाएँ पूर्ण करते हैं। अर्थवाद की पुरुषार्थरूपी प्रयोजन की आकाक्षा को विधि-वाक्य त्र्यौर विधिवाक्यों की शाब्दीभावना की इतिकर्तव्य-तांशरूप प्रशंसा की आकांचा को अर्थवाद पूर्ण करते हैं। इसीलिए विधि और अर्थवाद मिलकर एक वाक्य बनते हैं। अकेले दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। अतएव जहाँ विधि ही है, अर्थवाद नहीं, वहाँ अर्थवाद की कल्पना करनी चाहिए। जैसे—"वसन्ताय कपिझलानालमेत' इसी विधि में अर्थवाद की कल्पना होती है। जहाँ विधि नहीं, वहाँ अर्थवाद से ही

विधि की कल्पना होती है। जैसे—'प्रतितिष्ठन्ति' इत्यादि। यह सारा अर्थ अध्ययनविधि से ही निकलता है।

इसी तरह निन्दार्थक अर्थवादों की निषेधों के साथ एक-वाक्यता होती है। जैसे 'यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवति" (जो बर्हियागमें रजत-दिच्या देना है, उसके गृह में वर्ष के भीतर रोदन होता है) इस अर्थवाद का "तस्माद् बर्हिष रजतं न देयम्" (उक्त भय से बहियाग में चाँदी की दिल्णा न दें) इस निषेध के साथ परस्पराकाङ्चा से एकवाक्यता होती है। ं जैसे प्रवृत्ति में यज्ञादि की प्रशंसा अपेचित होती है, वैसे ही निवृत्ति के लिए निषेध की निन्दा भी अपेद्यित होती है। यद्यपि निषेधकी महिमा से ही निषेध्य की प्रवल दु:खहेतुता का ज्ञान श्रीर इससे द्वेष एवं निवृत्ति हो सकती थी। फिर भी जैसे परही-गमन वेदों द्वारा प्रबल दुःखकारक रूप से विहित होने पर भी तत्काल सुखजनक होने से उससे द्वेष मिट जाता है तथा उसमें इच्छा और प्रवृत्ति हो जाती है, वैसे ही कीर्ति आदि दृष्टफलों के लोभ से उत्पन्न इच्छा और उत्साह से रजतदान से द्वेष और निवृत्ति मिटकर प्रवृत्ति हो सकती है। अतएव इस प्रवृत्ति के निवारणार्थ तथा इच्छा मिटाने स्रोर द्वेष उत्पन्न करने के लिए निन्दार्थवाद से अतिप्रवल दुःख दिखलाकर रजतदान की निन्दाकी जाती है। विधियुक्त नव् शब्द से निकली हुई निवारण रूपी शाब्दीभावना के निषेधज्ञानात्मक करणांश में अन्तर्गत

होकर निन्दार्थवाद निषेध की निवर्तक शक्ति का उत्तम्भन

इस तरह अथैवादों का मुख्य तात्पर्य स्तुति या निन्दा में ही है। उनके द्वारभूत अर्थ अमुख्य ही हैं। यही बात "विधिना त्वेक-वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" इस सूत्र से कही गयी है। विधियों के साथ परस्पराकां सामूलक एकवाक्यता के बिना अर्थवादों की निन्दा या स्तुति में लच्चण नहीं हो सकती, क्योंकि उनका मुख्यार्थ बाधित नहीं है। अतएव दोनों की एकवाक्यता आवश्यक है।

फिर किसका निन्दा अर्थ है और किसका स्तुति, इसका निर्ण्य भी एकवाक्यता के बिना संभव नहीं है। कोई अर्थवाद विधेय से भिन्न की निन्दा द्वारा विधेय की स्तुति करते हैं, तो कोई विधेय की निन्दा और तद्भिन्न की प्रशंसा करते हुए-से प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः विधेय के प्रशंसक ही होते हैं। कुछ अर्थवादों में प्रशंसा या निन्दा का सन्देह ही बना रहता है। किन्तु यदि एक-वाक्यता से अर्थवादों को विधि-निषेध का शेष (अंग) मान लिया जाय, तो यह निर्णय सरलता से हो जाता है। जैसे-"प्रातः भातरतृतं ते वदन्ति षुरोदयाज्जुह्नति येऽग्निहोत्रम्।" अर्थात् सूर्योदय के पहले जो अग्निहोत्र करते हैं, वे प्रातःकाल भूठ बोलते हैं, क्योंकि इस समय सूर्य ज्योति है ही नहीं। फिर "सूर्यों ज्योति-ज्योंति: स्वाहा" इस मन्त्र से होम कैसे ? इस तरह यद्यपि यह

अर्थवाद अनुदित होम की निन्दा करता हुआ प्रतीत होता है तथापि वैसा नहीं है; क्योंकि यह 'तस्मादुदिते होतव्यम्" अर्थात 'इदित होने पर होम करे' इस विधि का शेष है। अतः उसीके साथ इसकी एकवाक्यता होने पर उदित होम की प्रशंसा ही इसका अर्थ निकलता है, अनुदित पच की निन्दा नहीं। यदि अनुदित पच की निन्दा ही अभीष्ट होती, तो उदित होमविधि के पास इसका पाठ न होता। साथ ही अनुदित-होमविधि से इस अर्थवाद का विरोध भी अनिवार्य हो जाता। अतएव डिदत, अनुदित किसी काल के होम का निषेध नहीं है, किन्तु किसी पत्त का भी नियम किया जा सकता है। इन स्थलों में स्वतन्त्र निन्दा-वाक्यों से प्रशंसा अर्थ कभी नहीं निकल पाता। अतः इदित-होमविधि के साथ एकवाक्यता कर निन्दारूप अर्थ को इटाते हुए ही लच्चणा से इदित-होम की प्रशंसा रूप अर्था करना पड़ता है-"निह निन्दा निन्दां निन्दितं प्रवर्तते कि तर्हि निन्दितादितत्प्रशंसितुम्।' अन्यथा जिस अनुदित-होम का विधान है, उसी की निन्दा क्यों ? अनुदित-होम की निन्दा का उदित होम के विधान के साथ परस्पर क्या सम्बन्ध है ? डिंदत होम के समीप अनुदित होम के निन्दा-वाक्य का पाठ क्यों ?, ये सभी शंकाएँ बनी ही रहेंगी। इन्हीं सब शंकाओं को दूर करने के लिए विधि के समीप पढ़े गये अर्थवादों की उसके साथ एकवाक्यता सम्पाद्न करने का प्रयत्न किया जाता है।

इसी तरह ज्यम्बक देवतासम्बन्धी पुरोडाशों के प्रसङ्ग में कहा गया है—"ग्रामिघार्या नाभिघार्या इति मीमांसन्ते यदिमघार्यत

इद्रायास्ये पश्रून्निदध्यात्, यन्नाभिघारयेन्न रुद्रास्ये पश्रूनिदध्यात्, अथो खल्वाहु:, अभिघार्या एव नहि इविरनिभ्वृतमस्ति।" अर्थात् यह विचार किया जाता है कि 'इन पुरोडाशों का अभिघारण (अग्नि पर उष्णकर घी से तर करना) किया जाय या नहीं ? जो अभि घारण करता है, वह मानो रुद्र के मुख में अपने पशुओं को डालता है। जो अभिघारण नहीं करता, मानो वह नहीं डालता।' इसके अनन्तर कहा जाता है कि 'अवश्य अभिघारण करना चाहिये, क्योंकि अभिघारण के विना हिव ही नहीं होता।' इस अर्थवाद में सन्देह होता है कि यह अभिघारण का विधान है, या निषेध ? पूर्वपत्ती कहता है कि 'श्रिभिघारण करना मानो रुद्रमुख में अपने पशुओं को देना हैं इससे निषेधार्थ तथा 'अभि-घारण के बिना हिंब नहीं होता' इस अंश में विधानार्थ प्रतीत होता है। अतः जैसे 'अतिरात्रे षोडशिनं यह्याति नातिरात्रे षोड-शिनं गृह्णाति" इन विधानों एवं निषेधों से 'षोडशी-पात्रविशेषों का ग्रहण-अग्रहण दोनों ही यज्ञकत्तां की इच्छा पर निर्भर है, वैसे ही यहाँ भी समभना चाहिए।' किन्तु सिद्धान्त के अनुसार यह निश्चय होता है कि 'अभिघार्या एव' इस विधिवाक्य से एकवाक्यता होने पर यह अर्थवाद अभिघार की प्रशंसा में ही पर्यवसित है। अतएव अभिघार करने के दोष एवं न करने के गुणों को चिन्ता न करके "अमिघार्या एव" अभिघारण ही करना चाहिए। यहाँ भी "अभिघार्या" इस विधिवाक्य की एकवाक्यता से ही अभिघारण का निन्दारूप अत्यत्त अर्थ छोड़कर प्रशंसा में तात्पर्य निर्मीत होता है।

"यहचा स्तुवते तदसुरा श्रन्यवायन् यत्साम्ना स्तुवते । तदसुरा नान्ववायन् य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत ।"

अर्थात् जो ऋक्मन्त्र से स्तुति करता है, इस स्तुति के पीछे असुर आ जाते हैं, साममन्त्र से की हुई स्तुति का अनुगमन असुर नहीं करते, ऐसा समक्तर विद्वान् साम से स्तुति करता है। यहाँ सन्देह होता है कि 'ऋचा स्तुवते" यह वाक्य ऋक मन्त्र से स्तुति करने का विधान करता है या "साम्ना स्तुवीत" इस वाक्य से विधान की हुई सामस्तुति की प्रशंसामात्र करता है ? पूर्वपक् होता है कि 'यद्यपि लिङादि विधिप्रत्यय नहीं, तथापि यह वाक्य विधायक ही है; क्यों कि उक्त विषय-वाक्य में यदि साम-स्तुति का विधान होता, तो उस सामस्तुति की प्रशंसा "ऋचा स्तुवते" इस वाक्य से हो सकती थी। "साम्रा स्तुवीत" वाक्य विधायक नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें "य एव विद्वान् साभा स्तुवीत" यहाँ 'यः' शब्द का योग है। वह आप से आप होने-वाली पुरुष की प्रवृत्ति का अनुवाद्मात्र करता है। जैसे—'य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते' यह वाक्य केवल अनुवादमात्र करता है, विधान नहीं; वैसे अन्यत्र भी समभना चाहिए। जिस वाक्य में "यद्" शब्द का प्रयोग होता है, उस वाक्य के लिङ्गादि शब्दों की विधानशक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में 'ऋचा स्तुवते' से उसकी प्रशंसा नहीं, किन्तु विधान ही होता है। यद्यपि 'थहचा स्तुवते' इस वाक्य में भी 'यद्' शब्द लगा है, तथापि वह

धाग का अनुवादक है, अतएव उसकी विधानशक्ति नष्ट नहीं होती। अथवा दो विधायक वाक्यों के बल पर ऋक् और साम मन्त्रों का विकल्प ही होना चाहिए—दोनों में से चाहे जिस से स्तुति करें।'

इसपर सिद्धान्त पत्त यह है कि 'यद्' शब्द लाने पर भी 'साम्रा स्तुवीत' वाक्य अनुवादक नहीं, किन्तु विधायक ही है। जैसे—'य एवं विद्वान् सोमेन यजेत' अर्थात् जो ऐसा सममकर सोमयज्ञ करे, यह वाक्य विधायक हाता है। क्योंकि विधिशब्द 'यद्' शब्द को द्वाकर विधान करता है। 'य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते' इस स्थल में तो लट् है, विधिबोधक लिङादि है ही नहीं; अतः वह 'यद्' से दुर्बल है। इसोलिए विधिकल्पना में 'यद्' शब्द बाधक ही होगा।

यही स्थिति 'यहचा स्तुवते', 'यत्साम्ना स्तुवते' की है। इनमें 'यद्' शब्द के कारण 'ते' इस लट् से विधिकल्पना नहीं हो सकेगी। अतः दो विधायक होने से दो वाक्य हो जायँगे। इस कारण भी ये वाक्य विधायक नहीं हैं। ''तरमात् साम्ना स्तुवीत' यही वाक्य विधायक है। 'यहचा स्तुवते' इस वाक्य का ऋक्स्तुति को निन्दा में नहीं, सामस्तुति की प्रशंसा में ही तात्पर्य स्पष्ट है। 'यत्साम्ना स्तुवते' इस वाक्य का तो प्रशंसा में तात्पर्य स्पष्ट ही है। अतः 'यहचा यत्साम्ना स्तुवते' इन दोनों वाक्यों की एक ही है। अतः 'यहचा यत्साम्ना स्तुवते' इन दोनों वाक्यों की एक ही है। अतः 'यहचा यत्साम्ना स्तुवते' इस विधायक वाक्य के साथ होती है। वाक्यता 'साम्ना स्तुवीत' इस विधायक वाक्य के साथ होती है। इसीसे सामस्तुति का ही यहाँ विधान है। यहाँ विकल्प भी सम्भव इसीसे सामस्तुति का ही यहाँ विधान है। यहाँ विकल्प भी सम्भव हि। 'ऋचा स्तुवते' आदि वाक्य विधायक न होकर अर्थवाद ही हैं। है। 'ऋचा स्तुवते' आदि वाक्य विधायक न होकर अर्थवाद ही हैं।

कहा जाता है कि 'जिन वाक्यों में क्रियागत गुण एवं दोष

के वाचक शब्द ही नहीं होते, ऐसे 'श्रापो वै शान्ताः' इत्यादि वाक्यों का विधि या निषेध के साथ एकवाक्यता और प्रशंसादि अर्थ ही नहीं हो सकता । फिर उनकी सार्थकता कैसे प्रशंसादि अर्थ ही नहीं हो सकता । फिर उनकी सार्थकता कैसे होगी?' किन्तु इसका समाधान यह है कि 'वेतसशाखया-ऽवकाभिश्चागि कर्षति' (बेंत की शाखा और अवकाओं या पनिहाँ वृत्तों से अग्नि को खींचकर एकत्र करें) इस विधि के समीप 'श्रापो वै शान्ताः' यह अर्थवाद है। अतः विधि के साथ एकवाक्यता के अनुसार 'जल शीतल है' इस तरह प्रथम जल की प्रशंसा से, फिर जल से उत्पन्न होने के कारण वेतस् और अवका की प्रशंसा में, उसके अनन्तर वेतस् और अवका से किये हुए अग्निकर्षण की प्रशंसा में तात्पर्य के अनुसार उक्त अर्थवाद की लन्नणा होती है।

'तुल्यञ्च साम्प्रदायिकम्'—इस सृत्र से भी अर्थवादों का प्रामाण्य कहा गया है। भावार्थ यह कि गुरुपरम्परा से प्राप्त और स्वाध्यायविधि के अनुसार अनध्याय में अनध्ययन का नियम आदि जैसे विधिवाक्यों में अनादिकाल से चला आता है, वैसे ही अर्थवाद वाक्यों में भी। इसिलए जैसे विधि धर्म में प्रमाण है, वैसे ही अर्थवाद भी। यदि अर्थवाद अनर्थक होते, तो अध्ययन में विध्न न होने के लिए अध्ययन-नियम-पालन व्यर्थ ही होता। किन्तु जब कि विधि जैसे ही अर्थवादों के अध्ययन में भी सब नियम अनादिकाल से माने जा रहे हैं, तब उन्हें अनर्थक कैसे कहा जा सकता है ? अध्ययनविधि अनादि काल से अध्ययन के सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन करती है।

बहुत पहले पूर्वपत्त में 'स्तेनं मनः श्रत्वादिनी वाक्' आदि अर्थं-वादों की शास्त्र और दृष्ट से विरुद्धता दिखलायी गयी है। किन्छ इसका भी समाधान यही है कि उक्त वाक्य किसी अर्थ का विधान नहीं करते, क्योंकि द्वारभूत अत्तरार्थ में उनका मुख्य तात्पर्य नहीं है। तब तो उनसे किसी भी विधि की कल्पना नहीं हो सकती। अतएव चौर्य आदिका विधान और शास्त्रान्तर-विरोध का अवकाश नहीं है।

इसी तरह "गुण्वादस्तु" इस सृत्र से "श्रापो वै शान्ताः शान्ताभि-रेवास्य शुचं शमयित" इत्यादि अर्थवादों की सार्थकता कही गयी है। अर्थात् जैसे जन्मभूमि की प्रशंसा से पुरुष की प्रशंसा होती है, वैसे ही प्रकृत में भी प्रशंसा अभीष्ट है। "जल शान्त है और तदुत्पन्न वेस्स एवं अवका भी शान्त हैं तथा उनसे आकृष्ट अग्नि भी शान्त है। अतएव यजमान के शोक को शान्त करता है" यह गौणी वृत्ति से उक्त अर्थवाद का तात्पर्य हुआ।

इसी प्रकार "सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम् तस्य यदशु व्यशीर्थित तद्रजतमभवत् योव हिंधि रजतं दद्यात् पुरास्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवति" इस अर्थवाद में कहा गया है कि रुद्र रोये—यही उनका रुद्रत्व है; उनकी अश्रु से ही ररजत बना; इसीलिए जो बहिं में रजतद्विणा देता है, उसके घर में वर्ष के भीतर रोदन होता है। किन्तु अश्रु से रजत आदि की उत्पत्ति प्रत्याचादि से विरुद्ध है। इसका भी समाधान यही है कि जैसे स्तुति के लिए पुरुष को सिंह कहा जाता है, वैसे ही निन्दा के लिए गौणी वृत्ति से ये सब बातें कही जाती हैं।

इसी तरह 'प्रजापितरात्मनो वपामुदिखदत् तामजुहोत् ततस्तूपरः पशुरगात्' प्रजापित ने अपनी वपा अर्थात् चर्बी को निकाला, उसका होम किया फिर अग्नि से 'तूपर' (शृंगसहित अज) पशु निकला—यह अर्थवाद 'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात् स एतं

प्राजापत्यं त्परमालमेत' (पशु-पुत्र की कामनावालों को प्रजापित से उत्पादित तृपर या 'हलुवान' पशु से यज्ञ करना चाहिए) इस विधि के साथ एकवाक्यतापत्र होता है। तथाच अर्थवाद का अभिप्राय यह निकलता है कि प्रयोजन-विशेष के लिए अपनी अपनी वपा (चर्बी) निकालकर भी यज्ञ किया जाता है, फिर बाह्य धनादि के व्यय तो गणना ही क्या है ? जैसे कहा जाता है कि यह राजा अपनी आँखें निकाल कर दे सकता है, फिर अर्थ की तो कथा ही क्या है ? प्रजापित ने वपा निकाली या नहीं, इससे कुछ भी प्रयोजन नहीं, विधि की स्तुति में ही, उसका मुख्य तात्पर्य है।

इसी प्रकार "वनस्पतयः सत्रमासत" (वृत्तों ने यज्ञ किया) इससे भी सत्र की प्रशंसा ही है। जब जड़ भी यज्ञ करते हैं, तो चेतन मनुष्य को तो करना ही चाहिए। अत्तरार्थ मिध्या होने पर भी अर्थवाद का मुख्य तात्पर्य अबाधित है ही। इसी तरह लोक में भी शित्ताविशेष के लिए बहुत-सी आख्यायिकाएँ मिध्या ही बना ली जाती हैं।

यहाँ सन्देह किया जाता है कि 'जैसे असत्यवादी अर्थवाद से भी यज्ञादि में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही "स्वर्गकामो यजेत" यह विधिवाक्य भी तो प्रवृत्ति के ही लिए हैं। ऐसी स्थित में यज्ञ से स्वर्ग का मिलना सत्य है, यह भी कैसे कहा जा सकता है?' किन्तु इसका समाधान यह है कि अर्थवाद का पूर्वोक्त रीति से स्वार्थ में तात्पर्य ही नहीं; किन्तु विधिस्तुति में ही उनका तात्पर्य है। अत प्रत्यचादि प्रमाणों से विरोध होने पर उनके अर्थ को गौण कहा जाता है। किन्तु विधि का तो तात्पर्य स्वार्थ में ही है और उसके किसी अंश का प्रत्यचादि प्रमाणों से विरोध भी बहीं हैं। फिर तो उनके अर्थ को मिध्या मानने का कुछ भी कारण नहीं रहता। लोक में कहा जाता है कि यह सत्य ही है, ख़ित या निन्दा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रवृत्ति के लिए मिध्या गुण का और निवृत्ति के लिए मिध्या दोष का भी वर्णन हो सकता है। जैसे 'बचा सेवन से बुद्धि-वृद्धि और शरीर-शोभा बढ़ती हैं इस आप्तवाक्य से शिष्यादि की शरीर-शोभा के लिए बचा-भच्या में प्रवृत्ति होती है। भले ही यहाँ शरीर-शोभारूप फल का कहना मिध्या हो, तथापि बुद्धिवृद्धिरूप फलका लाभ तो होता ही है। इसी तरह हितैषी के वाक्य अप्रमाण नहीं होते।

कहा जा सकता है कि 'शरीर-शोभारूप फल न प्राप्त होने से शिष्यों को आप्त गुरु आदि के प्रति विश्वास न होगा, जिससे उनकी प्रवृत्ति न होगी।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्यों कि शिष्य जानते हैं कि आप्त गुरु आदि परमहितेषी हैं। उनकी यह उक्ति अतिशयोक्ति या मिथ्योक्ति हो, तो भी निष्फल नहीं—कुछ न कुछ इसका परम फल अवश्य होगा। ऐसे ही वृत्तों का यज्ञ न करना निश्चित होने पर भी आस्तिकों को विश्वास रहता है कि परमहितेषी अपौरुषेय वेद की यह अतिशयोक्ति मिथ्या होते हैए भी निष्फल नहीं है, इसका कोई न कोई महाप्रयोजन अवश्य होगा। यही समभकर आस्तिकों की प्रवृत्ति होती है कि उससे विधवोधित परमफल प्राप्त हो जाता है।

प्रजापित का वपा निकालनेवाला व्याख्यान भी इसी तरह भार्थक होता है। कुछ लोग प्रजापित से 'वायु' और वपा का शृष्ट अर्थ करते हैं। एवळा वायु जलका विद्युत्रूप अग्नि में होम भिता है। अथवा 'आकाश' और 'वायु' 'प्रजापित' और 'वपा शब्द से गृहीत होते हैं। अतः आकाश वायु को जाठराग्नि में प्रवेश कराता है या सूर्य अपनी किरणों को अग्नि में होम करता है। ये सब इस अर्थवाद के सत्य ही अर्थ हैं। पूर्वोक्त होम से तूपर अजर अनादि बीज उत्पन्न होता है। बीज आदि की पर-रूपरा अनादिसिद्ध होने से उनमें अजत्व का व्यवहार होता है। फिर भी उपर्युक्त-व्याख्यानों से स्तुति-अर्थ न निकताने से अर्थवादों

की सार्थकता असिद्ध ही रहती है।

'गुण्वादस्तु' इस सूत्र के व्याख्यान के प्रसंग में भट्टपादने कहा है कि 'मन्त्र, अर्थवाद, पुरागा, इतिहासादि प्रमाणों से विश्व की सृष्टि और प्रलय इष्ट है सृष्टि के समय योगसद प्रजापित पशुत्रों के अभाव में योगप्रभावसे स्वाभाविक शरीर से अन्य एक पशुशरीर का निर्माण करके उसीके वपा से यज्ञ करता है। यज्ञ के मध्य की ही तूपर पशु यज्ञभूमि से आविभूत होता है। यह यज्ञ अतिशीघ फल देनेवाला है। इसके लिए प्रजापति ने कितना बड़ा उद्योग किया। इस रीति से उक्त अर्थवाद द्वारा यज्ञ की प्रशंसा होती है और द्वार-भूत अर्थ भी सत्य सिद्ध हो जाता है। जैसे ऋतुओं का असंख्यां बार आवर्तन होता है, ऋतुओं के चिह्न पुष्य-फलादि प्रत्येक अविश्त में समान ही आविभूत होते है। (यद्यपि पुष्पकतादि की व्यक्तियाँ पृथक् पृथक् होती हैं, तथापि उनके रूप, गुग और प्रभाव समान ही होते हैं।) वैसे ही प्रत्येक विश्वसृष्टि के समय भिन्न-भिन्न प्रजापति उत्पन्न होने पर भी उनके प्रभाव और व्यापार समान ही होते हैं। यही स्थिति उत्पन्न होनेवाले अन्य पदार्थों की भी है, अतः प्रजापित के नाम से वेद में उक्त आर्थ-वादिक उपाख्यान होने पर भी वेद की अनादिता में कोई बाधा नहीं पड़ती। एक-एक प्रजापित व्यक्ति यद्यपि अनादि नहीं हैं,

विधापि प्रजापित का स्थान प्राड्विबाक (जज) आदि स्थानों के प्रमान अनादि ही है। उसी स्थान के नाम से वेद का उपाख्यान भी अनादि है।

इसी तरह "श्रादित्यः प्रायणीश्वररादित्य उद्यमीयश्वरः" (यह श्रादित्य चरु सूर्य के उद्य श्रीर श्रस्त समय के लिए हैं) इस विधिवाक्य का अर्थवाद है—'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन्' (देवताश्रों को यज्ञ-समय में दिग्श्रम हो गया है) यह अर्थवाद गुणवाद है, क्योंकि उक्त यज्ञ से इतने विलच्चण कर्म किये जाते हैं, जिनके करने श्रीर विचारने में, देवताश्रों की बुद्धि श्रांत हो जाती है। इस यज्ञ का ऐसा प्रभाव है कि वह श्रांति को दूर करता है। इस प्रकार स्तुति में ही उक्त ध्र्यवाद का तात्पर्यं है, देवताश्रों के दिग्श्रम होने में नहीं।

कई लोग समभते हैं कि पूर्वमीमांसक ईश्वर एवं विश्व की सृष्टि एवं संहार नहीं मानते। किन्तु ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः जैमिन ने अपने किसी सूत्र में ईश्वर का निषेध नहीं किया है। अवश्य ही औत्पत्तिक सूत्र में भट्टपाद ने ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया है, किन्तु उसका भी तात्पर्य ईश्वरखण्डन में नहीं है। ईश्वर वेदकार है, इस प्रकार नैयायिकों के पत्त का खण्डन ही उनका लत्य था। वेदकर्त त्वसम्बन्धिनी शंका का मूलोच्छेद करने के लिए ही ईश्वर की सत्ता का खण्डन है।

नैयायिक ईश्वरिनिमित होने से वेदों का प्रामाण्य मानते हैं।
अतएव वे ईश्वर की सत्ता में अन्योन्याश्रय दोष के भय से वेद को
अमाण्क्रपमें उपस्थित नहीं करते, अनुमान प्रमाण उपस्थित करते
हैं। किन्तु इस पत्त में यह दोष है कि अनुमान द्वारा ईश्वर
आमान्य ही सिद्ध होता है, वेदकार तो ईश्वरिवशेष है।

जैसे धूम से बिह सामान्य का अनुमान होता है, बिह-विशेष का नहीं। जिन जिन युक्तियों से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेंगे, उन्हीं-उन्हीं युक्तियों से दूसरे लोग 'बाइबिल'कार, 'कुरान' कार को भी ईश्वर सिद्ध करने का प्रयत्न कर सकते हैं। फिर तो निरपेच कप से ईश्वररचित होने से वेदों का प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। अतः ईश्वर के समान ही वेद अनादि अपौरुषेय हैं। यही सिद्धान्त ठीक है। ईश्वर भी वेद का रचियता नहीं, किन्तु अनादि अपौरुषेय वेद के आधार पर धम एवं ईश्वर की सिद्धि होती है। यही भट्टपाद का अभिप्राय है।

श्रतएव 'मीमांसा-बालप्रकाश' में शंकर भट्ट का कहना है कि "पद्यदार्थसम्बन्धस्येश्चरकृतसंकेतात्मकत्वेऽिप वेदाप्रामाण्या-पत्तेस्तत्प्रामाण्यायैवेश्वरिन्सासः" श्रर्थात् पद-पदार्थसम्बन्ध ईश्वर-संकेतस्वरूप ही है, ऐसा मानने में संकेत द्वारा भी वेद में पौक-षेयता एवं श्रप्रामाण्य की श्रापत्ति होगी, श्रातः मीमांसकों ने ईश्वरसत्ता का खण्डन किया है। वस्तुतः ईश्वर का श्रपलाप मीमांसकों को श्रभीष्ट नहीं है। इसीलिए श्लोकवार्तिककार ने श्रारम्भ में ही महेश्वर की वन्दनाकर मङ्गलाचरण किया है—

"विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदी दिव्यचतुषे। श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिशे॥"

'पार्थसारथि मिश्र' ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है

""प्रारिष्मुस्तस्याविष्नसमाप्तये विश्वेशवरमहादेवं स्तुति पूर्वे नमस्यित।" सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त, विशुद्ध ज्ञान जिसकी देह है, ऋग्वेदादि तीनों वेद जिसके तीनों नेत्र हैं, जो श्रेयःप्राप्ति के मूलकारण हैं, ऐसे शशिशेखर भगवान महेश्वर को नमस्कार

है। यज्ञ पन्न में श्लोकार्थ यह है—'मीमांसा-परिशोधित ज्ञान जिसकी देह है, त्रिवेदी जिसका चन्नु अर्थात् प्रकाशन है, ऐसे सोम के अर्द्ध (स्थान) यह चमसादि धारण करनेवाले यज्ञ भग-वान् को नसस्कार है।'

वस्तुतः नास्तिकता-निराकरण ही वार्तिककार का मुख्य प्रयत्न था। अतएव उपक्रम का वार्तिक है—

"प्रायेनैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता। तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नो मया कृतः ॥"

अर्थात् प्रायः मीमांसा को लोगों ने चार्वाकमतानुगामिनी बना दिया था। इसे आस्तिक पच्च में लाने के लिए ही वार्तिक का निर्माण है।

सृष्टि और संहार मान लेने पर भी हिरण्यगर्भ पूर्वंकल्प के तुल्य वेदसम्प्रदाय का केवल प्रवत्तंन करता है, वेद का निर्माण नहीं। ऐसा मानने में अपौरुषेयता में कोई बाधा नहीं पड़ती। फिर भी सृष्टि के आदि में उत्पन्न एक हिरण्यगर्भ पूर्वकल्पीय वेदों का स्मरणकर सम्प्रदाय-प्रवर्तन करता है--इस विषय में भी उठनेवाली शंकाओं का समूलोन्मूलन करने के लिए ही सृष्टि-प्रलय के अस्वीकार की बात है। वस्तुतः वार्तिककार ने पूर्वोक्त रीति से सृष्टि-प्रलय स्वीकारकर प्रजापित के उपार्ध्यान को सत्य ही सिद्ध किया है--

"मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयाविष्येते।" अनध्याय में अध्ययन न करने के नियम आदि जैसे विधिभाग के हैं, वैसे ही अर्थवादों के भी हैं। अतः जैसे विधिभाग प्रमाण हैं, वैसे ही अर्थवाद भी प्रमाण हैं। अध्ययन में विष्न न हों, यही अनध्याय बचाने का फल है। यदि अर्थवाद व्यर्थ ही होते, तब तो उनके अध्ययन में विद्न होना ही ठीक था। जब अनादिकाल से लोग अर्थवादों का भी अध्ययन करते चले आ रहे हैं, तब उन्हें व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है ? अर्थवाद का मुख्य तात्पर्य विधेय की प्रशंसा में ही है। फिर द्वारभूत वाच्यार्थ में विरोध होने पर भी कोई हानि नहीं, क्योंकि उसमें तात्पर्य ही नहीं है।

अतएव पद्मान्तर में उन अर्थवादों का पृथक् अर्थ वतलाया गया है। "स्तेनं मनः, श्रन्तवादिनी वाक्" इन श्रर्थवादों के अथी से कोई विरोध नहीं होता। मन चोर के समान ही है, क्योंकि दोनों प्रचल्ल रूप से चलते हैं। अतएव वाक् को अनुतवादिनी कहा गया है। ''हिरएयं इस्ते भवति अथ यह्याति'' (हिरण्य हाथ पर ले और पहने) सुवर्णकी इसी स्तुति के लिए मन और वचन का निन्दार्थवाद संगत होता है। जो कार्य किया जाता है, पहले इसीका मनसे संकल्प किया जाता है और तदनन्तही वचनसे कथन होता है। अतः सभी कार्यों की सिद्धि में मन श्रीर वचन की अन्तरङ्ग-साधनता मानी जाती है। वह भी चोर और भूठा होने से निन्दा है, तब फिर और की बात ही क्या ? अतः स्वर्ण ही सर्वोत्तम है, क्यों कि वह सभी कार्यों की सिद्धि में अपेक्तित होता है और अनिन्द्य भी है। इस तरह "स्तेनं मनः" इत्यादि अर्थवादवाक्य स्वर्णधार गा-विधि का स्तावक है। अतएव इससे चोरी आदि करने की विधि नहीं निकल सकती। "अनृतं न वदेत्" इत्यादि निषेध-वाक्यों के रहते हुए विधिरतुति में चरितार्थ अर्थवाद-वाक्य से अनृतवद्त आदिका विधान नहीं हो सकता। प्रत्यत्त विधि के विरुद्ध अथ-वादों से विधि-कामना सर्वथा अनगंत है।

इसी तरह "धूम एवाग्नेर्दिवा दहशे" इस अर्थवाद में जो प्रत्यत्त विरोध दिखाया गया है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि इसका अभिप्राय यही है कि अधिक दूर होने से दिनमें धूम ही दिखाई देता है, अग्नि नहीं।

इसी तरह 'हम ब्राह्मण हैं या नहीं' यह अर्थवाद भी प्रत्यच्-विरुद्ध हैं'—इसका भी समाधान है कि "स्त्र्यापराधात् कर्त्तृश्च पुत्र-दर्शनम्।" इस सुत्रका अभिप्राय यह है कि "न चैतद्विद्यो ब्राह्मणी वयं सम वा अब्राह्मणा वा" (यह हम नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं या अत्राह्मण) यह अर्थवाद "प्रवरे प्रत्रिणमाणे देवाः पितर इति ब्रूयात्'' (जब यजमान यज्ञादि कर्मो'में अपने गोत्र और प्रवरका वर्णन करने लगे, तब 'देवा: पितर:' इस शब्द को कहे) इसी विधि का स्तावक है। यदापि ब्राह्मण्य ज्ञात है, तथापि उसका ज्ञान दुश्शक है। सरलता से जिसका ज्ञान न हो, उसके ज्ञान को अज्ञान ही कहा गया है। ब्राह्मण्य का ज्ञान कठिन है, क्योंकि स्त्री के व्यभिचार-रूप दोष से संशय होता है। स्त्री-अपराध न होने पर भी संदेह होता है कि पुत्र माता का है या माता जिसका चेत्र है, उस चेत्री का है ? यदि चेत्री का है, तब तो ब्राह्मण होने में कोई संदेह नहीं। किन्तु 'माता भसा पितुः पुत्री यतो जातः स एव सः " माता केवल माथी है, जिसके वीर्य से उत्पन्न होता है, उसी का पुत्र समभाना चाहिए और वह उपपति बीजी अत्यन्त प्रच्छन होता है। उसका परिज्ञान अत्यन्त कठिन है। इसीलिए वंश- परम्पराकी रक्तामें बड़ी सावधानी की आवश्यकता बतलाथी भयी है। इस तरह किसी भी ब्राह्मण के ब्राह्मणत्व का ज्ञान कठिन ही है, किन्तु उस ब्राह्मण की पूर्व-वंशपरम्परा के प्रवर्म्सण्यों (जो कि निःसन्देह ब्राह्मण हैं) का नाम लेकर अनुमन्त्रण करने से यजमान ब्राह्मणमें उक्त शंका नष्ट हो जाती है। इसीसे कहा जाता है कि "श्रब्राह्मणों ब्राह्मणों भवति प्रवरानुमन्त्रण से अब्राह्मण भी ब्राह्मण हो जाता है) यह भी प्रवरानुमन्त्रण की प्रशंसा ही है। वस्तुतः अब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हो सकता।

इसी तरह गर्ग-त्रिरात्रवेदन में भी "शोभतेऽस्य मुखं" इत्यादि से प्रशंसा की गयी है। अर्थात पद-वाक्य-प्रमाणों से ही विद्वानों के मुख की शोभा होती है। वर्ण-गठन, चमक आदि स्त्रियों के मुख की शोभा है। इसी तरह पूर्णाहुति से सब कामोंको प्राप्ति होती है, इसका भी यही अभिप्राय है कि पूर्णाहुति के बिना यज्ञ का फल ही नहीं होता। पूर्णाहुति होने से उस यज्ञ के सब फल प्राप्त होते हैं। जैसे 'सब ब्राह्मणों को खिलाओ' यहाँ सर्वपद निमन्त्रित ब्राह्मणपरक ही है, वैसे ही यहाँ भी सर्वपद तत्कतुसाध्य फलपरक ही है। सर्वथा स्तुति या निन्दा ही अर्थवादों का अर्थ है। इस तरह जब अन्तरार्थों में अर्थवादों का तात्पर्य ही नहीं, तब अन्तरार्थ के मिथ्या होने पर भी अर्थवादों के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं।

इसी तरह प्रहेलिका-वाक्यों के वाच्यार्थ मिथ्या होने पर भी इनका अप्रामाण्य नहीं होता, प्रत्युत पाणिडत्य ही सृचित होता है।

> "पर्वताग्रे रथो याति भूमौ तिष्ठति सारथिः। भ्रमंश्च वायुवेगेन पदमेकं न गच्छति॥"

> > —कुलालचक।

''पञ्चभत्त्रीं न पाञ्चाली द्विजिह्वा न च सर्पिणीं। श्यामास्या न च मार्जारी यो जानाति स पिष्डतः॥'

—लेखनी।

इन प्रहेलिका-वाक्यों का प्रामाण्य ही है। शब्दशिक के अनुसार प्रहेलिकाओं का भी अर्थबोध होता ही है, उन मिध्या अर्थबोधों से भी श्रोताओं के हृद्य में चमत्कार होता ही है। उनके वाक्यार्थों को न सममने से बालक लोग उनपर आचे में करते हैं; किन्तु वाच्यार्थ के मिध्या होने पर भी लच्यार्थ सत्य होने पर ये पहेलियाँ प्रमाण ही मानी जाती हैं। इसी तरह वैदिक अर्थवाद का वाच्यार्थ मिध्या होने पर भी निन्दा और स्तुतिरूप लच्यार्थ सत्य ही है। 'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्यादि अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर कोई वेद को मृठा बतलाने लगता है। कोई-अर्थवादों को देखकर वाच्यार्थ की सत्यता का आप्रहकर आचेपकों को कोई उसके वाच्यार्थ की सत्यता का आप्रहकर आचेपकों को परितक कहने लगते हैं। किन्तु इसमें अर्थवादों का दोष नहीं, नास्तिक कहने लगते हैं। किन्तु इसमें अर्थवादों का दोष नहीं, नास्तिक कहने लगते हैं। किन्तु इसमें अर्थवादों का दोष नहीं, नास्तिक कहने लगते हैं। किन्तु इसमें अर्थवादों का दोष नहीं,

देवता प्रसन्न होते हैं। कोई अर्थवाद सत्य गुगा-दोष द्वारा स्तुति-तिन्दा करते हैं, कोई आरोपित गुगा-दोष द्वारा। फिर भी निष्फल कर्मी या परिश्रम से न्यून फलवाले या अनिष्ट फलवाले कर्मों में कभी प्रवृत्त नहीं कराते और इष्ट फलवाले कर्म से कभी निवृत्त नहीं कराते। जैसे माता, पिता गुरुजन अपने पुत्र या शिष्य को किसी शुभकर्म में अधिक गुगावर्णन करके प्रवृत्त करायें और किसी निन्दाकर्म में अधिक दोष-वर्णन करके भी उससे निवृत्त करायें, तो भी वे हितचिन्तक ही समसे जाते हैं, वश्चक नहीं। यही स्थिति अर्थवादों की भी है।

उत्तरमीमांसकों को भी ये बातें मान्य हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जहाँ एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध होता है, वहाँ लोकानुसार दोनों वाक्य पृथक्-पृथक् अपने-अपने पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध का बोध कराकर अपने-अपने वाक्यार्थ में समाप्त हो जाते हैं। पश्चात् किसी कारण से प्रयोजन की अपेत्ता होने पर उन वाक्यार्थों में परस्पर सम्बन्ध की कल्पना होती है। जैसे—"वायुवैं चेपिष्ठा देवता, बायब्यं श्वेतमालभेत" इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता होती है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इस वाक्य से समस्त वेदराशि की पुरुषार्थ-साधकता सिद्ध है। ऐसी स्थित में "वायुवैं चेपिष्ठा" इत्यादि वाक्य केवल अपना वाच्यार्थबोध कराकर उपरत न होंगे, किन्तु लहाणा- वृत्ति से वायु-यहारूपी विधेय की प्रशंसा करके पुरुषार्थ के साथक होते हैं।

"गङ्गायां घोषः" इस स्थल में लच्चणा भी गङ्गासम्बन्धी तीर में ही होती है, समुद्र-तीर में नहीं। कारण शक्यसम्बन्धी में ही तच्या होती है। अतः यदि अर्थवादों का शक्यार्थ विविद्यत ही न हो, तो तत्सम्बन्धी में लच्चाा भी कैसे होगी? अतएव जो प्रमागान्तर से विरुद्ध अर्थवाद हों, उन्हें केवल स्तुत्यर्थ मानना युक्त है। जैसे 'त्रादित्यो यूपः' यजमानः प्रस्तरः' (त्र्यादित्य के सदश यूप है, कुशा की आंटी यजमान है) इत्यादि। जहां अथ-वाद से प्रमाणान्तरसिद्ध अर्थ निकलता है, वह अर्थवाद 'अनुवाद्क' समभा जाता है। यद्यपि प्रत्यत्त, अनुमान के समान परस्परानपेच दोनों ही स्वतन्त्र प्रमाण समके जाते हैं, फिर भी साधारण लौकिक प्राणी को पहले प्रत्यचादि प्रमाणों से ही अर्थज्ञान होता है, आम्नाय से पीछे ज्ञान होता है। अतः प्रत्यचादि सिद्ध अर्थं का प्रतिपादक अर्थवाद अतु-वादक ही है। जैसे 'श्रग्निर्हिमस्य भेषजम्' (श्राग्न जाड़े की श्रीषध है)।

यहां सन्देह होता है कि 'जैसे अद्वैतबोधक वाक्यों का प्रत्यज्ञादि प्रमाणों से विरोध होने पर प्रत्यज्ञादि प्रमाणों का बाध हो जाता है, वैसे ही 'श्रादित्यो यूपः' इस अर्थवाद से आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष का बाध हो सकता है, आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष का बाध हो सकता है, आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष का बाध हो सकता है, आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष का बाध हो सकता है, आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष का बाध हो सकता है, आदित्य और यूप के भेदग्राहक प्रत्यक्ष को गौणार्थक क्यों माना जाता किर ऐसा न कर अर्थवाद को गौणार्थक क्यों माना जाता है कि लोकानुभव के अनुसार है ?' इसका समाधान यह है कि लोकानुभव के अनुसार राब्दों के अर्थ दों प्रकार से होते हैं—एक द्वार और दूसरा राब्दों के अर्थ दों प्रकार से होते हैं—एक द्वार और दूसरा

द्वारी। पदों के पृथक्-पृथक् वाच्यार्थं द्वार होते हैं और वाक्यार्थं द्वारी होता है। उसीमें वक्ता का तात्पर्य होता है।

जहां दो वाक्यों की एकवाक्यता होती है, वहाँ भी एक वाक्यार्थ द्वार और दूसरा द्वारी होता है। जैसे-"इयं गीः क्रेतव्या" (यह गाय खरीदने लायक है) "बहुचीरा" (बहुत दूघ देनेवाली है) यहाँ बहुचीरा प्रतिपादन द्वार है, क्रेतव्या द्वारी है; क्योंकि खरीदने में ही वक्ता का तात्पर्य है।

द्वाररूपी अर्थ का यदि प्रमाणान्तर से विरोध हो, तो उस वाक्य को ही दबाकर उसका गौग अर्थ किया जाता है। जैसे शत्रुगृह-भोजन-वारण प्रसंग में कहा जाता है—"विषं भुद्व" जहर खाओ। किन्तु यह लौकिक विवेक के विरुद्ध है। अतः 'शत्रुगृहे मा भुङ्क्व' इस वाक्यार्थ में ही वक्ता का मुख्य तात्पर्य है। विषमन्त्रणरूप वाक्यार्थ केवल द्वार है, अतः उसका गौण अर्थ लेना चाहिए। अतएव उसका अर्थ होता है कि शत्रुगृह-भोजन विषमोजन के तुल्य है। जब द्वारी अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध होता है, तभी लौकिक वाक्य अप्रमाग होते हैं। इसी तरह 'श्रादित्यो यूपः' इत्यादि अर्थवादों का द्वार-अर्थ प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, अतएव वह गुणवाद माना जाता है। किन्तु वेदान्त-वाक्य तो अपौरुषेय होने से स्वतःप्रमाण हैं। उपक्रमादि षट्-लिङ्गों से ब्रह्माद्वेत ही उनका द्वारी अर्थ है। अतः उनसे विरोध होने पर प्रत्यचादि को ही वास्तविक प्रमाण न मानकर व्याव-हारिक दशा में उनका प्रामाण्य माना गया है।

जिन अर्थवादों के द्वाररूप अर्थ में प्रमाणान्तर का विरोध नहीं, उनके द्वारभूत अर्थ भी सत्य ही है। जैसे—"इंद्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" (इन्द्र ने वृत्र के लिए वज्र उद्यत किया)। इस तरह भी इनकी अनादिता सिद्ध है।

इन प्रमाणों से वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर "वाचा विरूपनित्यया', 'श्रनादि-निधना नित्या', 'श्रत एव च नित्यत्वम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-सुत्रों से भी वेदों की नित्यता अनादि सिद्ध होती है। उत्पत्ति-प्रतिपादक वचनों का केवल आविर्भाव ही अर्थ है, यह सब विषय ऊपर कहा ही जा चुका है।

प्रथम भाग समाप्त



स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा लिखित ग्रंथ

१—भगवत्तत्त्व	811)
२—हिन्दू कोड बिल : प्रमाण की कसौटी पर	१॥)
३—संघर्ष और शान्ति	१॥)
४—जाति, राष्ट्र श्रौर संस्कृति	II)
४—गम्भीर विचार की आवश्यकता	11)
६—ग्रन्य राजनीतिक दल श्रौर रामराज्य-परिषद्)
७—वेद्-प्रामाएय-मीमांसा (संस्कृत)	(}
प्रमार्क्सवाद और रामराज्य	8)
६-शांकर-भाष्य पर श्राचेप श्रीर उनका समाधान	(अप्राप्य)
१०-वर्णाश्रममर्थादा और संकीर्तन	(अप्राप्य)

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

श्री धर्मसंघ शिचा-मगडल, दुर्गाकुगड, वाराणसी

आर्यभूषण प्रेस, बह्याघाट, वाराणसी में मुद्रित